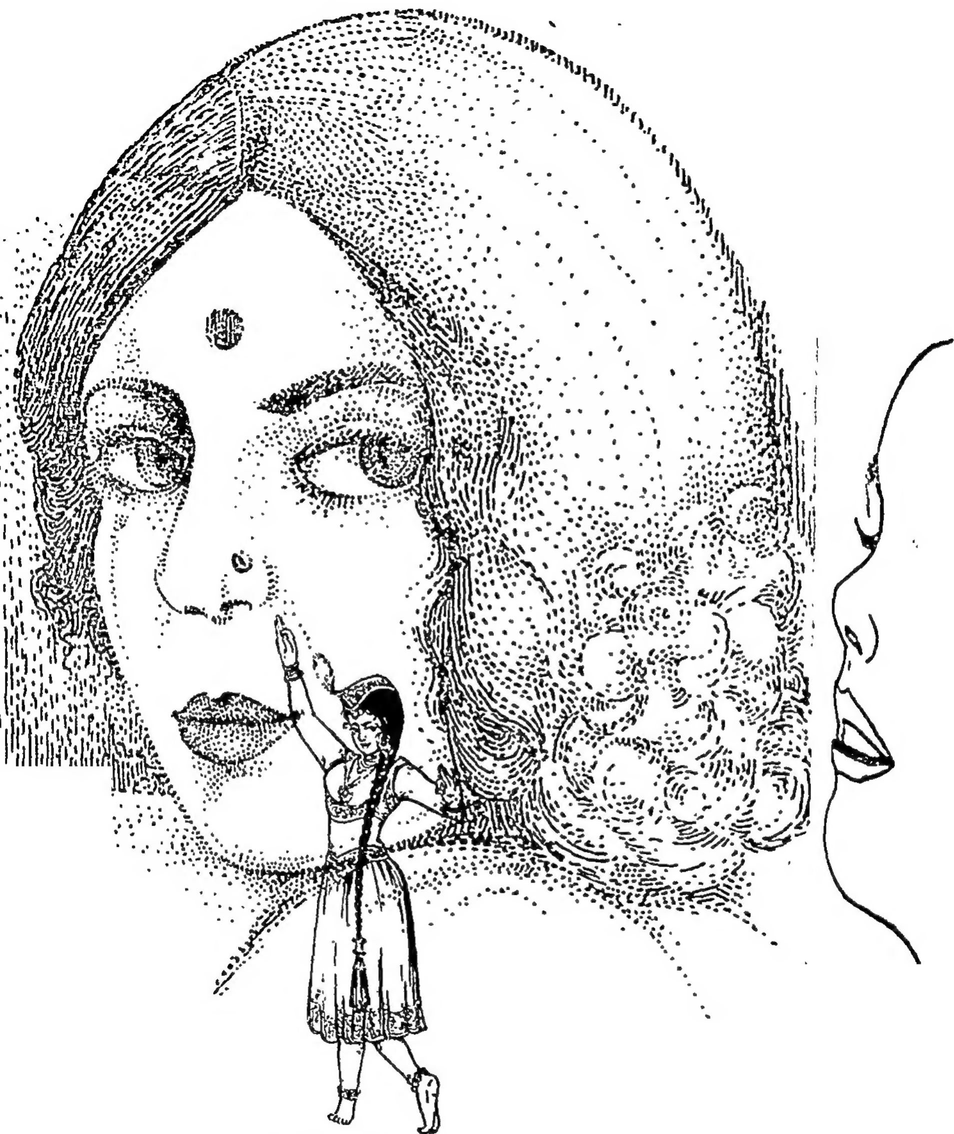


वंशवृक्ष

राज्य साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत



अपोलो प्रकाशन, जयपुर-३

वंशवृक्ष



१

१९२४ में कपिला नदी में भयंकर बाढ़ आई थी। नंजनगूड़ की जनता ऊँचे स्थानों पर बसने लगी। किन्तु श्रीनिवास श्रोत्रिय का घर अभी तक राजमहल की सड़क पर है। पर देवालय के आसपास जो पाठशाला, नारायणराव का भण्डार, दूकानें हैं, उनका महत्त्व कुछ घट चला है।

बुजुर्गों का बना पुराना घर छोड़कर नये स्थान में जाना सरल नहीं है। श्रीनिवास श्रोत्रिय के लिए तो इसकी कल्पना भी असम्भव है। कपिला ने उन्मत्त हो, अपने को विस्तारित कर प्रचण्ड वेग से लगातार पाँच दिन तक पूरे नगर को संत्रस्त कर दिया था। जिस तरह मंद-मधुर संगीत अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर अर्थात् नाद-लय-ताल में लीन होता है, उसी तरह कपिला अपनी शांत गति से प्रबलतम गति तक पहुँच गई थी।

शुद्ध श्वेतवर्णी कपिला मानों अब लाल चुनरी ओढ़कर चली जा रही थी। सभी उस रूप से भयभीत हो उठे थे। अपने सम्पूर्ण कल्मष को एक बारगी ही धो देने का संकल्प करके जैसे वह अट्टहास कर रही हो। कितने लोग इस प्रलयंकर बाढ़ के ग्रास बने, कितने मकान उसमें धराशायी हुए, कितने परिवार निराश्रित हुए—इन सबका स्पष्ट चित्र किसी को दिखाई नहीं दे रहा था।

श्रोत्रियजी के घर में भी घुटनों पानी भर आया था। इस हानि के लिए सारे गाँव ने नदी को कोसा, लेकिन श्रोत्रियजी ने ऐसा नहीं किया। 'गंगेच यमुने चैव' का उच्चारण करते हुए उन्होंने घर की देहली के पास ही डुबकी लगाई। उस घर को छोड़ जाने का आग्रह उनके साठवर्षीय पुत्र नंजुड, पत्नी भागीरम्मा, नौकरानी लक्ष्मी—तीनों ने किया था। लेकिन श्रोत्रियजी न माने। उन्होंने कहा—"इतने बरसों से जो माता

संरक्षण देती आई है; अब उसके थोड़ा-सा उग्र रूप धारण कर लेने पर क्या भाग जायें? ऊपर की मंजिल पर चूल्हा जलाकर खाना पका लो।

बाढ़ उतरी। प्रवाह धीमा पड़ गया। नदी फिर नियत स्वरूप के अनुसार निरन्तर बहने लगी। किन्तु अब हर साल बाढ़ की वजह से नदी के आसपास के गाँवों को काफी क्षति पहुँचने लगी।

श्रीनिवास श्रोत्रिय का पुत्र नंजुंड श्रोत्रिय बड़ा हुआ। मैसूर के कालेज में पढ़ने लगा। माता-पिता ने कात्यायनी के साथ उसका विवाह कर दिया। एक बालक जन्मा। बालक छह माह का था कि बाढ़ में नंजुंड की मृत्यु हो गई। कपिला ने उसे निगल लिया। वह तैरना जानता था, प्रवाह के विरुद्ध संघर्ष की शक्ति भी उसकी बाँहों में थी। पिता के समान ऊँचा हृष्ट-पुष्ट, गौर वर्णीय, आजानुबाहु; विशाल माथा था उसका, लेकिन नदी की विकरालता के सम्मुख उसकी न चली। वह उमड़-घुमड़ कर बहनेवाली उस नदी में तैरने नहीं, बल्कि सतर्क होकर मणिका घाट में स्नान करने उतरा था। पैर फिसला। किनारे लगने के उसके सारे प्रयत्न विफल हुए। किनारे पर खड़े लोग चिल्लाने लगे। उसने भी आवाज दी, लेकिन देखते ही देखते भँवर में फँस गया। बहुत खोजने पर भी शव का पता न लगा। चार-पाँच दिन बाद पानी उतरा। नदी किनारे ही उसका अन्तिम संस्कार कर दिया गया।

छह महीने बीत गये।

इकलौते पुत्र की अकाल मृत्यु से माता-पिता को होने वाली चिंता अधिक हैं या बीस साल की उम्र में ही पति को असने वाली उसकी प्रेममयी पत्नी की चिन्ता? एक के दुःख को, दूसरे की नजर से आँकना असाध्य कार्य है। पुत्र-वियोग से माँ एक ही महीने में बूढ़ी हो चली। वह समझ ही नहीं पा रही थी कि बेटे की मृत्यु के लिए रोये या नई बहू को देखकर तरस खाये अथवा निश्चिंत मुस्कराते, निद्रामग्न एक वर्षीय पौत्र को देख छाती पीट ले। निरन्तर रोती रहती। पुत्र की याद आने पर पौत्र को उठा लेती। आँखें भर आतीं। पास खड़ी बहू सिसक-सिसक कर रो उठती। सास स्वयं धीरज धर, बहू को सीने से लगा लेती। सुख-दुःख

से अनजान बच्चा हँसता ही रहता । सास-बहू को सान्त्वना प्रदान करने-वाला वही तो था ।

एक दिन दोपहर को कोई दो बजे कात्यायनी ऊपरी मंजिल के कमरे मे पालने के पास बैठी थी । पालने मे बच्चा सो रहा था । मन अतीत के बारे में सोच रहा था । शादी हुए केवल दो ही साल हुए हैं । प्रिय और जी-जान से प्यार करने वाला पति, देव-तुल्य सास-ससुर और सारे घर को चाँदनी-सी चमक देने वाला पुत्र—अर्थात्, किसी भी बहू को सन्तुष्ट करा देने वाला परिवार मिला । ससुर के सात्विक स्वभाव, वेद-शास्त्रों के अगाध ज्ञान ने इस परिवार को समाज में विशेष गौरवान्वित किया था । कात्यायनी को पति का हँसता हुआ चेहरा, उसका प्रेममय स्वभाव सदा आनंद देते थे । उसे और चाहिए भी क्या था ? इस सब पर उसे अभि-मान भी था । और अब छह महीने पहले, एक दिन कपिला ने उसके सुखी संसार को सदा के लिए नष्ट कर दिया । उस दिन से आज तक उसने जो आँसू बहाये, वे कपिला के बहाये पानी से कम न थे ! उसके मन में कभी-कभी जीवन के अर्थ को लेकर प्रश्न उठते । लेकिन इन सबको उस की बुद्धि पकड़ न पाती । कात्यायनी ने इन्टरमीडिएट पास किया था । साहित्यकारो के जीवन-सबधी विचारो को पढा था । उसने उन विचारो को मन मे उलटाया-पुलटाया, किन्तु कोई भी उसे अपनी इस घोर विपत्ति का कारण नहीं समझा पाया । सीढ़ियो पर किसी के आने की आहट सुनाई पड़ी । कात्यायनी ने मुड़कर देखा । ससुर आ रहे थे । बच्चा सोया था, फिर भी सिर कुछ झुकाकर पालना झुलाने लगी । श्रोत्रियजी विचार-मग्न थे । उन्होंने बहू को नही देखा । सीधे दूसरे कमरे में चले गये । यह कमरा उनका ग्र थालय था । कमरे मे पाडुलिपियाँ, छपे ग्र थ और उन्ही के हाथ की लिखी कुछ पुस्तकें है । एक स्थान पर स्याही और लेखनी रखी है । खिडकी के पास बाघ-चर्म बिछा है, जिस पर तकिया रखा है ताकि दीवार मे टिककर बैठ सकें । सामने व्यासपीठ है । कम-से-कम तीस साल से इस कमरे मे वे वेद-शास्त्र, पुराण, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद आदि का अध्ययन कर रहे हैं । पुत्र की मृत्यु से लेकर उसकी उत्तरक्रिया तक वे इस कमरे में नही आये । सब समाप्त होने के पश्चात् भी एक-दो सप्ताह तक इस कमरे मे प्रवेश नही किया था । पत्नी और बहू

को सान्त्वना देते हुए उनके साथ ही रहते थे। अब पूर्ववत् अध्ययन कक्ष में आने लगे हैं। पत्नी भागीरतम्मा नौकरानी लक्ष्मी के साथ रहतीं। कभी-कभी बहू के पास बैठ जातीं। वे पुत्र की याद करके आँसू बहाती रहतीं, तो कात्यायनी पति का स्मरण करके। नौकरानी जो भागीरतम्मा की उम्र की थी, चुपचाप तड़पती रहती। लेकिन कात्यायनी ने ससुर की आँखों में कभी एक बूँद आँसू भी नहीं देखा। वह जानती है कि वे पाषाणहृदय नहीं हैं, लेकिन उनकी सहन शक्ति की गहराई उसकी ग्रहण शक्ति की पकड़ के परे थी।

शाम होने आई, बच्चा अभी तक सो रहा था। कात्यायनी का मन अपार चिंताओं में डूबा था। पीछे खड़े ससुर की पुकार, उसे ऐसी लगी मानों कोई दूर से आवाज दे रहा है—'बेटी'!

कात्यायनी ने मुड़कर देखा। श्रोत्रियजी सीढ़ी के पास खड़े हैं। वह उठ खड़ी हुई। नीचे उतर रहे श्रोत्रियजी फिर ऊपर आ गये और पास के ही खम्भे के पास बैठकर कहने लगे—"बैठो बेटी!"

कात्यायनी सिर झुकाकर मूक-सी बैठी रही। जब से घर की बहू बनकर आई है, तब से उनमें पिता-पुत्री का-सा व्यवहार है। लेकिन पति की मृत्यु के पश्चात् वह उनसे भी नहीं बोल पाती थी। अतः श्रोत्रियजी ने ही पूछा—"बेटी, जैसा कि मैंने कहा था, तू भगवद्‌गीता पढ़ती है न?"

कात्यायनी ने कोई उत्तर नहीं दिया। दो मिनट बाद उन्होंने प्रश्न दोहराया, तो कहा—"पढ़ने की कोशिश की, किन्तु समझ नहीं पाती। और फिर मन भी नहीं लगता।"

"जो समझ में आये, उसी से सन्तुष्ट हो जाना चाहिए। धीरे-धीरे सब समझ में आ जायेगा।"

एक क्षण चुप रहकर कात्यायनी ने कहा—"भगवद्‌गीता का वेदांत मेरी समझ के परे है। मेरे दुःख को दूर करने की शक्ति किसी वेदांत में नहीं है। पढ़ने से क्या लाभ?"

श्रोत्रियजी ने विषाद से हँसकर सान्त्वना के स्वर में कहा—"यह सच है कि हर एक को अपने दुःख का अनुभव स्वयं करना पड़ता है। कोई ग्रंथ या व्यक्ति उसे अपने ऊपर नहीं ले सकता। लेकिन इन ग्रंथों से मालूम होगा कि इस महान जगत की घटनाओं के साथ तुलना करने पर

हमारा दु:ख कितना छोटा है। इस दु:ख को सहना तभी सरल होगा जब हम समझ जायेंगे कि वह भी भगवान की इच्छा का एक अंश है। इसलिए कहता हूँ कि ध्यान देकर पढ़ो...।"

श्रोत्रियजी कह ही रहे थे कि बच्चा जाग उठा। शायद नींद पूरी नहीं हुई थी, वह रोने लगा। "बच्चे को शांत करो"—कहकर वे नीचे चले गये। कात्यायनी बच्चे को दूध पिलाने बैठ गयी। बच्चा शांत हुआ। जब उसे पति की याद आने लगती, वह बच्चे को छाती से और अधिक चिपका लेती। मन कुछ हलका होता। इसके अलावा अब और किसका आसरा है उसे।

दूध पी चुकने के बाद बालक खेलने लगा। और माँ के चेहरे को नाखूनों से नोच नोंचकर हँसने लगा। एक बार पूरे घर को गुंजाता-सा जोर से हँस पड़ा। हँसी सुनकर दादा ने पुकारा—"चीनी।"

कात्यायनी बालक को लेकर नीचे आई। श्रोत्रियजी बालक को अपने कंधे पर बिठाकर घर के पीछे बाड़े में चले गये। कात्यायनी रसोईघर में चली गई। सास रसोई में लगी थी। कात्यायनी चुपचाप खड़ी रही। बहू को देख, सास ने कहा—"बेटी, तू अकेली मत बैठ। जितनी अकेली रहेगी, उतनी ही अधिक चिन्ता होगी। मेरे पास, कभी लक्ष्मी के पास बैठ जाया कर। कुछ बोलती रहा कर। गाय-बछड़ों के काम में लग जाया कर। कुछ-न-कुछ करते रहना चाहिए। इससे थोड़ा तो भूलेगी। यों खड़ी क्यों है, बैठ जा।" फिर वह अपने काम में जुट गई। कुछ याद कर कहा—"नहीं, बैठकर अंगीठी की ओर ध्यान रख। कुछ उबले तो मुझे आवाज देना। मैं भगवान की पूजा की तैयारी करके आती हूँ। उनके आने का समय हो चुका है।" वह देवपूजा के कमरे में चली गई।

साँय सध्या-देवार्चना समाप्त कर श्रोत्रियजी जब पूजागृह से बाहर निकले, तब रोज की तरह रात के आठ बज चुके थे। पूजागृह से सीधे घर के पिछवाड़े सध्या-वदन की सामग्री को केले के पौधे के पास डालकर, पुनः जब पूजागृह की ओर जाने लगे तो कात्यायनी ने कहा—"मैसूर से डॉ० सदाशिवराव आये हैं, दीवानखाने में बैठे हैं।"

"कितनी देर हुई ?"

"करीब दो घंटे हुए होंगे। आप तब संध्या-वंदन के लिए बैठे ही थे।"

और वेदमंत्रों का पाठ न कर, पूजा के पात्रों को भीतर रखकर श्रोत्रियजी बाहर आये। डॉ० सदाशिवराव करीब पैंतीस वर्ष के हैं। आँखों पर चश्मा चढ़ा है। सिर के काफी बाल सफेद हो गये हैं। और लगता है कि वेशभूषा की ओर ध्यान कम ही दिया गया है। वह दीवानखाने में एक कुर्सी पर बैठ संस्कृत की कोई पुस्तक देखने में मग्न थे। श्रोत्रियजी की आवाज पर ही आँखें ऊपर उठाईं। "आपको आये काफी देर हुई—प्रतीक्षा करनी पड़ी—क्षमा करें।"

"आप बड़े हैं। क्षमा की बात ही क्या ? मुझे और कोई काम भी तो नहीं है, फिर मैं तो अवकाश लेकर आया हूँ।"

कुर्सी पर बैठते हुए श्रोत्रियजी ने पूछा—"आपका ग्रंथ कहाँ तक पूरा हुआ ?"

"वह प्रकाशित हो चुका है। लंदन के एक प्रकाशक ने प्रकाशित किया है। आपको उसी की प्रति भेंट करने के लिए आया हूँ।"—कहकर सदाशिवराव ने थैली से एक पुस्तक निकालकर श्रोत्रियजी को दी। सैकड़ों पृष्ठों का सुन्दर ग्रंथ—'प्राचीन भारतीय राजतन्त्र को धर्म की देन।' श्रोत्रियजी ने पहला पन्ना पलटा, कन्नड़ में लिखा था—"पूज्य श्रीनिवास श्रोत्रियजी को भक्तिपूर्वक...सदाशिवराव।"

उसे देखकर श्रोत्रियजी ने पूछा—"इतना गौरव ?"

इस ग्रंथ के मार्गदर्शक आप ही हैं। इससे संबंधित अनेक विषयों को आपसे ही जाना था। शंकाओं का आपने ही निवारण किया था। भूमिका में इनका उल्लेख भी मैंने किया है।"

श्रोत्रियजी को अंग्रेजी का साधारण ज्ञान ही था। बैंक का चेक, अता-पता लिख देने लायक कामचलाऊ अंग्रेजी जानते थे। उन्होंने कहा—"आपने इतना बड़ा ग्रंथ लिखा है, मैं तो ठीक तरह से अंग्रेजी पढ़ भी नहीं पाता। मेरी बहू पढ़ेगी।" उसे रखकर कहने लगे, "अच्छा अब हाथ-मुंह धो लीजिए, भोजन से निश्चित होकर बातें होंगी।"

भोजन के लिए दोनों रसोईघर और पूजाघर के आंगन में बैठ गये।

भागीरतम्मा परोस रही थी। एक-दो कौर खाने के पश्चात् डा० सदाशिवराव ने अचानक पूछा—"अरे, नजुंड श्रोत्रिय दिखाई नहीं पडा?"

श्रोत्रियजी क्षण-भर को विचलित हुए; फिर अपने को सँभालते हुए कहा—"भोजन कर लें, फिर बताऊँगा।"

डॉ० राव श्रोत्रियजी के स्वर्गीय पुत्र के गुरु हैं। जब नजुंड बी० ए० में था, तब वे इतिहास पढ़ाते थे। इसी निमित्त परिचय हुआ और वे श्रोत्रियजी के पाण्डित्य का लाभ उठाने लगे। श्रोत्रियजी की ये बातें सुनकर उन्हें खटका हुआ। शाम को जब वे यहाँ पहुँचे थे तब द्वार कात्यायनी ने ही खोला था। वे उसकी शादी में भी गये थे। एक-दो बार यहीं उससे बातें भी की थी। वह भी उनसे निस्संकोच बात करती थी। लेकिन आज वह "बैठिये, अभी सध्या-वदन के लिए गये हैं, एक घटा लगेगा" कहकर, सिर झुकाकर भीतर चली गई थी। डॉ० राव सध्या की धुँधली रोशनी में उसके मुख को स्पष्ट नहीं देख पाये थे।

भोजन के बाद वे दोनों बैठक में गये। पान की तश्तरी सामने रखी थी। श्रोत्रियजी ने कहा, "पान लीजिए, मैंने खाना छोड़ दिया है।" "क्या नजुंड श्रोत्रिय गाँव में नहीं है?"—डॉ० राव ने चार पान चबाते हुए पूछा।

"नहीं"—श्रोत्रियजी ने शात स्वर में कहा—"आपके शिष्य को कपिला ने निगल लिया। पिछले ज्येष्ठ में पैर फिसल गया था। किनारे पर न आया, तो नहीं ही आया।"

सुनकर डॉ० राव को बडा आघात लगा। श्रोत्रियजी हँसी में भी अमगल बोलने वाले व्यक्ति नहीं हैं। फिर भी तुरत विश्वास नहीं हुआ। वे अवाक्-से श्रोत्रियजी का चेहरा देखते हुए बैठे रह गये। शात स्वर में श्रोत्रियजी ने पुन कहा—"शिष्य के बारे में यह सुनकर आपको दुःख हो रहा है। आखिर सब सहना ही है। घर में बहू और एक साल का उसका बच्चा है। बच्चे को आशीष दें कि उसे आप-जैसे विद्वानों से शिक्षा मिले। अब बताइए आगे क्या करना चाहते हैं? आप-जैसे मेधावियों को चाहिए कि हमारे पूर्वजों का जीवन वर्तमान पीढ़ी के सम्मुख लायें। आपको आये करीब डेढ वर्ष तो हो ही गया होगा?"

श्रोत्रियजी के व्यक्तित्व के प्रति डॉ० राव को अपार विश्वास श्रद्धा

थी; लेकिन इकलौते पुत्र की मृत्यु का असह्य दुःख विसराकर श्रोत्रियजी इतने शांत रह सकते हैं—इसकी कल्पना भी उन्होंने नहीं की थी। ऐसी कल्पना का कोई अवसर भी कहाँ था। बेटे की मृत्यु के बारे में बात बढ़ाने की उनकी अनिच्छा जानकर डॉ० राव ने कहा, "मेरे इस ग्रंथ से मुझे पर्याप्त ख्याति मिली है। इसकी प्रशंसा में विदेशों से अनेक विद्वानों के पत्र प्राप्त हुए हैं। लेकिन मुझे अभी तृप्ति नहीं हुई है। 'प्राचीन भारतीय राजतन्त्र को धर्म की देन' विषय पर शोध करते समय, ऐसी सामग्री मिली है जिसके आधार पर प्राचीन भारत का समस्त जीवन प्रस्तुत किया जा सकता है। इसके अलावा इच्छा जागी है कि इस देश की सांस्कृतिक परम्परा का, पूर्वेतिहास से लेकर आज तक का वर्णन करूँ। यह ग्रंथ पाँच जिल्दों में लगभग पचास वर्षों में पूर्ण करने की योजना है। इस ग्रंथ के लिए आपका जो सहयोग और आशीर्वाद मिला, अगले ग्रंथों के लिए भी उसकी अपेक्षा है।"

इस बीच कात्यायनी ने पास ही दो विस्तर लगा दिये। ओढ़ने के लिए कंबल रख दिया था और पीने के लिए ताम्र-पात्र में पानी। वह भीतर चली गयी। विस्तर पर लेटने के बाद भी दोनों बातें करते रहे।

डॉ० राव बता रहे थे—"अनेकों ने इस देश का इतिहास लिखा, लेकिन वे सब राजनीतिक इतिहास हैं। सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से भी एक-दो ग्रंथ प्रकाश में आये हैं। लेकिन, मेरा दृष्टिकोण इन सबसे भिन्न है। भारत की संस्कृति में कला, राजनीति, दैनिक जन-जीवन, इन सब में धर्म का प्रवाह निरन्तर बहकर उन सबका पोषण करता है। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन आदि धर्मों के विकास से संस्कृति के स्वरूप में परिवर्तन हुआ। इसे सब जानते हैं। लेकिन मुगलों के आक्रमण के पूर्व जीवित इन तीन धर्मों के प्रभाव से इस देश का सांस्कृतिक भवन, अधिक उत्थान-पतन हुए बिना टिका रहा। क्योंकि इन तीनों धर्मों का अंतःसत्व, उद्गम एक ही है। इस्लाम धर्म का मूल संस्कृति पर क्या परिणाम हुआ, आधुनिक युग में वह किस दिशा में जा रहा है—इस दृष्टि से मैं खोज कर रहा हूँ। इसके लिए भारतीय धर्मशास्त्रों, दर्शनशास्त्रों, साहित्य आदि का अध्ययन आवश्यक है। कुछ ग्रंथ पढ़ लिये हैं, कुछ को आपके साथ पढ़ना पड़ेगा। इसमें आपसे ही

सहायता मिल सकती है।"

रात के बारह बज गये। दोनों वार्ता करने में तल्लीन रहे। ऐसे महान ग्रंथों के रचना-क्रम, बीच-बीच में आने वाली कठिनाइयों के संबंध में श्रोत्रियजी प्रश्न कर रहे थे। डॉ० राव ने कहा, "इस तरह संशोधक को काफी अवकाश चाहिए। एक-दो निष्णात सहायक मिल जायें, तो भाग्य ही समझना चाहिए। अनेक ग्रंथ हमारे पास नहीं हैं। इसके लिए देश के विभिन्न पुस्तकालयों में काफी समय बिताना पड़ेगा। मुख्य-मुख्य ऐतिहासिक स्थानों पर जाकर अपनी आँखों देखना और अध्ययन करना होगा। इन सबके लिए धन चाहिए। इस प्रकाशित ग्रंथ के साथ अपनी योजना के विवरण की अपील मैंने महाराज कृष्णराज ओडेयरजी को भेजी है। अगले सोमवार का मध्याह्न तीन बजे महाराज से मिलने का पत्र आया है। लगता है महाराज इस कार्य में मदद करेंगे।"

श्रोत्रियजी बड़ी आस्था से यह सब सुन रहे थे। नींद आयी, तब दो बजे थे।

नियमानुसार श्रोत्रियजी सुबह चार बजे उठ बैठे। घर से करीब सौ गज दूर गुंडल नदी की ओर गये। कृष्ण पक्ष था—चाँदनी नहीं थी। लेकिन आकाशी नक्षत्र मन में अनंत की कल्पना जगा रहे थे। प्रभात और से निवृत्त होकर लौटे। फिर बाड़े में गये। उन्हें आते देख गायें उठ खड़ी हुईं। उन पर हाथ फेरा, उन्हें खोला और बाहर बाँधकर जब वे भीतर आये तो भागीरतम्मा भी जाग उठी थी। एक अँगोछा और एक पात्र लेकर श्रोत्रियजी देवालय के सम्मुख स्थित मणिकर्णिका घाट गये। कपिला शांत षड्ज श्रुति-सी बह रही थी। नदी में स्नान किया, कपड़े धोये। पात्र में जल भरा। लौटते वक्त तक नित्य की भाँति वातावरण में पक्षियों का कलरव भर चुका था। इस बीच भागीरतम्मा ने स्नान करके पूजाघर सँवार दिया था और पूजा की तैयारी कर दी थी। श्रोत्रियजी पूजाघर में प्रविष्ट हुए।

डॉ० राव उठे तो आठ बजे थे। रोज ही इस समय उठते हैं। रात को दो बजे से पहले कभी सोते नहीं। उठकर कुर्सी पर बैठे कि कात्या-

यनी ने आकर कहा, "पूजा कर रहे हैं, मंगलारती होने ही वाली है; आप भी स्नान कर लीजिए—पानी तैयार है।"

स्नान के पश्चात् डॉ० राव पूजाघर के द्वार पर खड़े हो गये। उन्हें मंगलारती और तीर्थ दिया गया। उसी दिन दोपहर तक उन्हें मैसूर लौटना था। दोपहर का भोजन हुआ। श्रोत्रियजी ने भीतर से तांबूल की तश्तरी सामने रखते हुए कहा—"इसे स्वीकार करें।" तश्तरी में तांबूल और उस पर एक नारियल रखा था। पास ही एक लिफाफा। देखते ही वे समझ गये कि इसमें पैसा है। एक कदम पीछे हटकर कहा —"आपके आशीर्वादस्वरूप इस फल को लेने से मैं इन्कार नहीं करूँगा, लेकिन इस लिफाफे को स्पर्श नहीं करूँगा।"

श्रोत्रियजी ने कोमल स्वर में कहा—"आप एक महाग्रंथ की रचना में लगे हैं। उसके लिए पैसे चाहिए ही। भगवान का दिया हुआ जो-कुछ इस परिवार में बचता है, उसका सदुपयोग ऐसे कार्यों के लिए न हो तो वह किस काम का? आप लीजिए।"

"मैं आपसे कुछ दूसरी अपेक्षा रखता हूँ—इसकी नहीं।"

"सहायता करने वाला मैं कौन होता हूँ? आप चाहे जब आइए। लेकिन यह ले लीजिए। यह मैं आपको नहीं दे रहा हूँ। देनेवाला भी मैं नहीं हूँ। पैसे तो ऐसे सद्कार्यों के लिए ही हैं! शास्त्र-वचन है कि किसी धर्म-कार्य के लिए, किसी के द्वारा दी गई भेंट, दाता अगर लोभवश बेमन से देता हो, अथवा अपने बच्चों को भूखा मारकर देता हो, या वह कमाई अन्याय की हो तो ऐसी मदद न लें। इस भेंट को अस्वीकार करना भी अधर्म है।"

यह सुनकर डॉ० राव को बड़ा संकोच हुआ। तांबूल की तश्तरी स्वीकार की। भागीरतम्मा से कुछ कहकर, कात्यायनी को सान्त्वना दी और दोपहर बाद रवाना हुए।

रेल नंजनगूडू से आगे निकल जाने के बाद कुतूहलवश उस लिफाफे को खोलकर देखा तो अवाक् रह गये। सौ-सौ के दस नोट थे।

मैसूर पहुँचने से पहले ही उन्होंने निश्चय कर लिया था कि इन रुपयों का सदुपयोग किस तरह किया जाये: दो सौ रुपये का एक नया टाइप-राइटर, लगभग तीन सौ रुपये की नितान्त आवश्यक ऐसी किताबें, जो

विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में अनुपलब्ध हैं, और शेष रुपये शोध-कार्य के सिलसिले में प्रवास के लिए।

२

डॉ० सदाशिवराव सुबह नौ बजे उठे। पिछली रात ग्रंथ में जहाँ-जहाँ निशान लगाये थे, इस समय फिर उन्हें देख रहे थे। सुबह उठते ही काफी पीने की उनकी आदत नहीं है। जब भी पत्नी काफी या नाश्ता लाती, ले लेते। स्वयं कहकर उन्होंने कभी कुछ नहीं खाया-पिया।

पढ़े हुए ग्रंथों की अनेक बातों में वे सहमत नहीं हो पाते थे। अपने ग्रंथ में उनका उल्लेख करके वे उनकी सदोषता भी सिद्ध करना चाहते थे। वे विगत युग के दो हजार वर्ष के जीवन की कल्पना कर रहे थे कि पीछे से किसी ने उनके सिर पर ठंडा-ठंडा हाथ रख दिया। मुड़कर देखा...पत्नी है। बायें हाथ में तेल का लोटा था। दाहिने हाथ से एक चम्मच तेल डालकर वह उनके सिर में मलने लगी। हड़बड़ाते हुए उन्होंने पूछा—"सुबह उठते ही यह क्या कर रही है नागु ?"

उत्तर दिये बिना ही नागलक्ष्मी ने कहा—"नहीं समझे? उठिए, एक पुराना अँगोछा लपेटकर बैठ जाइए। शरीर पर तेल मल देती हूँ।"

"सिर में जितना डाल दिया, उतना ही काफी है! मगर आज सुबह-सुबह उठते ही यह क्या सूझा? तू समझती क्यों नहीं कि मेरे पास कितना काम है!"

नागलक्ष्मी ने हँसकर कहा—"सैकड़ों ग्रंथ आपके दिमाग में हैं। किस राजा की सेना में कितने बूढ़े हाथी थे, यह सब आपको कंठस्थ है। लेकिन पत्नी ने कल रात जो कहा, वह भूल गये! बताइए, कल रात मैंने क्या कहा था आपसे ?"

डॉ० राव याद करने लगे। लेकिन व्यर्थ। रात तीन बजे तक तीन

सौ पृष्ठों का जो ग्रंथ पढ़ा था, उसकी हर बात याद है। अंत में नाग-लक्ष्मी ने ही हँसकर कहा—"आपको याद नहीं आती ! आप-जैसे लोग पत्नी की ओर ध्यान ही कहाँ देते हैं। खैर छोड़िए, आज आपका जन्मदिन है। अभ्यंग स्नान करने और उसके बाद खीर खाने की बात मैंने कही थी। बुरा न मानिए, उठिए।"

स्नानगृह में पति के तेल मलते हुए नागलक्ष्मी ने कहा—"बाल सँवारते वक्त आपने कभी आइने में अपना सिर देखा है? सफेद बालों से भर गया है। आज आप चौंतीस के हुए। अभी से बुढ़ापा ! खैर, जाने दीजिए, यह बताइए कि आपकी पत्नी की उम्र कितनी है?"

डॉ० राव को हँसी आ गई। "कितनी भी हो, इतना पक्का है कि पैंतीस से कम ही है !"

"बड़े चतुर हैं आप ! जिसे पत्नी की चिंता नहीं, उसे पत्नी की उम्र की क्या परवाह ! मैं राज से दो महीने बड़ी हूँ। अभी पन्द्रह दिन पहले वह चौबीस का हुआ है। तो बताइए, मेरी उम्र कितनी हुई?"

"राज से दो महीने अधिक।"

"मजाक छोड़िए ! मैं आपसे कितने साल छोटी हूँ?"

"राज मुझसे जितने साल छोटा है उससे तू दो महीने कम।"

तेल लगे हाथ से पति की नाक धीरे से खींचते हुए नागलक्ष्मी ने कहा—"साफ-साफ बताना पड़ेगा; मैं आपको यों ही नहीं छोड़ूँगी। शरीर में तेल तो लगाने दीजिए। अब आप शरीर को मलते रहिए। मैं आपके लिए काफी बनाकर लाती हूँ। आज जब तक आप स्नान करके भगवान की पूजा नहीं करते, तब तक खाने के लिए कुछ नहीं दूँगी !"

नागलक्ष्मी रसोईघर में गयी। कल रात ही उसने घर की साफ-सफाई की थी। पूजा की तैयारी कर रखी है। अब भोजन-भर बनाना है। दस बज चुके थे। वह उसकी तैयारी कर ही रही थी, कि उसके चार साल के पुत्र पृथ्वी ने, जो पड़ोस के बच्चों के साथ खेल रहा था, आकर कहा—"माँ भूख लगी है।"

"आज तेरे पिताजी की वर्षगाँठ है। उनके स्नान के बाद ही खाने को मिलेगा। भूख लगी है तो यह खा ले।" उसने थोड़ा-कुछ खाने

को दे दिया। लड़का फिर खेलने चल दिया। अपना काम समाप्त कर नागलक्ष्मी स्नानगृह में गयी। डॉ० राव वहां नहीं थे। अध्ययन-कक्ष में देखा तो वे एक फटा-सा बोरा बिछाकर बैठे थे और पिछली रात पढ़े ग्रंथों से नोट उतार रहे थे। पास आकर नागलक्ष्मी ने कहा—"उठिए, साल के बारहों महीने पढ़ना तो लगा ही रहता है। आज सालगिरह का दिन खुशी-खुशी पत्नी-बच्चों के साथ बिताना चाहिए। चलिए, स्नान कर लीजिए और भोजन भी। चाहें तो थोड़ा लेट आइएगा। आज 'वसन्तसेना' नाटक देखने जायेंगे।"

"अवश्य जायेंगे। आज तो वही होगा, जो तू कहेगी। हां, अभी बजा क्या है?" फिर दीवार पर लगी घड़ी देखकर कहा—"अरे, साढ़े ग्यारह! चलो-चलो, जल्दी स्नान करा दो। तीन बजे महाराज से मिलना है।"

"सच, आपने मुझे तो बताया ही नहीं! बात क्या है?"

"शायद भूल गया। डायरी में लिख रखा था। उठो स्नान करा दो।"

"डायरी में—मैं अंग्रेजी तो जानती नहीं! मैं ठहरी निरी गँवार अनपढ़ लड़की!" वह पति की बांह थामे गुसलखाने में ले गई। गरम पानी डाला। सिर, पीठ, शरीर में साबुन मला और स्नान सम्पन्न होने पर भगवान की पूजा की। पति-पुत्र को प्रसाद दिया। तीनों ने भोजन किया; तब तक करीब डेढ़ बज चुका था। बर्तन धोने, और बचे हुए को ढककर नागलक्ष्मी पान की तश्तरी लेकर राव के अध्ययन-कक्ष में आई तो वे बाहर जाने लिए तैयार हो चुके थे। काला सूट, काली टाई, सिर पर पगड़ी बाँधकर वे बूट पहन रहे थे। देखते ही नागलक्ष्मी ने कहा—"अरे, यह क्या? आप तो निकल चुके! क्या आज पान भी नहीं खायेंगे? जल्दी ही तैयार कर देती हूँ, ठहरिए!"

"नहीं नागु, दो बजने को हैं। ठीक तीन बजे उनसे भेंट होगी। पान खा लूं तो पुनः मंजन किये बिना उनके सामने न जा सकूंगा।" कहकर बाहर निकल गये। तांबूल-पात्र मेज पर रखकर नागलक्ष्मी उनके पास आई और उनके दोनों हाथ अपने हाथों में लेकर कहने लगी—"मेरी तरफ तो देखिए।"

डॉ० राव निहारने लगे तो नागलक्ष्मी ने स्नेह-भरे स्वर में कहा—"जाकर जल्दी आइए। मैंने अभी-अभी भगवान की पूजा की है, महाराज ज़रूर आपकी सहायता करेंगे।"

डॉ० सदाशिवराव जब दस वर्ष के थे तभी उनकी माँ का दो बच्चे छोड़कर देहान्त हो गया था। इनके चचेरे मामा कुणिगलु रामण्णा ने ही राव और राज दोनों बच्चों को पाला-पोसा। दो साल बाद पिताजी भी स्वर्गवासी हो गये। लड़कों को पिता से कोई जायदाद नहीं मिली। राव, रामण्णा की पुत्री से दस साल बड़े थे। जब वह पाँच साल की थी तब राव पढ़ने के लिए मैसूर के अनाथालय में प्रविष्ट हुए। लेकिन नागलक्ष्मी और राज हमउम्र थे। आँख-मिचौनी आदि खेल तो साथ-साथ खेलते थे।

डॉ० राव चौबीस की उम्र में एम० ए० करके महाराज कालेज में इतिहास के प्राध्यापक बन गये और डॉक्टरेट की उपाधि के लिए अध्ययन करने लगे। नागलक्ष्मी से शादी कर लेने का आग्रह रामण्णा काफी दिनों से कर रहे थे। नागलक्ष्मी केवल चौदह की थी, लेकिन शरीर से सुन्दर, हृष्ट-पुष्ट और ऊँचे कद की थी। घर के काम-काज में कुशल। मिडिल तक की शिक्षा पूरी करना भी उसकी किस्मत में नहीं था। और अपने माता-पिता की तरह वह यह भी जानती थी कि लड़कियों को पढ़-लिखकर आखिर करना ही क्या है? अध्ययन में डूबे हुए राव शादी के बारे में सोचते भी नहीं थे मगर मामा के कहने पर शादी कर ली। मैसूर में घर बसाया। राज भी भाई-भाभी के साथ रहकर पढ़ता रहा। देवर-भाभी में जो स्नेह था, वह पति-पत्नी में भी नहीं था। सदाशिव पत्नी को चाहते न हों, सो बात नहीं थी। मगर, वे पढ़ाई-लिखाई, शोध आदि में ही तल्लीन रहा करते थे। शादी के छह वर्ष के बाद पुत्र पृथ्वी हुआ।

चार साल पूर्व रामण्णा स्वर्ग सिधार गये। एक वर्ष बाद उनकी पत्नी ने भी इस संसार से विदा ले ली। अब नागलक्ष्मी की बहन और बहनोई उनकी खेती-बाड़ी की देखभाल करते हैं।

अंग्रेजी साहित्य में एम० ए० होने के बाद राज को उसी कालेज में प्राध्यापक की नौकरी मिल गई। बाद मे इंग्लैंड मे अध्ययन के लिए छात्रवृत्ति भी मिली। अब दो बरस से, जब से वह ऑक्सफोर्ड गया है, नागलक्ष्मी का घर मे मन नही लगता। स्वभावत उसको कुछ अधिक बोलने की आदत थी। अध्ययन मे खोये रहने वाले पति, पुस्तकालयो मे जाते हैं तो सब-कुछ भूल जाते है। घर आते हैं तब भी अध्ययन-कक्ष मे रात के दो बजे बाद तक पढ़ने-लिखते रहते हैं। उन्हें विदेश में रहने वाले भाई को पत्र लिखने का भी समय नहीं मिलता। नागलक्ष्मी पत्र लिखती और वे उस पर अंग्रेजी मे पता लिख देते। ऑक्सफोर्ड में अध्ययन पूर्ण करके राज स्वदेश के लिए जहाज मे चढ़ चुका है। आज-कल में बम्बई आ जायेगा।

डॉ० राव के महाराज के मिलने जाने पर और कुछ काम न रहने के बाद वह नाटक देखने की तैयारी मे लग गई। वह सोचती रही—'महाराज मे भेंट कितने बजे होगी! वे तो बड़े आदमी हैं, एक-दो बात कहकर लौटा देंगे! महाराज से भेंट की बात उन्होने नहीं बताई थी। वे मुझे कुछ नही बताते! अपने ही कार्य में लीन रहते हैं!'

पाँच बज गये। वे नही आये। पृथ्वी अन्य बच्चो के साथ खेल रहा था। नागलक्ष्मी ने उसे बुलाया और हाथ-मुँह धुलाकर कपड़े पहना दिये। स्वयं भी तैयार हो गई। आज पति की सालगिरह जो है! उन्हे अपनी सालगिरह का भान भले ही न रहे, पर वह क्यो न गर्व करे? बेटे ने आकर पूछा, 'माँ, पिताजी अभी तक नहीं आए, तो नागलक्ष्मी 'अभी आयेंगे' कहकर बाट जोहने लगी। घडी ने छह बजाये, किन्तु उनका पता नही। नागलक्ष्मी द्वार पर खड़ी रही। एक पोस्टमैन आया और हस्ताक्षर लेकर एक लिफाफा दे गया। वह तीन शब्दो का तार था जो राज ने भेजा था। लिखा था, 'मंगलवार शाम को पहुँचूंगा।" उसने अर्थ भाँप तो लिया, लेकिन निश्चित नही समझ पाई। 'किससे पूछूं? कन्नड़ मे पत्र लिखने वाले राज ने तार अंग्रेजी मे ही क्यो भेजा? मैं अंग्रेजी नही जानती, इसलिए मेरी खिल्ली उड़ा रहा है क्या? आने दो उसे, खूब खरी-खोटी सुनाऊँगी' उसने सोच लिया।

रात को आठ बजे डॉ० राव घर आये। तार देखकर कहा—"कल शाम

को राज आ रहा है।"

"तो मैंने जो अर्थ लगाया था, वह ठीक ही था !" नागलक्ष्मी ने सगर्व कहा।

"हाँ, तू होशियार जो है। उसके आने के पश्चात् अंग्रेजी सीख ले। और मेरी मदद कर !"

"बस, यही तो बाकी है, अंग्रेजी सीखना और आपकी सहायता करना। आप जानते हैं कि मेरी क़िस्मत में विद्या है ही नहीं। छोड़िए ? आज के नाटक का कार्यक्रम रद्द हो गया; मगर राज को लेने सब साथ जायेंगे। महाराज ने क्या कहा ?"

"उन्हें मैंने अपनी पुस्तक पहले ही भेज दी थी। उन्होंने पढ़ी। कहते थे बड़ी पसन्द आई। विश्वास दिलाया है कि मैं जो ग्रंथ लिखने जा रहा हूँ, उनके प्रकाशन में वे पूरी सहायता करेंगे।"

"इसी उद्देश्य से आप उनसे मिलने गये थे, मुझे नहीं बताया ?"

"शायद किसी विचार में मग्न था—भूल गया। अब समय हो गया है। देखो, मुन्ने को भूख लगी होगी !"

नागलक्ष्मी पुत्र को लेकर रसोईघर में चली गयी।

भाई को लेने के लिए डॉ० सदाशिवराव अकेले ही स्टेशन गये। राज ने गाड़ी से उतरते ही बड़े भाई को नमस्कार किया। घर पहुँचे तो नागलक्ष्मी ने कहा—"साँवले हो गये हो और कुछ दुबला भी गये हो।"

"भोजन बनाने के लिए तुम जो वहाँ नहीं थीं। फिर सोचा कि अगर इसी के लिए शादी कर लूँ तो तुम बुरा मान जाओगी। बस ! यों ही समय काट दिया !"

"जैसे हर काम में तुम मेरी सलाह लेते हो ! अच्छा, आओ बैठो। थोड़ा शर्बत पी लो।"

एक मित्र डॉ० राव से मिलने आये। दोनों की अध्ययन-कक्ष में बातचीत चलती रही। पृथ्वी अपने चाचा को भूल चुका था। दूर खड़ा देखता रहा। इंग्लैंड जाने के पहले दो साल के पृथ्वी को वही खिलाता था। उसने भाभी से पूछा—"नागु, यह बताओ कि ये दो साल

कैसे बीते ? भैया के ग्रंथों ने इंग्लैण्ड मे काफी प्रसिद्धि पाई है। वे आपको कुछ समय देते भी हैं या पहले की तरह अध्ययन में रमे रहते हैं ?"

"उनका स्वभाव कभी बदल सकता है ?"

"फिर भी पत्नी को अकेली देख कभी-कभी कुछ सोचते तो होंगे ?"

"*तुम ही पूछो उनसे। अच्छा, यह बताओ कि ये नाटक कैसे थे* जिनका तुमने पत्र मे उल्लेख किया था ?"

राज की नाटक और नाटक-मंच के प्रति विशेष आस्था थी। उसने विदेश मे खूब अंग्रेजी नाटक और ऑपेरा देखे। कुछ प्रसिद्ध अभिनेताओं से उसका वैयक्तिक परिचय भी हो गया था। उसने शृंगार के नये यंत्रों से लेकर *यंत्रो द्वारा नियंत्रित साज-सज्जायुक्त रंगमंच के बारे मे* जानकारी प्राप्त कर ली थी। उसने भाभी को इस सब के बारे मे बताना शुरू किया। इसका यह मतलब नही कि वह सारी बातें समझ ही जाती हो, दूसरों से बातें सुनने की उसकी आदत है, और फिर राज तो बातूनी है ही। इस तरह दोनो की निभती। नागलक्ष्मी ने कहा—"इस गाँव में एस० एस० एस० नाटक कंपनी आई हुई है। पंद्रह दिनो से 'वसंतसेना' खेला जा रहा है। सारा गाँव देखने जाता है। कल हम जाने वाले थे कि तुम्हारा तार आ गया। फिर सोचा, कल तुम्हारे साथ ही जायेंगे।"

राज ने हँसकर कहा—"नागु, तुम भी झूठ बोल रही हो। अभी-अभी कह रही थी कि वे तुमसे बोलते नही और अब कह रही हो कि कल नाटक देखने जा रहे थे।"

"नही बाबा! कल उनकी सालगिरह थी। मैंने ही नाटक देखने का आग्रह किया था। महाराज से मिलकर शाम तक लौटने वाले थे, लेकिन रात के आठ बजे लौटे। इतने में तुम्हारा तार आ गया।"

आगतुक को विदा करके डॉ० राव भीतर आये। तुरन्त क्या बोलना चाहिए, यह न समझ, राज को देखकर कहा—"इग्लैंड की आब हवा अच्छी है। तुम्हारा स्वास्थ्य सुधर गया है।"

राज ने हँस कर उत्तर दिया—"नागु का कहना है, मैं उतर गया हूँ; और आप कहते हैं मैं पनप गया हूँ। किसे सच मानूँ ?"

"मैंने सच कहा है।" नागलक्ष्मी ने बीच में ही कहा।

खाते नहीं। अब थोड़ा 'रसम' डालो।"

"तेरी बातें ही किसी को पागल बनाने के लिए काफी हैं।" कहकर नागलक्ष्मी 'रसम' डालने लगी।

तब डॉ० राव का मन विश्व-प्रसिद्ध ब्रिटिश म्यूजियम ग्रंथालय और पाश्चात्य विश्वविद्यालयों के बारे में सोच रहा था।

पृथ्वी एक ही दिन में चाचा से घुलमिल गया। नाटक के लिए तीनों निकले तो वह चाचा का हाथ पकड़े था। नाटक के प्रति राव की रुचि नहीं थी, किन्तु भाई के आग्रह को अस्वीकार नहीं कर सके। चामराज-पुर से शिवरामपेट तक पैदल गये। विद्वान्, अनपढ़ सभी नाटक देखने आते थे। राव को नाट्य-स्थल पहुँचने तक मार्ग में अनेक परिचितों ने रोका और कुशल-क्षेम पूछी। पत्नी और पुत्र के साथ राव को देखकर कुछ वृद्ध प्राध्यापकों ने समीप आकर व्यंग्य किया—'बैक टु लाइफ', कांग्रेचुलेशन' (*पुनः जीवन की ओर, अभिनंदन*)।' कुर्सियोंवाली पंक्ति में राव के बायीं ओर राज और दायीं ओर नागलक्ष्मी बैठ गये। पृथ्वी चाचा की गोद में जा बैठा। राज की बुद्धि रंगमंच संबंधी अध्ययन की सीमा पारकर आलोचना के स्तर पर पहुँच गयी। नाटक देखने की उत्सुकता नहीं थी उसमें। डॉ० राव विद्वान् थे। ऐतिहासिक खोज की दृष्टि से कई वर्ष पहले 'मृच्छकटिक' नाटक का अध्ययन कर चुके थे। अब पुनः उस जमाने का जन-जीवन, नागरिकता, सामाजिक स्थिति आदि मस्तिष्क में घूमने लगी। विस्मय और कुतूहल तो केवल नागलक्ष्मी और पृथ्वी के मनों में था। नागलक्ष्मी जीवन में पहली बार पति के साथ नाटक देखने आई थी।

बचपन में ही अपने गाँव के लोगों द्वारा खेले गये 'शनि महात्म्य', 'दानशूर कर्ण' आदि एक-दो नाटक उसने देखे थे। तब रंगमंच साज-सज्जायुक्त नहीं थे। इस नाटक के बारे में उसने काफी सुना था। पृथ्वी परदे पर दिखाई देने वाले चित्रों के संबंध में चाचा से प्रश्न करता।

पहले अंक में चारुदत्त और विदूषक दिखाई पड़े। वसंतसेना का पीछा करता हुआ राजा का साला शकार कह रहा था—'अरे

वसंतसेने ! रुक जा। मेरी वासना बढ़ाती हुई, रात्रि में निद्रा-भंग करने वाली तू, भयभीत, गिरती-पड़ती क्यों भागी जा रही है ? इस समय तो तू मेरे वश में वैसे ही आ गई है, जैसे रावण के वश में कुंती...जिस प्रकार हनुमान ने विश्वावसु की बहन का हरण किया था, उसी प्रकार मैं भी तो तुम्हारा अपहरण कर रहा हूँ।

अंतिम वाक्यों को सुनकर दर्शकगण ठठाकर हँस पड़े। नागलक्ष्मी भी हँस पड़ी और पास ही बैठे पति के हाथ पर हाथ रखकर बोली—"देखिए वह राजा का साला है, लेकिन कितना बुद्धू है। है न ?"

इतिहासज्ञ डॉ० राव का मन विचारों में डूबा हुआ था। इतिहास के हर काल में अधिकारियों के सगे-संबंधियों को, चाहे वे निरे मूर्ख ही क्यों न हों, पुरस्कार मिलता है। नागलक्ष्मी ने पुनः हाथ दबाकर कहा—"नहीं, आप नाटक नहीं देख रहे हैं।" राव बोले—"नहीं, काफी अच्छा है।"

शकार कह रहा था—उसके हार की सुगंध मुझे सुनाई दे रही है, लेकिन अन्धकार से भरी मेरी नाक को उसके आभूषणों की आवाज स्पष्ट दिखाई नहीं देती।

नाट्यगृह पुनः हँसी से गूँज उठा। नागलक्ष्मी भी हँस रही थी। लेकिन डॉ० राव की बुद्धि को हास्य की इस पुनरावृत्ति में कोई नवीनता नहीं जान पड़ी।

बीच में, अंक समाप्त होने पर, राज ने भाभी से पूछा—"ये लोग नाटक अच्छा खेलते हैं न ?"

"बहुत अच्छा। शकार का पार्ट किसने किया है ?"

"नागेंद्र राव ने। चारुदत्त का पार्ट करने वाले सुब्बैया नायडू ने कैसा सुन्दर गाया है।"

तीसरे अंक में चारुदत्त के घर में सेंध लगाते हुए शर्विलक कह रहा था—"यहाँ की पक्की ईंटों को खींचना चाहिए। खिले हुए कमल-सी, सूर्य-मंडल-सी, अर्द्ध-चन्द्र-सी, फैले हुए तालाब-सी, त्रिकोण स्वस्तिक-सी या पूर्णकुंभ-सी—इनमें से कौनसी सेंध कहाँ लगाऊँ, कहाँ अपनी चतुराई दिखाऊँ कि कल नगरवासी जब देखें तो देखते ही रह जायें ?"

नागलक्ष्मी को यह प्रकरण नहीं भाया; लेकिन राव को बड़ा ही

कुतूहलपूर्ण लगा। 'उस काल के शिल्प में इस तरह की विभिन्न ईंटों का उपयोग करते थे? इनके उपयोग से मकान को क्या लाभ होगा? ये वर्णन शिल्पशास्त्र में आये हैं, तो शिल्पशास्त्र कब लिखा गया होगा?' इन सबका विशेष रूप से अध्ययन करने का उन्होंने मन-ही-मन निश्चय कर लिया।

"रंगमंच सज्जा यद्यपि साधारण थी, किन्तु नाटक प्रभावकारी रहा।" राज का मत था। क्योंकि इंग्लैंड में उसने नाटक देखे थे। पृथ्वी गहरी नींद में था। नागलक्ष्मी ने तन्मयता से नाटक देखा। चारुदत्त को मौत की सजा देने का ऐलान सुनकर, उसकी आँखें भर आई थी। अंत में चारुदत्त निर्दोष साबित हुआ और जब वसन्तसेना एवं उसकी पत्नियाँ मिलती हैं तो नागलक्ष्मी का मन आनन्द से भर उठता है। फिर भी क्षणभर के लिए सोचने लगी कि चारुदत्त की पत्नी सौत के साथ कैसे रहेगी? रोहिताश्व सोने की गाड़ी के लिए रोने लगा तो उसने एक बार राज की गोद में सोये पृथ्वी की ओर देखा। नाटक देख घर लौटे तो रात के चार बज चुके थे।

इसके एक सप्ताह बाद विश्वविद्यालय के उच्चाधिकारियों से पत्र मिला कि राव लेक्चरर से असिस्टेंट प्रोफेसर बना दिए गए हैं। साथ ही यह भी सूचना दी गयी थी कि उनके द्वारा लिखे जाने वाले ग्रंथ के लिए प्रतिवर्ष पाँच सौ रुपये दिये जायेंगे। विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में एक अलग कमरा दिया जायेगा। छुट्टी की सुविधा भी दी जायेगी।

"महाराज से भेंट बड़ी ही लाभदायक रही"—राज ने कहा।

डॉ० राव ने महाराज के निजी सचिव को अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हुए एक पत्र लिखा।

३

डॉ० सदाशिवराव गत एक महीने से प्रवास में हैं। वे भारत के मुख्य-मुख्य ऐतिहासिक स्थानों को पहले ही देख चुके थे। अब उन स्मरणों को ताजा करने के लिए पुनः भ्रमण पर निकले हैं। कन्याकुमारी से लेकर तंजौर, मदुरा, चिदंबर, महाबलीपुर आदि स्थानों को देखते हुए हैदराबाद से एलोरा के गुफा-मंदिरों में आये। तीन दिनों तक एलोरा की भव्य शिल्प-कला का अध्ययन कर देवगिरि, औरंगाबाद होते हुए अजंता पहुँचे।

एक हल्का-सा होलडाल, कपड़े-लत्तों के लिए छोटा-सा बक्सा, फ्लास्क, एक कीमती कैमरा, खाकी कमीज, धूप से बचने के लिए सिर पर हैट, नोट लिखने के लिए कागज-पेंसिल और दूर की वस्तुएँ देखने के लिए एक कीमती दूरबीन—ये उनके प्रवास के सामान थे। अजंता की गुफा से थोड़ी ही दूर पर फरदापुर के अतिथिगृह में ठहरे। यहीं से रोज गुफाओं की कला का अध्ययन करने जाते। पहले दिन उस निर्जन प्रदेश को देखा, दुबारा दूरबीन से चारों ओर निगाह दौड़ाई और फिर नोट लिखे—

"घोड़े के पेट-के आकार के इस पहाड़ पर गुफाएँ खोदी गई हैं। उसके सामने एक और पहाड़ है। लगता है एक ही पहाड़ को खाई द्वारा विभाजित किया गया है। यहाँ मानव-निवास के योग्य कोई सुविधा नहीं है। जंगल के बीच ही बौद्ध भिक्षुओं ने गुफांतर देवालयों की स्थापना क्यों की? देवालय-निर्माण के लिए उपयुक्त पत्थरों का होना भी एक कारण हो सकता है। लेकिन मेरे विचार से ये देवालय अजंता के भिक्षुओं के लिए तप और साधना के स्थल बन गये होंगे। इसी कारण बस्ती से दूर इस पहाड़ को खोजा गया।"

उन्होंने एक जगह लिखा था—"सातवीं शती से १८१९ तक इस

गुफा के बारे में कोई कुछ नही जानता था। आसपास के लोगों से भी यह छिपी रही। आधुनिक काल में प्रथम बार मानव इतिहास की इस उत्कृष्ट कला निर्मिति को प्रकाश में लाने का श्रेय कुछ आंग्ल सैन्य अधिकारियों को है—इस तर्क को स्वीकार नही किया जा सकता। शायद राजकीय परिस्थितियों और उनका धर्म-परिवर्तित होने के कारण आस-पास के लोगों मे इन गुफाओं के प्रति श्रद्धा घट गई होगी। परिणाम-स्वरूप इन देवालयों की ओर ध्यान नहीं दिया गया होगा। आंग्ल संशोधक ऐसे भ्रम में दीखते हैं मानों उन्होंने ही इस सब को खोज निकाला है। क्या कोलंबस से पहले अमरीका में दूसरे लोग नही पहुँचे थे? इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि उसके पहले भी अमरीका में हिन्दू मूर्तियाँ थीं। कोलंबस से पूर्व जगत् के अन्य लोगों को भी अमरीका का पता था।"

दूसरे दिन सुबह डॉ० राव चौबीस नंबर की अपूर्ण गुफा देख रहे थे कि एक वृद्ध दम्पति आये। पुरुष की उम्र साठ से अधिक ही होगी। सफेद धोती और कमीज पहनी हुई थी। हाथ में छाता। श्याम वर्ण, मध्यम शरीर। पत्नी शायद पचास पार कर चुकी थी। उसका सफेद साड़ी पहनने का ढंग देखकर डॉ० राव समझ गये कि वे शायद सिंहल के हैं। पुरुष ने राव के पास आकर अंग्रेजी मे कहा—"क्षमा कीजिए, लगता है आप एक संशोधक हैं। यह गुफा इस स्थिति में क्यों है? क्या अकुशल कारीगरों द्वारा बनाई गई है?"

डॉ० राव ने कहा—"यह एक अपूर्ण गुफा है। हम अजंता की गुफाओं के तीन स्तर मान सकते हैं। पहले अकुशल कारीगर इन्हें खोदते थे। शायद आसपास के किसान धर्म-कार्य समझकर यह कार्य करते थे। दूसरे स्तर पर शिल्पी के निर्देशानुसार कुशल कारीगर स्तंभ, मूर्ति आदि को अर्ध-स्फुट आकृति देते थे और अंतिम स्तर पर मजे हुए शिल्पकार उस देवालय को अंतिम स्वरूप देते थे। इन कार्यों में कई दशक लग जाते थे। शायद इस गुफा का प्रथम स्तर का कार्य होते-होते देश की राजकीय स्थिति में उथल-पुथल हुई होगी और इसकी प्रगति रुक गई होगी!"

वृद्ध ने सारी बात पत्नी को समझाई। भाषा सुनकर डॉ० राव को

विश्वास हो गया कि वे सिंहल के ही हैं। उन्होंने कुछ और प्रश्न पूछे और डॉ० राव ने उत्तर दिये। अंत में परस्पर परिचय हुआ। वृद्ध ने कहा—"हम आपको कल से देख रहे हैं। आपके कार्य को देखकर ही मेरी लड़की ने कहा कि आप संशोधक हैं। हम फरदापुर के जिस अतिथिगृह में ठहरे हैं, आप भी वहीं हैं। आपने हमारी ओर ध्यान नहीं दिया। हम पश्चिमी सीलोन में स्थित कलुतर के निवासी हैं। मेरा नाम है जयरत्ने। मेरी बेटी इतिहास की छात्रा है। कैम्ब्रिज से एम० ए० कर स्वदेश लौटे एक वर्ष हो चुका है। वह और किसी गुफा में विषय-संग्रह कर रही है।"

राव ने अपना परिचय दिया। ग्यारह बज गये थे। थक भी गये थे। जयरत्ने ने कहा—"खाने के लिए आपको गेस्ट हाउस जाना पड़ेगा?"

"नहीं, गेस्ट हाउस का नौकर यहीं ले आयेगा।"

"हमें भी वही ला देता है। बस, आता ही होगा। कल भी इसी समय आया था। चलिए, कुछ पीछे चलकर बैठें।"

तीनों चौवीस नंबर की गुफा से निकलकर बारह नंबर की गुफा के पास जा रहे थे कि सामने एक महिला दिखी। वय लगभग २६ वर्ष के, सिंहली साड़ी में। गोल चेहरा और उस पर विद्या का गांभीर्य। रंग माता-पिता से ही पाया था। कांतियुत आँखें। कानों में हीरे की बालियाँ। हाथ में नोटबुक और पेंसिल। राव समझ गये कि इन्हीं की लड़की है। इतने में जयरत्ने ने परिचय कराया—"यही है मेरी लड़की करुणारत्ने। देख बेटी, ये हैं संशोधक—जैसा कि तुम कह रही थीं। हमें इन्होंने अनेक बातें समझाईं। नाम है सदाशिवराव।"

परस्पर अभिवादन हुआ। करुणारत्ने तुरन्त कुछ नहीं बोली। कुछ स्मरण करते हुए पूछा—"डॉ० सदाशिवराव आप ही हैं?"

"हाँ!"

"तो 'प्राचीन भारतीय राजतन्त्र को धर्म की देन' आपकी ही पुस्तक है! वह पुस्तक तो अभी तक मुझे नहीं मिली। उसकी समालोचना पढ़ी है। ऐसे ग्रंथ के लेखक से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई।"

"यहीं-कहीं बैठ जायें। बूढ़े हैं, थक गये हैं!" जयरत्ने ने कहा।

पास ही दस नंबर की गुफा के द्वार पर छाया में चारों बैठ गये। तत्पश्चात करुणारत्ने ने पूछा—"मैं सोचती हूँ आपने इन सबको पहले भी देखा होगा। फिर अब इतनी सूक्ष्मता से क्यों देख रहे हैं? कोई नया ग्रंथ लिखने की योजना है?"

"जी हाँ, लगभग पांच जिल्दों में एक बड़े ग्रंथ की योजना है।"

"क्या मैं जान सकती हूँ कि कौन-सा विषय होगा और दृष्टिकोण क्या होगा?"

इतने में अतिथिगृह का नौकर दीख पड़ा। उसके सिर पर एक टोकरी थी। धूप में चलने से पसीना बह रहा था। कमीज पूरी-की-पूरी भीग गई थी। उसने टोकरी नीचे रखकर पूछा—"साहब, आप सब साथ में खायेंगे? पानी लेकर अभी दस मिनट में आया और एक बड़ा डिब्बा लेकर धीरे-धीरे नीचे उतरने लगा।

महाराष्ट्रीय ढंग से बना भोजन स्वादिष्ट था। भूख भी जोरों से लगी थी। दाल, सब्जी, रोटी, भात, दही था। खाते-खाते परस्पर परिचय गहरा होता चला। जयरत्ने महायान पथ के बौद्ध थे। कलुतर में उनका व्यापार चलता है। पन्द्रह मील दूर गांव में रबर और मिर्चों के बाग हैं। गाँव का कामकाज उनका पुत्र देखता है। बौद्ध होने के कारण धार्मिक मनोभाव से वे भारत स्थित महत्वपूर्ण बौद्ध स्थलों को देखने के लिए निकले हैं। लेकिन पुत्री का उद्देश्य भिन्न था। उसने कहा—"यद्यपि मैं माता-पिता के साथ आई हूँ, किन्तु मेरे प्रवास का विशिष्ट उद्देश्य है। मैं बौद्ध धर्म के आधार पर सिंहल-संस्कृति का अध्ययन करना चाहती हूँ। अपने देश के समस्त ऐतिहासिक स्थलों को देख चुकी हूँ। तथ्य-संग्रह भी काफी किया है। लेकिन निर्देशन के अभाव में मैं अकेली लिख नहीं सकूँगी। फिर भी समय-समय पर यथाशक्ति सामग्री का संग्रह करती रहती हूँ।"

नौकर खाना परोस रहा था। करुणारत्ने की माँ ने सिर्फ चावल ही खाये। सबने महसूस किया कि दाल भी उन्हें नहीं भाई। लेकिन और कोई चारा न था। जयरत्ने दांत के सेट लगाये हुए थे। उन्होंने

दो रोटियाँ खाईं। करुणारत्ने और राव ने भरपेट खाना खाया। अंत में नौकर के चावल-दही परोसने के बाद जयरत्ने ने कहा—"अजंता में हीनयान पंथ की गुफाएँ हैं। महायान की भी हैं। मैं यह इसलिए नहीं कह रहा हूँ कि मैं महायान पंथी हूँ। हीनयान की गुफा में भगवान् बुद्ध की मूर्तियाँ नहीं होतीं। यद्यपि देवालय में कितना ही उत्कृष्ट कार्य क्यों न हो, मूर्ति के अभाव में वह यजमान-रहित घर-सा प्रतीत होता है। महायान पंथ की गुफाओं में शांति-मूर्ति, धर्मचक्र मुद्रा युक्त भगवान् बुद्ध की मूर्ति रहती है। देवालय में प्रवेश करने पर सुरक्षा एवं अभय-भावना जाग्रत होती है।"

डॉ० राव ने कहा—"यह सच है। बौद्धमत के ऐतिहासिक विकास के प्रथम चरण को हीनयान कहते हैं। बुद्ध की विचार-क्रांति उस समय प्रज्वलित थी। 'समस्त चीजों का शून्य में ही पर्यवसान होना चाहिए'-इस तर्क से गुरु-पूजा भी अवैचारिक है। लेकिन निरा विचारवाद मनुष्य की आशा-आकांक्षाओं को तृप्त नहीं कर सकता। अंततः बुद्ध-पूजा की प्रवृत्ति प्रारंभ हुई। कुछ इतिहासकारों का कथन है कि यह हिंदू धर्म का प्रभाव है। यद्यपि इसमें सचाई है, लेकिन महायान पंथ के उदय का यही एक कारण नहीं है। ऐसा कोई भी धर्म नहीं जिसमें पूजा-प्रवृत्ति न हो। अत्यन्त कठोर निषेध न करें तो कोई भी धर्म एक-न-एक स्तर पर मूर्ति-पूजा पद्धति में विकसित होता ही है।"

अब तक सब खा चुके थे। नौकर चला गया था। सबने थोड़ी देर आराम किया। करुणारत्ने की माता वहीं पत्थर पर लेट गई। पिता ने दीवार से पीठ लगाकर पैर फैला दिये। करुणारत्ने ने डॉ० राव से पूछा—"क्या आपका नोट लेने का काम पूर्ण हो गया?"

"जी नहीं! क्यों?"

मैं जानना चाहती हूँ कि आप नोट किस प्रकार लिखते हैं। नंबर एक की गुफा का मेरा अध्ययन अब भी शेष है। आपके पास समय हो तो विषय मुझे भी वहीं समझा दें—बड़ी कृपा होगी।"

"मैंने उस गुफा के नोट अभी नहीं लिये हैं। आइए, दोनों साथ लिखेंगे।"

"डैडी, हम नंबर एक गुफा में हैं। आप आराम करने के पश्चात्

वहीं आजाइएगा।" करुणरत्ने ने पिता से कहा।

बाहर धूप तप रही थी। डॉ० राव सिर पर हैट पहनकर निकले। रत्ने ने आंचल से सिर ढँक लिया। दोनों गुफा के अंदर गये। रोशनी दिखानेवाला मुख्य-मुख्य मूर्तियों एवं चित्रों पर प्रकाश डालता और वे जाँच करते। रत्ने ने कहा—"अब हमें अलग-अलग नोट लेने की आवश्यकता नहीं है। आप बताते जाइए, मैं लिखती जाती हूँ। रात में दूसरी प्रति बनाकर आपको दे दूँगी।"

डॉ० राव चित्रों एवं मूर्तियों की परखते और नोट लिखाते। रत्ने लिखती—"इस गुफा में बुद्ध की बड़ी मूर्ति धारण-चक्रमुद्रा में है। बायें हाथ की अंतिम अंगुलि पर दायें हाथ की तर्जनी रखकर शिष्यों को दिये जानेवाले उपदेश के हर अंश पर जोर देने वाली है यह मुद्रा। इस मूर्ति की मुखाकृति पर भिन्न-भिन्न कोणों से फेंके गये प्रकाश से भिन्न-भिन्न भाव व्यक्त होते हैं। बुद्ध के बैठे हुए धर्मचक्र के पास से प्रकाश डालकर देखें तो लगता है मानो चेहरा शांति की प्रतिमूर्ति है। मूर्ति की बायीं ओर से प्रकाश डालें तो मुख पर मृदुहास खेलता-सा प्रतीत होता है। उसी प्रकाश को दायीं ओर से डालें तो मुख अत्यन्त गंभीर दिखाई देता है। यह मूर्ति स्थापत्य-कला के चरमोत्कर्ष को प्रस्तुत करती है।"

डॉ० राव बोलते जा रहे थे और रत्ने लिखती जा रही थी। राजकुमार द्वारा आश्रमवासियों को दिये जाने वाले उपदेश का चित्र, राजकुमार के स्नान का चित्र, पत्नी के साथ वार्त्ता करते समय का चित्र, पद्मपाणि बोधिसत्व आदि सबका वर्णन लिख लिया गया। चित्रों में प्रदर्शित प्रति दिन उपयोग में आनेवाली वस्तुओं, आभूषण, केश-बंध शैली, मानव शरीर का आकार आदि के आधार पर तत्कालीन संस्कृति, जन-जीवन आदि अनेक विषयों को समझा।

संध्या के लगभग पाँच बजे जयरत्ने वहाँ आये। रोशनीवाला निश्चित समय तक काम कर चला गया। डॉ० राव टार्च के प्रकाश में चित्रों के सूक्ष्म भागों को बारीकी से देख-देखकर लिखा रहे थे। जयरत्ने भीतर आकर बोले—"लगता है दोनों ने सारी गुफा को पुस्तक में ही उतार लेने की ठान ली है। अब चलिए भी, गाड़ी खड़ी है।"

काफी अँधेरा हो चला था। अब और अधिक अध्ययन करना कठिन था। दोनों जयरत्ने के साथ बाहर निकले। पहाड़ से उतरे। बैलगाड़ी में बैठने के बाद जयरत्ने कह रहे थे—"छब्बीस नंबर की गुफा में हम पहली बार गये। बुद्ध का महानिर्वाण तो वहीं है। लगभग पच्चीस गज लंबी प्रभु की मूर्ति वहाँ अपने अन्तिम क्षण की प्रतीक्षा में लेटी है। हम दोनों अब तक वहीं थे।"

डॉ० राव थक गये थे। गाड़ी में टिककर आराम करने के प्रयत्न में थे। चार आदमी थे, अतः ठीक तरह बैठने के लिए भी जगह नहीं थी। रत्ने भी थक गई थी। फिर भी डा० राव के चेहरे से थकावट का अनुमान कर वह पिता के पास सरक गई जिससे डॉ० राव को कुछ और जगह मिल गई। गाड़ी धीरे-धीरे आगे बढ़ती चली।

जयरत्ने दूसरे दिन जाने वाले थे, लेकिन करुणारत्ने दो दिन और रहना चाहती थी। डॉ० राव के लिखाये नोट उसे उपयोगी लगे। दोनों ने मुख्य-मुख्य गुफाओं का वर्णन एवं उनके काल की संस्कृति का पता लगाया। डॉ० राव खड़े-खड़े ही बोलते जाते और वह भी खड़े-खड़े ही लिखती। शीघ्रलिपि में लिखे गये नोटों से तीन कापियाँ भर गयीं। सारा परिवार दूसरे दिन बस से जलगाँव और वहां से दिल्ली जानेवाला था। डॉ० राव ने औरंगाबाद से पूना होते हुए अपने गाँव जाने की योजना बनाई। यहाँ एक महीना रहे। अब उत्तर भारत के प्रवास की योजना बनाई।

फरदापुर का अतिथिगृह गत चार दिनों से उनका अपना घर-सा बन गया था। उनके कमरे आमने-सामने थे। अतः रात में भोजन के पश्चात् जयरत्ने डॉ० राव के साथ कुछ समय बातचीत करने चले आते। इस इतिहासकार से बौद्धधर्म संबंधी जिज्ञासाओं का समाधान कराते हुए उन्हें तृप्ति नहीं होती थी। दूसरे इतिहासकार तो केवल उसका इतिहास जानते थे जबकि ये धर्म के अंतःसत्व की दृष्टि से सविवरण इतिहास बताते। कमरे से जयरत्ने के चले जाने के बाद डॉ० राव लेट गये। तुरंत नींद नहीं आई। अजंता की कला ने उनके मन को जकड़ रखा था। चार दिनों से वे एक दूसरी ही दुनिया में रह रहे थे। कल से फिर वही आधुनिक रंग-ढंग की दुनिया।

रात के नौ बज चुके थे। इस निर्जन प्रदेश में फैली चांदनी ने इस निशा को भी अजंता-सा ही स्वप्न-लोक बना दिया था। डॉ० राव ने सोचा, ऐसी स्निग्ध शांति में ही बौद्ध भिक्षु एवं कलाकारों ने पत्थर में जान डाली है। अपनी खिड़की से ही चाँदनी का आनंद लूटना छोड़, वे बाहर निकल आये। अतिथिगृह से लगभग पचास गज दूर जाकर एक पत्थर पर बैठ गये। दिनभर की सारी थकान भूल गये। निशा में मन प्रफुल्लित था। जिस भारतवर्ष का इतिहास लिखना चाहते थे, वह उन की आँखों के सामने स्पष्ट दिखाई दे रहा था। उनकी कल्पना के सम्मुख हजारों वर्ष की संस्कृति की दीर्घ परम्परा शुद्ध, शुभ्र चाँदनी-सी चमक-दमक रही थी। उनकी लेखनी एक बिंदु पर आकर रुक गयी। इस बिंदु को वे स्पष्ट देख रहे थे। लेकिन संस्कृति की परम्परा का आदि कहाँ? क्या यह भी वेद-सा अपौरुषेय है? या यह ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व प्रारंभ हुई थी, जैसा कि इतिहासज्ञों का कथन है? अथवा तीन हजार वर्ष पूर्व? इसका प्रारंभ बिंदु कौन-सा है? क्या हम मानव संस्कृति के इतिहास को मानव जीव शास्त्रज्ञों के दृष्टिकोण से तुलना कर सकते हैं? डॉ० राव वैचारिक लहरों में पूर्णतः लीन हो गये।

पीछे से आवाज आई—"कल सुबह मुँह-अँधेरे बस से जानेवाले अभी तक सोये नहीं? क्या सोच रहे हैं?" यह थी करुणारत्ने की ध्वनि। डॉ० राव ने मुड़कर देखा, करुणारत्ने खड़ी थी।

उसने पास आकर पूछा—"आपके चिंतन में बाधा तो नहीं पड़ी?"

"नहीं, बैठिए।"

"मैं आपसे यह कहने आई हूँ कि हमने जो नोट लिये हैं, वे तीन कापियों में हैं। उन सबकी प्रतियाँ उतारना यहाँ तो कठिन है। अगर उसे आपको दे दूँ तो आप पढ़ नहीं पायेंगे। कारण, मैंने नोट शीघ्रलिपि में लिखे हैं। हमें देश पहुँचने में एक महीना लग जायेगा उसके बाद शीघ्र ही उन सबको टाइप कर आपके पास भेज दूँगी। क्या यह ठीक रहेगा?"

कुछ क्षण सोचने के पश्चात् डॉ० राव ने कहा—"आप जानती ही हैं कि मुझे इसकी कितनी आवश्यकता है। भूलिए नहीं।"

"नहीं, ऐसा नहीं होगा।"

दोनों मौन। डॉ० राव अब भी वैचारिक दुनिया से मुक्त नहीं हुए थे। कुछ क्षण की चुप्पी के बाद रत्ने ने पूछा—"एक प्रश्न पूछना चाहती हूँ। क्या आप वार्ता के 'मूड' में हैं ?"

"पूछिए।"

"हर इतिहासकार इतिहास को प्राचीन युग, आधुनिक युग या इतिहास-पूर्व युग, इतिहास-प्रारंभ युग आदि नामों से काल-विभाजन करता है, लेकिन किसी भी देश का इतिहास कोई एक स्पष्ट चिन्ह दिखाकर अपने स्वरूप को नहीं बदलता। इस विडम्बना का नियम ही स्वच्छन्द प्रतीत होता है न ?"

डॉ० राव ने उत्सुक होकर कहा—"मैं भी यही सोच रहा था। इतिहास के समान ही 'युग' शब्द की कोई निर्दिष्ट सीमा नहीं है। एक पीढ़ी का भौतिक जीवन, तत्कालीन जनता के मन में निहित मूल्यों पर निर्भर करता है। कई बार वे मूल्य सैंकड़ों-हजारों वर्ष रह सकते हैं। उस अवधि में यदि हम उस पीढ़ी द्वारा उपलब्ध कला, साहित्य, धर्म, भौतिक प्रगति एवं विकास को आँक सकते हैं तो भी उनके मूलभूत रूप में कोई अंतर नहीं है। क्योंकि वे सब जन-जीवन के एक ही मूल्य के आधार पर विकसित विवरण हैं। पीढ़ी के मूलभूत मूल्यों में कोई स्पष्ट परिवर्तन होने पर ही नये युग का प्रारंभ होता है। तब इतिहास भी नया स्वरूप धारण करता है।"

"युग-परिवर्तन के इस काल को इतिहासकार किस तरह पहचान लेता है ?"

"उसके लिए पैनी अन्तर्दृष्टि चाहिए। जो केवल भौतिक परिवर्तनों को पहचानता है, वह इतिहासकार नहीं हो सकता। एक पीढ़ी के अंतःसत्व में होने वाले भीतरी परिवर्तनों को, उनके मूल्यों के बीच के संघर्ष को केवल इतिहास ही नहीं कला, साहित्य, तत्त्वज्ञान आदि माध्यमों से पहचान लेते हैं। इस दृष्टि से साहित्य और इतिहास के बीच कोई विशेष अन्तर नहीं है। मगर समस्त पीढ़ी को दृष्टि में रखकर इस अन्तःसत्व परिवर्तन का वर्णन करना इतिहास है, तो कुछ व्यक्तियों के जीवन को केन्द्र मानकर उसी अंतःसत्व परिवर्तन को व्यक्त करना साहित्य है। इस संधिकाल को चित्रित करने वाली

रचनाएँ ही साहित्य की महान कृतियाँ बन जाती हैं। इन दोनों का संबंध जानकर ही रामायण-महाभारत को ऐतिहासिक ग्रंथ माना गया है।

रत्ने लगभग दस मिनट इन्हीं बातों को मन-ही-मन दुहराती रही। उसने कैम्ब्रिज की स्नातकोत्तर उपाधि के लिए विशेष रूप से इतिहास का अध्ययन किया है। इतिहास का स्वरूप क्या है, उसके विषय-क्षेत्र कौन-से हैं आदि विषयों पर यद्यपि उसने अनेक वादों का अध्ययन किया किन्तु ऐसा विषय-निरूपण नहीं पढ़ा। डॉ० राव के विचारों के बारे में उसके मन में एक शंका उठी : "आपका कहना है इतिहास को चाहिए कि मूल्य-परिवर्तन के युग का, उसके कारण एवं परिवर्तन का निर्देशन करे। इतिहासकार जब मूल्य-परिवर्तन के युगों की चर्चा करता है तो कम-से-कम पर्याय रूप में उसे मूल्य का निष्कर्ष देना ही पड़ता है। क्या उसे वैसा करना चाहिए ? इस दृष्टि से इतिहास प्रगतिगामी विकास है या प्रतिगामी मानव पीढ़ी की करुण कथा ?"

"अगर इतिहास सदा प्रगतिमुखी है तो इसका अर्थ हुआ कि हमारे पूर्वजों की संस्कृति हमारी अपेक्षा हीन थी। और अगर विगति ही उसकी दिशा है तो हम अनिवार्यतः अधःपतन के पथ पर बढ़ रहे हैं। भारतीय दृष्टि में काल को क्रमशः कृत, त्रेता, द्वापर और कलियुग के नाम से विभाजित किया गया है। इसके आधार पर कहना पड़ेगा कि इतिहास मूलतः विगति की ओर बढ़ रहा है। लेकिन कलियुग ही तो अन्त नहीं है। यह युग बीतेगा और युग-चक्र घूमेगा। पुनः कृतयुग आयेगा।"

"तो क्या इस परिक्रमा का कोई अंत नहीं ?"

"मानव-इतिहास की आदि कल्पना करना जितना असम्भव है, उसके अंत सम्बन्धी निष्कर्ष पर पहुँचने की आशा भी वैसी ही मूर्खता-पूर्ण है। इस अनंत परिक्रमा के सिलसिले में मूल्यांकन में दुर्बलता भी हो सकती है और सबलता भी। इस दृष्टि से देखें तो मानव इतिहास को भगवान की लीला कह सकते हैं। अतः अपना मौलिक निष्कर्ष देते समय इतिहासकार को बहुत सतर्क रहना चाहिए।"

रत्ने धीरे से बोली—"गत चार दिनों से हम यहाँ अजन्ता में हैं। हर वाद-विवाद को भुलाने वाले इस स्थान पर, इस प्रशांत निशा में,

आप यह बता रहे हैं। उसे माना जा सकता है—ऐसा मन कहता है। क्या आप एक कृपा करेंगे ? इसके लिए मैं सदा कृतज्ञ रहूँगी।"

"ऐसी कौन सी कृपा है ?"

"मुझे कैम्ब्रिज से आये एक वर्ष हो गया। हमारे गाँव में उच्च अध्ययन की सुविधा नहीं है। मेरी इच्छा है कि अगले वर्ष मैं कोलम्बो विश्वविद्यालय में अध्यापिका या शोध छात्रा के रूप में नाम लिखा लूं। आप से निवेदन है कि अगर मैं पत्रों द्वारा इसी तरह के उलझे प्रश्न पूछूं तो आप सविस्तार उत्तर दें।"

"अवश्य। जितना जानता हूँ, लिखूंगा। मेरा 'मूड' मुझे रोके तो क्षमा कर देना।"

रात का एक बज रहा था। चाँदनी कम होती जा रही थी। चाँद अस्ताचल की ओर जा रहा था। दोनों उठे, धीरे-धीरे अपने कमरों में चले गए। डॉ० राव के 'गुड नाइट' कहने से पहले ही रत्ने ने कहा—"कल आपसे भोजन के पूर्व एक बार मिलूंगी।"

दूसरे दिन दोनों ने एक-दूसरे का पता लिख लिया। नमस्कार कर डॉ० राव ने करुणरत्ने के माता-पिता से विदाई ली। डॉ० राव मोटर में बैठ रहे थे कि रत्ने ने हाथ जोड़कर कहा—"नोट भेज दूंगी। यह मेरा सौभाग्य है कि एक प्रति मुझे भी मिल रही है।"

४

ज्येष्ठ-आषाढ़ में कपिला ने फिर अपना पहले-जैसा रूप धारण कर लिया। किन्तु इस बार की बाढ़ से जन-हानि नहीं हुई। नंजनगुडू की नगर-सभा की ओर से एक बोर्ड लगा है, जिस पर लिखा है—"सावधान ! यहाँ कोई न तैरे।" लेकिन तैराकों पर इसका प्रभाव न पड़ा। श्रोत्रियजी के पुत्र को स्वर्गवासी हुए एक साल हो गया। पुत्र की

मृत्यु के अपार दुःख को भूल जाना असंभव था, लेकिन जैसे-जैसे दिन बीतते गये, वैसे-वैसे दुःख भी घटता गया। श्रोत्रिय-दम्पति का ध्यान उनका पौत्र चीनी अपनी ओर आकर्षित कर लेता। डेढ़ वर्ष का बालक चीनी शरीर और चेहरे से अपने पिता का प्रतिरूप है। सामने के चार दाँत आ गये हैं। जब वह हँसता तो हूबहू अपने पिता जैसा दिखता।

पौत्र को अपने कन्धे पर बैठाकर श्रोत्रियजी खिलाते। इसी तरह सत्ताईस वर्ष पूर्व नजुंड को खिलाते थे। तब वह 'अण्णा-अण्णा' कहकर उनके घने काले सुन्दर बालों में से गाँठदार चोटी पकड़कर खींचता। उनकी चौबीस वर्षीया पत्नी भागीरतम्मा बालक के सामने चुटकी बजाती और नौकरानी लक्ष्मी बच्चे को घर के पिछवाड़े बगीचे में ले जाती। अब पचपन वर्ष के श्रोत्रियजी के बाल पक गये हैं और चोटी की गाँठ के स्थान पर गोपाद की चौड़ी शिखा है। पौत्र उसे पकड़कर 'दादा' कहता है। उनकी बहू दूर से ही बच्चे को देखकर हँसती है।

बच्चा दिन-भर दादा, दादी और लक्ष्मी के साथ रहता। कभी-कभी माँ के पास चला जाता। रात को कात्यायनी के पास ही सोता। माँ-पास में सोये पुत्र को छाती से लगाकर सोती, तो बीते जीवन की सुखमय घड़ियाँ स्मरण हो आती। उसका पति नजुंड श्रोत्रिय सौम्य स्वभाव का था। माता-पिता से भय खाता। लेकिन वृद्ध दम्पति ने बहू पर न कभी अधिकार जमाया, और न कभी आँखें दिखाईं। उनके कोई लड़की नहीं थी। इसलिए कात्यायनी उनके लिए बेटी बनकर ही घर में आई। श्रोत्रियजी कई बार बेटे-बहू से विनोद करते। गाँव में कोई नाटक कम्पनी आती तो दोनों को साथ भेज देते। धीरे-धीरे पुत्र को घर के कामकाज से परिचित करा, स्वयं अधिकाधिक देवपूजा और अध्ययन करते। पुत्र वियोग से पहले देवरसनहल्ली, अरसिनकेरे आदि धार्मिक स्थानों पर गये तीन साल हो चुके थे। जमीन की जिम्मेदारी के अलावा घर के आय-व्यय का कार्य भी पुत्र को सौंप दिया। व्यावहारिक जीवन से निवृत्त श्रोत्रियजी को अब पुनः प्रवृत्त जीवन स्वीकार करना पड़ा। सुग्गी (काल-विशेष) के समय गाँव जाना, किरायेदारों से पैसा वसूलना, लगान लेना आदि कार्य अब फिर उन्हें ही करने पड़ते।

सास-ससुर का प्रेम और विश्वास पा कात्यायनी का हृदय भर

आता। रात को बच्चे को सुलाकर लेटती, तो उसे अपने बीते जीवन की याद आ जाती। पति के साथ किए हुए हँसी-मजाक, विगत भोगमय जीवन, उसे देखकर पति का कई बार पागल-सा बनना, गाँव से लौटने में पति को देर हो जाय तो कात्यायनी का कातर हो उठना, द्वार की ओर देखते रहना, सबके सब उसके स्मृति पटल पर नाच उठते। नींद न आने पर करवट बदलती रहती, तो सास पूछती—"नींद नहीं आ रही है बेटी ?" वह कहती, "आ रही है माँ।" लेकिन सास ताड़ जाती कि वह झूठ बोल रही है। "देख बेटी, बेटा (नंजुंड) भी चीनी-सा ही था। कभी-कभी रात को पालने में ही खेलने लग जाता। मुझे भी उठकर उसके साथ खेलना पड़ता था। ऐसा न करने पर वह रोने लगता। तेरे ससुर ऊपरी मंजिल पर सोते थे।" कात्यायनी जानती थी कि जवानी में भी पत्नी-बच्चे को नीचे छोड़कर श्रोत्रियजी ऊपर जाकर क्यों सोते थे। "उसे क्या ? वह रातभर खेलता। सुबह होते-होते उसे नींद आती। मुझे उठना पड़ता। उठकर देव-पूजा की तैयारी करनी पड़ती। कभी-कभी मुझे भी नींद आती तो बच्चे को लक्ष्मी को देकर मैं सो जाती। उसके बाद मैं और लक्ष्मी एक ही कमरे में सोने लगे।"—कहकर नंजुंड के बचपन का हाल बताती और याद करती। "हम उन्हें खून से सींचती हैं, जन्म देकर पालती-पोसती हैं और फिर भगवान न जाने निर्मम होकर उन्हें हमसे क्यों छीन लेता है ?"—कहकर आँसू फूट पड़ते। "माँ, यह हमारे वश की बात नहीं है।" कात्यायनी सान्त्वना देती।

थोड़ी देर बाद ऊपर दीवानखाने में सोये ससुर की याद आने पर वह कहने लगी—

"माँ, हम सब बड़े अधीर हैं। उन्हें गुजरे डेढ़ वर्ष बीत गया, अब भी रो रहे हैं। केवल ससुरजी धीरज धरे हैं। उनके नदी में गिरने की खबर पाते ही वे वहाँ दौड़े गये, किन्तु पुत्र नहीं मिला। मैं भी उनके पीछे-पीछे दौड़ी गयी। वे हम दोनों को घर लाये और धीरज बँधाया। मैं रोते-रोते भीतरी कमरे में खंभे के पास लुढ़क गई। आप इसी कमरे में बेहोश हुई थीं।" "लक्ष्मी, उसे देखना ! थोड़ा ठंडा पानी सिर पर डालो।" कहकर वे मेरे पास बैठ गये। मैं भी बेसुध होने जा रही थी। मेरा सिर अपनी गोद में रखकर कहने लगे, "बेटी, ऐसे समय हमें धीरज रखना

चाहिए। भगवान हमारी परीक्षा ले रहा है।" ऐसे दुःख में उनकी ये बातें मुझे नीरस लगी, लेकिन उस गम्भीरता में भी कितनी शांति से उन्होंने बातें की। मैं एकटक उनका मुख-मंडल देखती रही। मुझे आश्चर्य हो रहा था कि पुत्र को खोकर कोई इस तरह सांत्वना दे सकता है? अगर हमें भी वैसी ही सहनशक्ति मिल जाय, तो बड़े से-बड़े कष्ट सह सकेंगी! है न?"

"यह तो ठीक है, लेकिन मनुष्य को ऐसा नहीं बनना चाहिए। दूसरों के दुःख में हाथ बँटाना चाहिए। इससे लोगों को सांत्वना मिलती है। डेढ़ वर्ष से हम चुपचाप आँसू के घूँट पी रहे हैं, उनके सामने रो नहीं सकती। अगर हमारा रोना, आँसू बहाना देखकर वे भी रोते, आँसू बहाते तो हमें भी सांत्वना मिलती। है कि नहीं?"

इतने में बगल के कमरे से मंद-मंद खर्राटों की आवाज आने लगी। भागीरतम्मा आगे कहने लगी, "देखा लक्ष्मी सुख से सो रही है। नंजुंड जब छोटा था, वही खिलाती थी। स्कूल ले जाती। अपने ही पुत्र की तरह प्यार करती। जब वह नदी की गोद में चिर निद्रा में लीन हो गया तो वह भी बहुत रोई थी। तत्पश्चात् शायद इन्होंने उसे भी वेदांत सुनाया हो, सांत्वना दी हो। दुःख के घूँट पीकर अपने काम में लग गयी। एक तरह से वह सुखी है। सुख-दुःख दोनों में समान होना चाहिए, जैसा कि तू कहती है।"

इतने में कात्यायनी की आँखें बोझिल होने लगीं। पास में सोया बालक कभी-कभी जागकर रोने लगता। वह की नींद उचट न जाय, इस विचार से बच्चे को अपने पास सुलाकर दूध पिलाती। बच्चा रोता होता तो दीवानखाने से श्रोत्रियजी अपने पास बुला लेते। दीये के प्रकाश में दादा का चेहरा देखता, तो तुतलाते हुए 'दादा-दादा' कहता उनके पास चला जाता। 'तुम सो जाओ' कहते और पौत्र को लेकर पिछवाड़े बगीचे में चले जाते। उसे आकाश के नक्षत्र दिखा-दिखाकर घूमते और वह कन्धे से लगा सो जाता। वे धीरे-धीरे भीतर आते, अपने बिस्तर पर सुलाकर शाल ओढ़ा देते। इसके बाद नींद आती तो सो जाते; अन्यथा ऊपरी मंजिल पर अपने अध्ययन कक्ष में दीप जलाकर पढ़ने लगते।

चीनी दो साल का हुआ तो उसे पकड़ना मुश्किल होने लगा। लक्ष्मी सदा उसके पीछे रहती। फिर भी वह सबकी आँखें बचाकर मार्ग में चलने लगता। एक दिन देवालय के आँगन में चला गया, लेकिन घर का रास्ता भूल गया और भीतर-ही-भीतर चक्कर लगाता रहा। देवालय में बाजा बजानेवाले बच्चे को पहचान गये थे किन्तु उसे घर पहुँचाने के पहले श्रोत्रियजी सारी गलियाँ छान चुके थे। लक्ष्मी भी घर के पीछे बहती गुंडल नदी के किनारे देख आई थी। दोपहर की कड़कती धूप में उसे बाहर न जाने देने के लिए घर के दोनों दरवाजों को बंद रखने लगे। फागुन मास की एक दोपहर! धीरे से वह घर से निकल पड़ा। शाम के चार बजे तक भी कोई पता न लगा। यह सोचकर कि कहीं नदी के पास गया होगा, श्रोत्रियजी मणिकर्णिका घाट की ओर दौड़े। पूर्व भाग में, जहाँ गुंडल और कपिला का संगम होता है, वह रेत में मेंढ़क का घर बनाकर बकरी चरानेवाले बच्चों के साथ खेल रहा था। दादा को देखते ही तुतलाकर बोला—'मेरा घल बड़ा।' दोपहर की धूप से उसका सारा शरीर पसीने से तर-बतर हो गया था। इस बीच प्यास लगी तो आसपास के गढ़ों में जमा पानी चार बार पी लिया। पौत्र को लेकर श्रोत्रियजी घर आये। बच्चे पर निगरानी न रखने के लिए उस दिन सब पर क्रुद्ध हुए। "अब कभी बाहर गया तो तेरे हाथ-पैर बाँध दूँगा।" कहकर बच्चे को डराया।

माँ की बगल में सोये बालक की श्वास रात के दस बजे तक भारी हो चुकी थी। माथे को स्पर्श कर कात्यायनी ने सास से कहा—"माँ, चीनी को बुखार है।" भागीरतम्मा ने बालक के माथे, गले, तलवों में नीलगिरी का तेल मला। दीवानखाने में श्रोत्रियजी भी आ पहुँचे। बच्चा सो रहा था। "सुबह औषध देंगे" कहकर वे बाहर आ गये।

दूसरे दिन सुबह श्रोत्रियजी का कलले जाना आवश्यक था। बुखार उतर गया था। कस्तूरी वटी देने की सलाह दी। स्नान किया और फिर नाश्ता करके बाहर निकल पड़े। बच्चा जागा और खेलने लगा। कात्यायनी और भागीरतम्मा ने संतोष की साँस ली। सास अन्दर काम कर रही थी। कात्यायनी सास को बालक पर नजर रखने को कह, कुँए पर कपड़े धोने गई। कपड़े धोकर लौटी तो चीनी नहीं था। वह

आँख बचाकर खिसक गया था। कात्यायनी भयभीत हो गई। उसे खोजने लगी। देखा, वह लक्ष्मी के साथ आ रहा था। लक्ष्मी ने बताया कि चीनी गुंडल नदी में खेल रहा था।

गर्मी के दिनों में गुंडल में घुटने-घुटने पानी रह जाता है और वह भी दूसरे किनारे पर। अतः बच्चों के डूबने का भय न था। सास-बहू ने दोनों द्वार बंद किये। दोपहर के तीन बजे फिर बुखार चढ़ा। शाम को श्रोत्रियजी घर आये तो बच्चे का शरीर आग-सा तप रहा था। आँखें लाल हो रही थी, चेहरा मुरझा गया था और अर्धचेतन अवस्था थी।

श्रोत्रियजी तुरन्त वेंकटाचल वैद्य को बुला लाये। नाड़ी देखने के बाद वैद्य ने बताया, "सन्निपात है जो इक्कीस दिन तक रहेगा। सावधान रहना चाहिए। गोली देता हूँ। डरने की बात नहीं।"

वैद्य का विश्लेषण ठीक था। बालक का बुखार नहीं उतरा। पूर्ण होश नहीं आया। कभी-कभी दादा के पुकारने पर 'हूँ' कर देता, मानों उसे कोई दूर से बुला रहा हो। और किसी की सुध ही नहीं थी उसे। वह न रोता और न हँसता। घर, दादा-दादी, माँ, लक्ष्मी सबको खोने की विस्मृति में अपने अस्तित्व को धकेल रहा था। श्वास भारी थी और दुर्बलता इतनी कि उस भार को सहने की शक्ति भी उसमें नहीं रही।

बारहवें दिन तक तबीयत खराब रही। उसके बाद तो बालक की चिन्ताजनक स्थिति की आशंका से घर का हर व्यक्ति विचलित हो उठा। लेकिन किसी ने कुछ नहीं कहा। पंद्रहवें दिन साँस रुकने लगी। बुखार के कारण सदा बंद रहने वाली पलकें अधखुली-सी दिखाई पड़ी। आँखों में कांति नहीं, चेहरे पर चेतना नहीं। हमेशा बच्चे के साथ ही रहने वाली भागीरतम्मा ने पति को पुकारा। श्रोत्रियजी ने पास आकर हाथ-पैर छूकर देखे। पैर ठण्डे पड़ते जा रहे थे। माथे पर पसीने की बूँदें थीं। साँस रुक-रुककर चल रही थी। बच्चे के बचने की उम्मीद छोड़ने की घड़ी पास आ रही थी। श्रोत्रियजी विचलित नहीं हुए। पास ही भयाकुल खड़ी लक्ष्मी को वैद्य को लिवा लाने के लिए भेजा। बच्चे को अपनी गोद में लेकर पत्नी से थोड़ी भस्म ले आने को कहा।

बच्चे का क्षीण शरीर ठंडा पड़ता जा रहा था। गर्मी लाने के लिए उसके हाथ-पैरों में भस्म मली जाने लगी। छाती पर नीलगिरी का तेल

लगाया और वैद्य की प्रतीक्षा में बैठ गये। कात्यायनी भाँप गई। यहाँ खड़े रहना उसके लिए असह्य हो उठा। सीधे रसोईघर में चली गई। उमड़ते दुःख को वह रोक न सकी। सिसक-सिसककर रोने लगी। आँचल मुँह में खोंस लिया। फिर भी आँसू न थमे। जोर-जोर से रोने लगी। बाहर से वैद्य के आने की आवाज सुनाई दी।

श्रोत्रियजी ने बहू से कहा—"बेटी, ऐसे वक्त पर रोने से कुछ नहीं होता। जाओ, वैद्य को यहीं बुला लाओ।"

वैद्य ने नाड़ी देखी। एक गोली शहद के साथ मिलाकर बच्चे के मुँह में डाली। उसे चूसने की शक्ति या होश बच्चे में न था। वैद्य ने कहा, "घबराने की बात नहीं। अपने-आप पिघलकर गले से नीचे उतर जाएगी।" शायद भस्म मलने की वजह से पैरों का ठंडा होना रुक गया, लेकिन पुनः गर्मी चढ़ नहीं रही थी। लगभग दो घंटे बाद जाते समय वैद्य ने एक गोली देकर कहा—"अब मैं जाता हूँ, इस गोली को दो-दो घंटे बाद डेढ़ बार घिसकर जीभ में लगाना। अब मैं सुबह आऊँगा।"

वैद्य के चले जाने के पश्चात् कात्यायनी दुःख से घुटती बच्चे के पास आई। भागीरतम्मा की आँखों में आँसू नहीं थे, लेकिन वृद्धा के चेहरे पर दुःख स्पष्ट दीख रहा था। लक्ष्मी पास आकर बोली, "शीनप्पा, मैं बच्चे को गोद में सुला लेती हूँ। लाओ, आहिस्ते से मुझे दे दो।" विचारमग्न श्रोत्रियजी ने कहा—"नहीं, उसे मेरी ही गोद में रहने दो।" और फिर बहू की ओर देखकर कहा—"दीवानखाने में घड़ी है, उसे यहीं ले आओ। दो घंटे में एक बार दवा देनी पड़ेगी। निश्चित समय पर मुझे याद दिलाना। मैं स्वयं दवा दूंगा, तुम लोगों से यह काम न होगा।"

भागीरतम्मा भीतर से ताम्र-पात्र में कपिला का जल ले आई। बच्चे को आराम देने की दृष्टि से श्रोत्रियजी पद्मासन लगाकर बैठ गये। उनका व्यक्तित्व आजानुबाहु था। इतना ऊँचा कि द्वार-प्रवेश के समय झुकना पड़ता। साठ की उम्र, फिर भी हृष्ट-पुष्ट शरीर। दिन में बीस मील चलने की क्षमता, गजब की स्फूर्ति, विशाल चेहरे पर सात्विक कांतियुक्त चमकती आँखें। "यः स्मरेत् पुंडरीकाक्षम् सबाह्याभ्यंतरशुचिः" का उच्चारण करते हुए पात्र से जल लेकर चारों ओर छिड़का। फिर

आचमन कर दायें हाथ से यज्ञोपवीत की ब्रह्म गाँठ पकड़कर आँखें मूँदे मन-ही-मन गायत्री-पाठ करने लगे।

कात्यायनी की आँखें बालक के चेहरे की ओर लगी हुई थीं। भागीरम्मा और लक्ष्मी श्रोत्रियजी का चेहरा देख रही थीं। उन दोनों को एक तरह से ढाढ़स बँध रहा था।

श्रोत्रियजी सनातनी थे। उनका पूर्ण विश्वास था कि मनुष्य गृहस्थ धर्म के निमित्त शादी करता है। वह गृहस्थ बनता है, इस संसार के अपने कर्त्तव्यों को निभाने के लिए। तत्पश्चात् सन्तान होती है, वंश-वृक्ष को कायम रखने के लिए। संतानहीन मनुष्य को अपने वंश-वृक्ष रूपी परिवार का अंतिम मनुष्य बनकर केवल शून्य को छोड़कर मरना पड़ता है। पितृत्व से प्राप्त यह जीव पितृ-ऋण से मुक्त होता है अपनी सन्तान द्वारा ही।

अपने वंश के प्रति उन्हें अपार अभिमान था। उनका विश्वास था कि श्रोत्रिय-वंश उतना ही प्राचीन है जितना कि श्रोत्र। जिस तरह गोत्र प्रवर्त्तक ऋषियों के काल का पता लगाना कठिन है, उसी तरह प्राचीन वंश का मूल भी खोजा नहीं जा सकता। जो वंश मानव ज्ञान से भी पुराना है, उसका इतिहास कोई पूर्णतः नहीं बता सकता। फिर भी उनका विश्वास है कि व्यक्ति का गौरव, अभिमान उसके अपने वंश से ही उपलब्ध होता है। "कादयपावत्सारनैध्रुव प्रवरत्रयान्वित आश्वलायन समन्वितः ऋक् शाखाध्यायी श्री श्रीनिवास श्रोत्रीयोऽहं भो ईश्वर स्वामभिवादयामि" द्वारा अपने प्रवर को रोज सन्ध्या-वंदन के समय स्मरण करते तो उन्हें एक विशिष्ट अव्यक्त आनन्द मिलता। वे अपना हर कार्य इस प्रज्ञा से करते कि उस स्तर का जीवन न बिताया तो वंश ही कलंकित हो जायेगा।

पुत्र की मृत्यु के पश्चात् पौत्र ही उनके वंश का आधार था। पुत्र के विवाह के बाद वे निवृत्त जीवन बिताने लगे थे, लेकिन अब पौत्र को विवाहित जीवन बिताते हुए देखने की इच्छा से पुनः प्रवृत्त जीवन प्रारंभ किया है। इनके नित्य जीवन में लोभ, झूठ आदि निम्न प्रवृत्तियाँ नहीं

हैं। और अब भविष्य में गृहस्थ बननेवाले पौत्र के लिए घर की स्थिति को बिगड़ने से बचाना उनके कर्त्तव्यों में से एक है। पिता नजुंड श्रोत्रिय जब स्वर्ग सिधारे, तब श्रीनिवास श्रोत्रिय अठारह वर्ष के थे। लगभग उसी समय शादी हुई। बीमार पिता इतने दिन जीवित रहे, यही काफी था। पुत्र की शादी करके उन्होंने अंतिम साँस ली। माँ इससे चार वर्ष पहले ही सिधार गई थीं। पिता का इकलौता पुत्र होने के कारण काफी जायदाद मिली थी। उससे इतनी आमदनी होती थी कि साल-भर आनन्द से रह सकते थे। उन्होंने न कंजूसी दिखाई, और न धन का दुरुपयोग ही किया। दुर्दिन के विचार से कुछ रुपये बैंक में रख देते और शेष दान-धर्म के कार्यों में लगा देते। मंदिर में हर वर्ष रथोत्सव, विद्वान-संगीतज्ञों को, पूजा-पाठ के लिए यात्रियों को, बाढ़ या अकाल के समय किसानों को बीज की मदद देने आदि में खर्च करते।

निर्लिप्त जीवन उन्होंने बचपन से ही पाया था। लेकिन बालक, जो उनके वंश का आधार था, को अपनी गोद में मृत्योन्मुखी देखकर उनकी चित्त-शांति विचलित हुए बिना न रही। गायत्री-पाठ के समय भी उनका मन निरातंक भक्ति से गायत्री छंद में लीन न हुआ। उनके हृदय की पुकार थी कि माँ गायत्री ही इस बालक को बचायेगी। सकामी मन की प्रार्थना में शुद्ध भक्ति कैसे आ सकती है? कभी सकाम पूजा न करने वाले श्रोत्रियजी आज मध्य रात्रि के समय आँखें मूदें अपने पौत्र के लिए प्रार्थना कर रहे हैं।

पुत्र की मृत्यु के बाद पौत्र ही भागीतरम्मा के पुत्र-वात्सल्य का केंद्र है। वह उसे ही पुत्र समझकर उसके पालन-पोषण में लगी है। वह भी चला गया तो इस बुढ़ापे में उनके प्रेम को कौन स्वीकार करेगा? "हे प्रभु! किस जन्म के पाप का प्रायश्चित्त करवा रहे हो?" कहती हुई वह अपने गृह-देवता की शरण में चली गई।

पति की मृत्यु से कात्यायनी सब-कुछ खो चुकी थी। अब उसके लिए इसे भुलाना असंभव था। छोटी उम्र से ही कठिनाइयों में पली थी। पिता श्रीरंगपट्टण में वकील थे। पिता की दूसरी शादी हुई। उनका थोड़ा-सा प्यार पाया, लेकिन माँ का प्यार उसे फिर कभी न मिला। रोज रेल से मैसूर पढ़ने जाती। इंटरमीडिएट पास किया। कालेज में विलक्षण

बुद्धि की छात्रा भी कहलाई। योग्य एवं उत्तम संबंध समझकर पिता ने श्रोत्रियजी के लड़के से शादी कर दी। पति बी० ए० में था। शादी के बाद एक बार परीक्षा दी। सफल नहीं हुआ। दुबारा परीक्षा देने की तैयारी कर ही रहा था कि पत्नी-पुत्र, माता-पिता सभी को छोड़, इस दुनिया से प्रयाण कर गया।

पति की मृत्यु के बाद उसे भविष्य अंधकारमय दीख पड़ा। उसका मन हमेशा बीते दिनों की याद करता रहता। बच्चे की बीमारी के बाद उसे अपना अदृश्य स्पष्ट दीखने लगा—मेरा एक बच्चा है, सास-ससुर हैं, बच्चे को बड़ा होना है, पढ़ना है, वह भी गृहस्थ बनेगा। ये सब मुझ से ही तो संबंधित हैं! भविष्य के इन दृश्यों के प्रति वह अभी तक अंधकार में थी। इस चित्र के मिटने का समय आया तो वह स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा। बालक ससुर की गोद में सोया अब भी मुश्किल से सांस ले पा रहा था। भीतर से उमड़ते दुःख को दबा सकने में अपने को असमर्थ पा वह वहाँ से उठी और रसोईघर में जाकर रोने लगी।

इस परिवार का और एक जीव है लक्ष्मी। उसके माँ-बाप श्रोत्रिय जी के पिता के जमाने से ही इनके घर में नौकर थे। लक्ष्मी जब पन्द्रह साल की थी, श्रोत्रियजी ने ही खर्च करके उसकी शादी करा दी थी। लेकिन शादी के चौथे वर्ष ही उसके पति का खून हो गया! विधवा लक्ष्मी पुनः श्रोत्रियजी के घर आ गई। कुछ समय बाद उसका पिता भी चल बसा। माँ तो लक्ष्मी के जनमते ही उठ गई थी। अब लक्ष्मी भी श्रोत्रियजी के परिवार की एक सदस्या बनकर उनके सुख-दुख में भाग लेती। जिन हाथों ने नंजुड श्रोत्रिय को खिलाया था, उन्हीं से अब नन्हे चीनी को खिला रही है। सीनप्पा श्रोत्रियजी के मन के सुख-दुःख को बारीकी से भाँप लेती। अब इस परिवार का अंकुर मुरझा जाने का वक्त आ गया है। अपने जी-जान से सेवा करना, वह जानती है। यह भी जानती है कि विधाता के विधान को वह मिटा नहीं सकती। लेकिन सीनप्पा श्रोत्रियजी के गायत्री मंत्र में उसे विश्वास था। अनासक्त भाव और किसी में था तो केवल इसी में।

रात भर कोई नहीं सोया। सबका चेहरा उतरा हुआ और आँखें सूजी हुई थीं। सुबह छह बजे वैद्यजी आये। बालक की नाड़ी और हाथ-पैरों को देखकर कहा—"संकट टल गया है। बुखार के अलावा सब ठीक है। हाथ पैर गर्म हैं। आज सोलहवाँ दिन है। पाँच दिन में बुखार भी चला जायेगा। धीरज धरिए।"

"सच कह रहे हैं वैद्यजी ?" आतुरता से भागीरतम्मा ने पूछा।

"हाँ, माँजी, श्रीकंठेश्वर की कृपा है।" विश्वास दिलाया और गोलियाँ देकर, दूध फाड़कर उसका पानी देने को कहकर वैद्यजी चले गये। बालक को बिस्तर पर सुला कर और कात्यायनी को वहीं रहने को कहकर श्रोत्रियजी स्नान करने चल दिये।

बाद के पाँच दिन बुखार तेज तो रहा, लेकिन बालक की साँस निरन्तर सामान्य गति से चलती रही। फटे दूध का पानी पिलाने पर गले से उतर जाता। घर में सबको शांति मिली। इक्कीसवें दिन सचमुच बुखार उतर गया और एक-दो दिनों में बच्चा पूरे होश में आ गया। होश में आते ही दुर्बल स्वर में बालक ने पुकारा, "दा...दा !"

पास ही बैठी कात्यायनी ने श्रोत्रियजी को आवाज दी। वे पूजा अधूरी ही छोड़, दौड़े आये। बालक के माथे पर हाथ रखकर पुकारा, 'चीनी।' बालक न बोला। लेकिन उसके चेहरे से यह स्पष्ट था कि वह दादा की आवाज पहचान गया है। पुत्र की आवाज पुनः सुनकर कात्यायनी की आँखों से आँसू झरने लगे। बहू को देखकर श्रोत्रियजी ने कहा—"बेटी, जिस तरह हम सुख को स्वीकार करते हैं, उसी तरह दुःख को भी स्वीकार करना चाहिए। भावावेग में कोई काम नहीं बनता।

ससुर की बात कात्यायनी न सुन सकी। पास आकर उसने बच्चे का हाथ पकड़ लिया।

इसके बाद एक महीने तक श्रोत्रियजी स्वयं बालक की देखभाल करते रहे। वैद्य द्वारा दी गई औषध, लेह्य आदि बालक को यथासमय देते रहते।

५

राजाराव के आक्सफोर्ड से लौटने पर कालेज के कला-क्षेत्र में नयी जान आ गई। विदेश जाने से पहले भी वह कालेज के नाटक संघ का अध्यक्ष था। तब भी विद्यार्थियों से उत्तम नाटक खिलाता था। अब विदेश में विशेष अध्ययन करके लौटने के बाद अध्यापक वर्ग में उसका मान और भी बढ़ गया। परिणामस्वरूप उसके प्रस्तुत किये नाटकों की प्रतिष्ठा भी बढ़ी। उसके मैसूर लौटने के चार महीने पश्चात् इंग्लैंड की एक प्रसिद्ध शेक्सपियर नाटक मंडली भारत आई। मैसूर में इस मंडली के चार नाटक होने थे। नाटक मंडली का रेलवे स्टेशन पर स्वागत करने से लेकर रंगमंच की व्यवस्था, टिकट-बिक्री, पहले दिन दर्शकों को मंडली और उसके सदस्यों का परिचय देना आदि समस्त कार्यों की जिम्मेदारी राज पर ही थी। उसे भी ऐसे कार्यों में बड़ी रुचि थी। मंडली को मैसूर में बड़ी सफलता मिली। अंतिम दिन के नाटक के पश्चात् मंडली के मैनेजर ने राजाराव को रंगमंच पर बुलाया, और गुलदस्ता भेंट करते हुए उसके सहयोग, रंगमंच-रचना के प्रति उसके अनुभव की मुक्तकंठ से प्रशंसा की। राज की प्रतिष्ठा में चार चाँद लग गये।

कालेज के प्रिंसिपल अपने कालेज को पाठ्येतर कार्यक्रमों में भी आगे बढ़ते हुए देखना चाहते थे। कालेज के नाटक संघ के लिए अलग से एक विशाल कमरा दिलवाने के अलावा, उन्होंने कालेज के खुले नाट्यगृह में हर माह एक नाटक खेलने की सुविधा भी दे दी। एक नाटक खेला गया और इससे प्राप्त धन से राजाराव ने संघ के लिए आवश्यक परदे, दृश्यालंकार-साधन आदि खरीद लिये।

राज में गंभीर अध्ययन-वृत्ति पहले से ही नहीं थी। वह बुद्धिशाली युवक अवश्य था। लेकिन बड़े भाई की तरह विद्यार्जन या ग्रंथ-रचना में उसकी रुचि नहीं थी। कालेज में खेलने के लिए वह स्वयं नाटक लिखता था। रंगमंच-पर वे सफल भी होते थे। लेकिन उन्हें प्रकाशित करने की चिंता उसने कभी नहीं की। वह जानता था कि इनका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं है। विदेश से आने के बाद उसने यथार्थवादी ढंग के कुछ एकांकी भी लिखे। वह किसी से भी जल्दी ही घुलमिल जाता और किसी भी समाज में अपने वाक्चातुर्य से प्रभाव जमा लेता था। सभा में किसी का परिचय कराता, धन्यवाद व्यक्त करता तो श्रोताओं के सिर अपने-आप हिलने लगते। अंग्रेजी तो उसी सरलता और अंदाज में बोलता, जैसे वह उसकी मातृभाषा हो। विद्यार्थी तो उसे अपना 'हीरो' ही मानते थे।

डॉ० सदाशिवराव का उत्तर भारत का प्रवास समाप्त हुआ। अब वे अपने महाग्रंथ का प्रथम खण्ड लिखने की तैयारी करने लगे। विश्व-विद्यालय के पुस्तकालय में उन्हें अलग से एक सुसज्जित कमरा मिल गया है। कुर्सी-मेज, आराम-कुर्सी, पंखा, पुस्तकों के लिए अलमारी आदि हर सुविधा उपलब्ध है। उन्होंने अपने लिए एक टाइपराइटर भी खरीद लिया। लेकिन ठीक टाइप करना नहीं जानते थे। राज अच्छा टाइप कर सकता है, लेकिन ऐसे कार्यों में उसकी रुचि नहीं। अतः बड़े भाई की ग्रंथ-रचना में किसी तरह सहयोग नहीं देता। असिस्टेंट प्रोफे-सर होने के नाते अब डॉ० राव का वेतन बढ़ गया है। राज को भी वेतन मिलता है। अतः पैसों की तंगी नहीं है। राज के आने के बाद घर की जिम्मेदारी डॉ० राव के कंधों से उतर गई। इससे पहले भी उन्होंने घर की जिम्मेदारी की ओर कभी ध्यान नहीं दिया था। नाग-लक्ष्मी ही यथाशक्ति सँभालती थी। 'बच्चे को बुखार आ गया है, किस डाक्टर के पास जायें?', 'आपके बिस्तर का खोल फट गया है, चलें नया ले लें"—आदि वह कभी-कभी पति से कहती। डॉ० राव पत्नी के साथ दवाखाने तक जाते। छः महीने में एक बार पत्नी के साथ बाजार जाना ही पड़ता। अब यह कार्य भी राज के जिम्मे हो गया। पृथ्वी को 'अ, आ, इ, ई' सिखाने से लेकर भाभी के

लिए साड़ी, भैया के लिए कागज, स्याही, फाइल आदि लाना भी उसी का काम है।

डॉ० राव सुबह नौ बजे उठते हैं। स्नान करने के बाद कुछ समय छत पर बैठकर बिताते। दस बजे राज के साथ बैठकर भोजन करते, फिर कालेज के लिए चल देते। कालेज में सप्ताह में तीन-चार घंटे पढ़ाते। जी न होने पर लिख भेजते, *'आज मैं क्लास नहीं लूंगा।'* और पुस्तकालय के अपने कक्ष में चले जाते। अमुक पुस्तक का अमुक अध्याय पढ़ना, अमुक ग्रंथ में वर्णित उस काल के जन-जीवन से संबंधित टिप्पणी लिखना, प्राच्य वेत्ताओं द्वारा प्रकाशित ग्रंथों को पढ़ना और मुख्य-मुख्य स्थानों पर निशान लगाना, कई बार प्राच्यसंग्रहालयों में जाना और पांडुलिपियां ढूंढना, शंकास्पद विषयों पर अपने विद्वान् विदेशी मित्रों को पत्र लिखना—अर्थात् इनका कार्य उतना ही अपरिमित है, जितना भारत का इतिहास। दोपहर में तीन बजे चपरासी होटल से थोड़ा उपाहार और काफी ले आता। इसके बाद वे फिर अपने कार्य में लग जाते। शाम को करीब सात बजे पुस्तकालय से घर लौटते। इस परिश्रम से उनके थके दिमाग को न किसी की याद आती और न रहती ही। ऐसी स्थिति में वे किसी से कुछ न बोलते और छत पर जाकर आराम-कुर्सी पर बैठ जाते। आठ बजे के करीब राज खाने के लिए बुलाता, तो नीचे उतरते और परोसी हुई पत्तल के सामने बैठ जाते। कभी-कभी राज, पृथ्वी और नागलक्ष्मी से बात कर लेते, अन्यथा चुपचाप भोजन के बाद अध्ययन-कक्ष में चले जाते। उनका यह अध्ययन-कक्ष खरीदे गये और पुस्तकालय से लाये गये ग्रंथों से भरा हुआ था। रात के दो-तीन और कभी कभी सुबह के पांच बजे तक उनका अध्ययन चलता। सुबह नौ बजे उठते। निवृत्त होकर भोजन करते और पुनः अध्ययन में रत हो जाते। रविवार और छुट्टी के दिन भी पुस्तकालय जाते। उन्हें एक अतिरिक्त चाबी दे दी गयी थी।

एक रविवार को दोपहर में पृथ्वी को बुखार आ गया। बुखार की गर्मी में बालक हठ कर रहा था "काका, मुझे अण्णा (पिताजी) के पास ले चलो।"

"नहीं बेटे! अण्णा रात को आयेंगे और तेरे पास ही सोयेंगे।

अब चुप रहो ।" कहकर राज मना रहा था । कुछ समय तक हठ करने के पश्चात् वह आँख मूँदकर सो गया । खाट पर सोये वालक के पास राज वैठ गया। रसोईघर के काम से निपटकर नागलक्ष्मी भी पास ही एक कुर्सी पर वैठ गयी । वालक और राज को देखकर उसकी आँखें भर आईं । वह अनायास ही रो पड़ी । यह देख राज ने कहा—"रो क्यों रही हो ? शाम को डाक्टर को बुला लेंगे । बुखार आया है तो उतर भी जायेगा ।"

"मैं इसलिए नहीं रोई ।" आँचल से आंसू पोंछते हुए नागलक्ष्मी ने कहा ।

"तो फिर किसलिए ?"

"बुखार आता है, चला जाता है । बच्चा 'अण्णा-अण्णा' की रट लगा रहा है, क्या उन्हें घर में नहीं रहना चाहिए ?"

"उन्हें क्या मालूम कि इसे बुखार आ गया है । सुवह तो यह ठीक था । अतः वे रोज की तरह आज भी लाइब्रेरी चले गये ।"

"रोज की तरह चले गये, यह तुम कितनी आसानी से कह गये । रविवार को भी क्यों जाते हैं ? पत्नी और वच्चे की तनिक भी चिंता हो, तव न ?"

राज चुप रहा। वह जानता है कि जव भाभी गुस्से में हो, वोलना नहीं चाहिए। लेकिन नागलक्ष्मी फिर वोली, "इनसे शादी हुए ग्यारह वर्ष हो गये । शुरू-शुरू में तीन दिन तक नागु-नागु पुकारते रहे । इसके वाद भुला ही दी गयी । फिर तीन वर्ष तक पी-एच० डी० करते रहे, पत्नी को पूर्णतः भूल गये । 'अब एक पुस्तक लिखता हूँ' कहकर और पाँच साल निकाल दिये । अव एक और भूत सवार हुआ है । कहते हैं 'महाग्रंथ लिख रहा हूँ, पाँच वड़े-वड़े खण्डों में !' पच्चीस वर्ष में उसे पूर्ण करने की योजना है । उन्हें किसी की फिक्र ही नहीं । तव तक मैं भी पचास की हो जाऊँगी । न जाने किस नक्षत्र में इनका जन्म हुआ था ! शादी से पहले हमारे गाँव के तिप्पाजोयसजी ने जन्म-कुंडली देखकर कहा था दोनों की जोड़ी सदा सुखी रहेगी ।"

"क्यों, निभ तो रही है ! अब झगड़ा किस बात का ? तुम अपनी ओर से झगड़ना भी चाहोगी तो भैया चुप ही रहेंगे ।"

"चुप नहीं रहूँगी तो क्या करूँगी ? तुम्हें सारी दुनिया की बातें समझ में आती हैं, लेकिन यह विषय नहीं। चुप रहो।" उसकी आँखें पुनः भर आईं।

राज आगे कुछ न बोला। उससे यह छिपा नहीं है कि अपने ग्रंथ की रचना में लीन उसका भाई अपने पत्नी-बच्चों से ही क्या,छोटे भाई से भी कभी बात नहीं करता। लेकिन उसे भैया के प्रति कोई शिकायत नहीं। इंग्लैंड में उसने प्रसिद्ध विद्वानों को अध्ययन करते देखा था। वह यह भी जानता था कि एकनिष्ठा के बिना महत् ग्रंथ-रचना का कार्य संभव नहीं है। इसी से भाभी से पूछा, "क्या तुम नहीं चाहती कि भैया महाग्रंथ लिखकर प्रसिद्ध विद्वान् बन जायें ? उन्हें महान् विद्वान् बनने का गौरव मिलेगा तो तुम्हें सुखी नहीं होगी क्या ?"

"खुशी क्यों न होगी ! उन्हें पढ़ने-लिखने से मैं थोड़े ही रोकती हूँ। लेकिन पत्नी-बच्चे को इस तरह भुला तो न दें !"

"यह काम ही ऐसा है। भैया ही नहीं, इंग्लैण्ड के विद्वान् भी ऐसे ही होते हैं। हमारे देश में भैया-जैसे तो विरले ही हैं।"

"तुमने कहा न कि इंग्लैंड में भी ऐसे लोग हैं, उनकी पत्नियाँ क्या करती हैं ?"

"उनकी पत्नियों को यह समस्या नहीं रहती। क्योंकि..., खैर छोड़ो।" कहकर वह चुप हो गया। उसने आक्सफोर्ड में देखा था कि नामी प्रोफेसरों की पत्नियाँ अपने पतियों के अध्ययन में मदद करने की क्षमता रखती हैं। वे अपने पति की पढ़ाई-लिखाई में, 'नोट' तैयार करने में, प्रूफ रीडिंग आदि में मदद करती हैं। पति के प्राप्त-सचिव का कार्य वे ही करती हैं। राज के प्राध्यापक की पत्नी भी वैसी ही थी। इसलिए पति-पत्नी के बीच बातचीत के लिए अनेक विषय होने के बावजूद, पत्नी के सहयोग के बिना पति की कोई भी बौद्धिक साधना पूरी नहीं हो पाती। पत्नी के नाराज होने का भी कोई कारण नहीं रहता। उस देश की पद्धति ही निराली है। वे मुक्त भाव से अपनी अभिरुचि, और जीवन-साधना के अनुरूप परस्पर अपना साथी चुन लेते हैं। कभी इस बात का आभास हुआ कि उनका साथ नहीं निभ सकता, तो तुरन्त अलग हो जाते हैं और पुनः अनुरूप साथी ढूंढ लेते हैं।

इस देश की पद्धति उचित है या उस देश का रिवाज, इसका निर्णय करने का प्रयास राज ने नहीं किया।

उसे मालूम है कि भाई-भाभी के बीच अगाध बौद्धिक अंतर है और भाई की बौद्धिक साधना में भाभी किसी तरह की मदद नहीं कर सकती। नागलक्ष्मी शादी के बाद राज के साथ मैसूर में पतिगृह में आई तो राज ने ही उसे अंग्रेजी सिखाने की कोशिश की थी। किसी तरह उसे कालेज भेजने की आशा भी की थी। इसमें भाई का प्रोत्साहन भी था। लेकिन नागलक्ष्मी का सीखने का मन न था। सीखने की आवश्यकता भी प्रतीत नहीं हुई। 'मेरे भाग्य में विद्या लिखी ही नहीं है; सीखकर भी क्या करना है?' कहकर वह दोनों को चुप कर देती थी।

राज ने बीच में ही बात रोक दी तो नागलक्ष्मी ने ही पूछा—"चुप क्यों हुए, राज?"

"यों ही। उस देश के विद्वान् भी भैया की तरह हैं। वहाँ की स्त्रियाँ भी तुम्हारी ही तरह सब-कुछ सहती हैं।"

"उसे जाने दो। तुम भी उन्हीं की तरह सीखे हो। जिस तरह तुम मेरे साथ बोल लेते हो, उसी तरह वे क्यों नहीं बोल सकते?"

"मैं तो 'चैटर-बाक्स' अर्थात् बातूनी आदमी हूँ!"

उसे हँसाने का प्रयत्न करते हुए राज ने कहा—"मैं थोड़े ही भैया की तरह पुस्तक लिखता हूँ! नाटक खेलना मेरा मुख्य काम है। बात करना ही मेरा अध्ययन है। क्या मैं भी पुस्तक लिखना शुरू कर दूं?"

"नहीं बाबा! तुम नाटक ही खेलते रहो।" नागलक्ष्मी कुछ याद करती-सी बोली, "तुम भी पच्चीस वर्ष के हो गये, शादी कर लो। मुझे घर में राहत मिल जायेगी।"

"मुझे शादी नहीं करनी है। अभी सुखी हूँ। नहीं तो वह भी—'आप पर आठों पहर नाटक का ही भूत सवार रहता है, मेरी चिंता ही नहीं' कहती हुई तुम्हारी तरह ही कोसा करेगी।"

उस दिन नागलक्ष्मी का मिजाज कुछ गर्म ही रहा। शाम को पाँच बजे राज बालक को लेकर डाक्टर के पास गया और दवा ले आया। डाक्टर ने कहा कि कोई गंभीर बीमारी नहीं है, कल बुखार उतर जायेगा—सब

कुछ ठीक हो जायेगा।"

रात को सात बजे डॉ० राव घर आये तो राज घर में न था। उनके आते ही नागलक्ष्मी ने पूछा—"रविवार को भी वहाँ गये बिना काम नहीं चल सकता क्या ?"

उसकी आवाज के भाव को समझ डॉ० राव चुप रहे। उसने पुनः पूछा—"चुप क्यों हो ?" तब डॉ० राव ने कहा—"गुस्से में कोई प्रश्न करे तो उसका उत्तर शान्ति से देने पर भी सुनने वाले का क्रोध बढ़ ही जाता है और क्रोध में उत्तर दो तो भी बढ़ता है। अतः चुप रहना ही विवेक पूर्ण है !"

तब उसने डॉ० राव का हाथ पकड़कर, कमरे में पृथ्वी के पास ले जाकर कहा, "बच्चे को दोपहर से बुखार है।"

"राज घर पर नहीं था ?"—बच्चे के माथे पर हाथ रखकर डॉ० राव ने पूछा।

"था ! वह नहीं तो और कौन करेगा ? डाक्टर के पास जाकर दवा लाया। लेकिन बच्चे के पिता को इसकी रत्ती-भर चिन्ता नहीं !"

राव ने कुछ नहीं कहा। बालक के पास चुपचाप बैठ गये। पति को दो मिनट तक एकटक निहारकर नागलक्ष्मी ने कहा, "चुपचाप बैठने के अलावा आपको कुछ सूझता भी है ?"

"मैं क्या करूँ ? राज दवा ले आया है। और देखभाल तुम करती हो।"

"हाय री किस्मत !" कहकर नागलक्ष्मी सिसक-सिसककर रोने लगी।

डॉ० राव दुविधा में पड़ गये। उन्होंने हाथ पकड़कर अपने पास बिठाया। फिर उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा—"तेरे मन की बात मैं समझ सकता हूँ नागु ! खैर, छोड़ो। अब मैं जल्दी घर आ जाया करूँगा।"

उसके लिए इतना ही काफी था। दो मिनट में ही अपने-आप संभलकर पति की बाँहों को दोनों हाथों से कसकर कहा—"मैं यह नहीं कहती कि आप पढ़ें नहीं। मुझे इस तरह भुलाकर पढ़ें, तो मैं कैसे रहूँ ?"

आपका पूर्ण मार्गदर्शन मिलेगा। उसी को पी-एच० डी० के लिए शोध-प्रबंध के रूप में प्रस्तुत करने का इरादा है। तत्पश्चात् प्रकाशित कराने की बात सोच रही हूँ। इस शोध-कार्य में आपके मार्गदर्शन की इच्छा सँजोए हूँ—आपकी स्वीकृति की अपेक्षा है। मेरे माता-पिता और भाई ने भी इस योजना को पसन्द किया है। कृपया मुझे अपनी छात्रा के रूप में स्वीकार करें। आपकी स्वीकृति पाते ही मैं यहाँ से रवाना हो जाऊँगी।"

विश्वविद्यालय-वृत्त में ऐसी विदुषी छात्रा को शिष्या के रूप में पाना, प्रोफेसरों के लिए गौरव की बात है। किन्तु डॉ० राव ने महसूस किया कि शोध-कार्य के लिए इतनी दूर से अकेली युवती का आना ठीक नहीं। फिर यह सोचकर कि वह इंग्लैंड अकेली ही तो गयी थी और दो साल शिक्षा पाकर लौटी है। वहाँ डॉ० राव ने पत्र लिखा—"मेरे मार्गदर्शन में शोध-कार्य करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। तुम अपनी सुविधानुसार कभी भी आ सकती हो।"

एक दिन शाम के चार बजे नागलक्ष्मी आँगन में चमेली के पौधे के पास खड़ी थी। सफेद साड़ी पहने एक साँवले रंग की युवती ताँगे से उतरी और फाटक के पास आकर अंग्रेजी में पूछने लगी—"डॉ० सदाशिवराव हैं?"

नागलक्ष्मी प्रश्न समझ गयी। कन्नड़ में 'हैं' कह दिया, लेकिन रत्ने न समझ सकी। उसने पुनः अंग्रेजी में पूछा, तो नागलक्ष्मी की समझ में न आया। अब रत्ने लौट ही जाने वाली थी कि राज आ गया। परस्पर वातचीत के वाद उसने आगंतुक युवती को भीतर ले जाकर विठाया और भाभी से काफी वनाने के लिए कहा। काफी पीने के पश्चात् पूछा—"आपका भोजन हो चुका है?"

"जी हाँ। रेल से उतरने के वाद एक होटल में भोजन करके ही यहाँ आई हूँ।"

"आपके आने की तारीख आदि के वारे में मेरे भैया जानते हैं?"

"लिखा था। उन्होंने पत्रोत्तर भी दिया था।"

"शायद वे भूल गये होंगे। अपने अध्ययन में उन्हें कुछ भी याद नहीं रहता। मेरे साथ आइए। पुस्तकालय में स्थित उनके कमरे में ले

चलता हूँ।"

जाते-जाते रास्ते में रत्ने और राज ने परस्पर अधिक परिचय कर लिया। डॉ० राव कमरे में आराम-कुर्सी पर पीठ टेककर बैठे किसी नोट के बायीं ओर लाल पेंसिल से कुछ रिमार्क लगा रहे थे। मेज पर हस्त-लिखित पांडुलिपियाँ, पेन, पेंसिल, आठ-दस अधखुली किताबें पड़ी हुई थीं। सारा कमरा पुस्तकों से भरा पड़ा है। कमरे में अभी तक दोपहर की गर्मी बनी थी, लेकिन लगता है राव पंखा चालू करना भूल गये हैं। पैर पसारकर बैठे थे। रत्ने को भीतर आते देखकर, कुछ तनकर बैठते हुए कहा—"आइए-आइए, स्वागत है! मैं भूल ही गया था। कब आईं?"

रत्ने और राज दोनों पास की कुर्सियों पर बैठ गये। डॉ० राव ने कुशल-समाचार पूछा—"आपके माता-पिता कुशल तो हैं?"

"कुशल है! आपको नमस्कार कहा है।"

डॉ० राव अभी तक अध्ययन की धुन में ही थे। वे समझ नहीं पा रहे थे कि अब क्या बोलना चाहिए। कुछ न कहकर चुप बैठ गये। इस चुप्पी से रत्ने को कुछ संकोच हुआ। इसे भाँपकर वातावरण को कुछ हलका बनाने के उद्देश्य से राज ने कहा—"आप बहुत दूर आ गई हैं।"

"ओह! दूर कहाँ?"

राज ने तुरन्त कहा—"सिंहल और भारत के बीच ज्यादा दूरी तो नहीं है, अन्यथा रावण सीता को एक ही बार में कैसे उठा ले जाता?"

रत्ने हँस पड़ी। डॉ० राव भी 'मूड' में आ गये। उन्होंने कहा—"रामायण के कवि ने सिंहल को अवश्य देखा होगा। यद्यपि कवि ने सिंहल के राजा रावण को राक्षस कहा है, फिर भी वेदनिष्ठ, ब्रह्म तपस्वी के रूप में उसको वर्णित किया है। सांस्कृतिक दृष्टि से ये दोनों देश एक ही हैं।

राज ने कहा—"भैया, ये इतनी दूर से आई हुई हैं और आप उनका कुशल-समाचार पूछना छोड़कर इतिहास पर व्याख्यान देने लग गये।"

डॉ० राव ने अपनी गलती महसूस कर रत्ने से पूछा—"कहाँ रहने

की व्यवस्था की है ?"

"होटल में ।"

"आपको होटल में रहने की आवश्यकता नहीं थी । सीधे घर आना चाहिए था । अब एक काम कीजिए । मेरे भाई के साथ जाकर सारा सामान यहाँ ले आइए । रजिस्ट्रेशन के लिए कल विश्वविद्यालय को अर्जी देंगे । एक-दो दिन के लिए लड़कियों के होस्टल में रहने की व्यवस्था की जा सकती है ।"

राज और रत्ने के चले जाने पर डॉ० राव पुनः अध्ययन में लग गये । रत्ने और उसके सामान के साथ आठ बजे के करीब राज घर लौटा । रत्ने को अंग्रेजी में अपनी भाभी —गुरु-पत्नी—का परिचय कराया । रत्ने ने नमस्कार किया । नागलक्ष्मी ने प्रति नमस्कार किया । अन्दर भोजन बनाते समय मौका देखकर नागलक्ष्मी ने राज से पूछा— "युवतियाँ शादी कर घर बसाना छोड़कर इतनी दूर क्यों जाती हैं ?"

"क्यों, पढ़ने के लिए ! वह इंग्लैंड जाकर उतना ही पढ़ी है जितना कि मैं । अब भैया के मार्गदर्शन में सीखने के लिए आई है । भैया को आप क्या समझती हैं ?"

"क्या तुम्हारा ही सम्बन्ध है उनसे ? मेरा कुछ नहीं ?" नागलक्ष्मी ने अभिमान से कहा ।

"क्या संबंध है, यह तुम उन्हीं से पूछो ।" कहकर राज बाहर चला गया । डॉ० राव आठ बजे घर आये । तब तक राज अतिथि से बातें करता रहा । इंग्लैंड के छात्र-जीवन के बारे में उनकी बातचीत चल रही थी ।

६

घर में वात्सल्यमयी सास-ससुर और एक प्यारा बच्चा है । जीवन की सारी सुविधाएँ भी हैं । फिर भी कात्यायनी को जीवन नीरस लग

रहा था। स्वर्गीय पति की स्मृति-वेदना पहले-जैसी उत्कट नहीं थी। वह अब कभी-कभी सास-ससुर से हँसकर बात कर लेती। बच्चे के साथ कभी घोड़े का खेल, तो कभी आँख-मिचौनी खेलती। फिर भी समय बिताना उसके लिए कठिन था। सुबह उठकर घर में झाड़ू देती, रंगोली माँड़ती। इस बीच सास-ससुर नहा-धो लेते। ससुर पूजाघर में होते और सास रसोईघर में। अन्य कार्य लक्ष्मी करती। बच्चे को कपड़े पहनाकर, खुद स्नान करती। फिर सबके कपड़े धोकर सुखाने डालती। बस, यही उसका घर का काम होता था। बाकी समय कैसे बीते? सास कभी-कभी शतरंज खेलती। लेकिन कात्यायनी को उसमें रुचि नहीं थी।

पति के देहान्त के बाद कात्यायनी के पिता उसे कुछ दिनों के लिए अपने साथ श्रीरंगपट्टरा ले गये थे। लेकिन उसे वहाँ भी शांति न मिली। वहाँ उसकी सौतेली माँ जो थी। 'माँ' उम्र में उससे आठ वर्ष बडी थी। पिता, आचार में ससुर से भी बढ़कर थे। सास के आचार और पिता की शुद्धाचारिता में बड़ा अंतर था। अगर श्रोत्रियजी अपने आचरण को प्रकाश प्रदान करने वाले धर्म के अंत-सत्त्व को पहचानने का प्रयत्न करते, तो वकील श्रीकंठय्य धर्म के बाहरी रूप का हर तरह से पालन करते। नंजुंड की मृत्यु के पश्चात् श्रीकंठय्य कात्यायनी के पुनः विवाह के पक्ष में थे, लेकिन श्रोत्रियजी ने इसे कोई महत्व नहीं दिया। पिता के घर अधिक दिन न रह, वह नंजनगुडू लौट आई। कभी-कभी वह अकेली ही बगीचे में जाती और पौधों की क्यारियाँ बनाती। घास-तिनके बाहर फेंकती। पौधों को सींचती। घर के पिछवाड़े मोगरा-चमेली की लताओं में सुन्दर सुगंधित फूल खिलते। कात्यायनी इनमें भरपूर पानी डालती। लेकिन बगीचे में काम करते-करते पति की याद आ जाती। पहले वे दोनों मिलकर सींचते थे। फूलों से लदे कुटिया के आकार के मोगरे के पौधों की ओट में फूल चुनते समय कई बार उन्होंने छेड़-छाड़ की थी। इस पर वह कृत्रिम क्रोध प्रकट करती थी। अब जब कभी वह बगीचे में आती, वे स्मृतियाँ उभर आतीं।

बगीचे में हरे-भरे पौधे लहलहा रहे थे। फसल कटने के बाद घर के पिछवाड़े का जो खेत सूखकर बंजर-सा दिखाई देता था, अब हरा-भरा

हो उठा था। सदा बंजर रहना न प्रकृति का नियम है, और न धर्म ही। लेकिन कात्यायनी यह सोचकर आह भरती कि मेरा मुरझाया जीवन सदा के लिए मुरझा गया। लेकिन बच्चे को देखती तो मन भर आता। किंतु बच्चे के पालन-पोषण में ही उसकी चेतना पूर्णतः लीन नहीं हो सकती थी। कभी-कभी बगीचे में काम करते समय श्रोत्रियजी अचानक वहाँ आ जाते। बहू को देख कहते—"इस कड़ी धूप में यह क्या करती हो बेटी ? अन्दर जाओ।" ससुर के वात्सल्य को याद करती तो दुःखमय जीवन में नयी उमंग पैदा हो जाती। कभी-कभी उसे अपने कालेज जीवन की याद हो आती। हर रोज वह रेल द्वारा श्रीरंगपट्टण से मैसूर आती थी। कालेज में वह कुशाग्र बुद्धि की छात्रा मानी जाती थी। सीनियर इंटरमीडिएट में एक बार विद्यार्थियों ने 'सावित्री-सत्यवान' नाटक खेला था, जिसमें उसने सावित्री का उत्तम अभिनय किया था। दर्शकों के अश्रुकण रोके न रुकते थे। 'सत्यवान' को यम से मुक्त कराने वाली कात्यायनी, वास्तविक जीवन में अपने विवाह के दो वर्ष भी पूर्ण न कर सकी ! इंटरमीडिएट उत्तीर्ण होते ही उसकी शादी हो गई थी और आगे की पढ़ाई भी रुक गई थी। लेकिन उसे इसका कभी दुःख नहीं हुआ। श्रोत्रिय-दम्पति से सास-ससुर, नंजुंड जैसे पति के सम्मुख कालेज-अध्ययन का क्या महत्व !

अब उसे एक नई बात सूझी। "नंजनगुडू से कई लड़कियाँ रोज कालेज में पढ़ने मैसूर जाती हैं। मैं भी क्यों न बी० ए० कर लूँ ?" इस विचार के पीछे उसकी और एक आशा मँडरा रही थी। उसका पति पहली बार बी० ए० में न बैठ सका। दूसरी बार बैठा तो दो विषयों में फेल हो गया। तीसरी बार घर पर ही पढ़ता रहा। लड़के को बी० ए० देखने की माँ-बाप की बड़ी इच्छा थी। पति की सारी पुस्तकें छत पर रखी थीं। कात्यायनी ऊपर गई, अलमारी खोलकर देखी। संस्कृत, अंग्रेजी, इतिहास आदि की कई पुस्तकें रखी थीं। सब व्यवस्थित जिल्द में हैं और उन पर एन० एस० नंजुंड श्रोत्रिय भी लिखा है। कई-एक पुस्तकों पर स्वयं उसी ने नाम लिखे थे। एक बार पति ने पेंसिल से पत्नी का नाम 'कात्ती' लिख दिया था, जिसे कात्यायनी ने रबर से मिटा दिया था। वह चिह्न आज भी अमिट था।

फिर से कालेज जाने की उसकी आशा धीरे-धीरे बलवती होती गई। शंका थी कि ससुर मानेंगे या नहीं। लेकिन उनसे पूछने का निश्चय कर, एक दिन उसने पूछ ही लिया। उन्होंने कहा—"बेटी, अब नियमित खाना-पीना छोड़ने और रेल में चक्कर लगाने की जरूरत भी क्या है? सुख से घर में रहो। चीनी के बड़ा होने पर उसे पढ़ायेंगे।"

"आज वे होते तो इस साल बी० ए० अवश्य कर लेते! हमारी किस्मत में कुछ और ही बदा है। उनके नाम से इतना मैं कर लूं तो मन को एक तरह से शांति ही मिलेगी।" इतना कहकर वह चुप हो गई।

किसी बात पर ध्यान न देना श्रोत्रियजी का स्वभाव नहीं था। पिछले कुछ दिनों से वे बहू के नीरस जीवन को देख रहे थे। सोचा, अगर कालेज जाने से इसका दिल बहल सकता है, तो ठीक ही है। फिर भी कहा—"मैंने तुमसे भगवद्गीता पढ़ने के लिए कहा था। कालेज जाने के बदले भगवद्गीता पढ़ो। मन को शांति मिलेगी। उपनिषद् भी पढ़ो। चाहो तो रोज पूजा के बाद मैं पढ़ा दिया करूँगा। खाने पहनने का अभाव हो तो दूसरी बात है। भगवान् की कृपा से कोई कमी नहीं है। मेरा तो विचार है कि तुम-जैसों के लिए कालेज की अपेक्षा उपनिषद्-भगवद्गीता ही अधिक उपयुक्त है।"

श्रोत्रियजी बिना कोई विशेष अर्थ लगाये कह गये थे, लेकिन अन्तिम वाक्य 'तुम-जैसों के लिए' सुनकर कात्यायनी के मन को आघात लगा। आँखों से आँसू छलक पड़े। श्रोत्रियजी कारण न समझे, किन्तु आँसू देख उन्होंने सान्त्वना देते हुए कहा—"तुम पढ़ना ही चाहती हो तो पढ़ो। रोती क्यों हो?"

आँसू पोंछकर कात्यायनी ने कहा, "भगवद्गीता पढ़ने का प्रयत्न किया, पर उसके प्रति रुचि नहीं उपजी। मैं क्या करूँ? अलमारी में रखी उनकी किताबें पढ़ने लगी तो मन रम गया।"

"तू ठीक कह रही है बेटी। सबका एक वक्त होना है!" कहकर श्रोत्रियजी चुप हो गये।

एक दिन दोपहर में कात्यायनी बच्चे के साथ ऊपर सो रही थी। भागीरतम्मा, लक्ष्मी और श्रोत्रियजी नीचे आँगन में बातचीत कर रहे थे। भागीरतम्मा ने कहा, "इतना सब हो चुकने के बाद, अब कालेज क्या? वह दुनिया क्या जाने? वह पूछती है और आप स्वीकृति दे देते हैं। घर में बेटे की देखभाल करते हुए आराम से नहीं रहा जाता?"

पत्नी को समझाते हुए श्रोत्रियजी ने कहा, "अभी छोटी उम्र है। घर में बैठकर करना भी क्या है? एक-दो साल पढ़ने दो।"

"इस छोटी उम्र में जो-कुछ भी हुआ, क्या इसका हमें दुख नहीं है? सिर मुंड़ा लेती तो अनेक कार्यों में हाथ बँटा सकती थी। पूजाघर की सफाई करती, रांगोली माँड़ती, नैवेद्य बनाने में मदद करती। इन कार्यों के साथ व्रत संबन्धी कथाएं पढ़ती। किसी तरह समय बीतता ही। वह ठहरी आजकल की लड़की। आप मुंडन कराना नहीं चाहते थे, और मेरा मन भी इतना कठोर न था। अब क्या होता है?"

लक्ष्मी ने बीच में ही कहा—"अब वह पति की पढ़ाई की इच्छा पूरी करने के लिए ही जा रही है न? पति के नाम पर पढ़ेगी, अपने लिए तो नहीं? पढ़ने दो, तुम्हारा क्या जाता है?"

भागीरतम्मा यह सोचकर चुप रह गई कि बहू आखिर बी० ए० की डिग्री हासिल करने ही तो जा रही है, जिसे स्वर्गीय पुत्र न पा सका। उनकी चुप्पी ही सम्मतिसूचक थी। अब श्रोत्रियजी ने कहा, "इस छोटी उम्र में सिर मुंड़ाकर घर बैठाने की परंपरा अब किसे भाती है? कोई स्वतः प्रेरित होकर ऐसा करे, तो ठीक है। 'ये सब अलंकार जिसके लिए होने चाहिए, उसी के चले जाने से अब उनका क्या महत्व?' जब तक वह मन से नहीं उपजता, तब तक बाहर से कोई न लादे, यही उचित है।"

इतने में बाहर से किसी के आने की आहट हुई। लक्ष्मी ने जाकर देखा। डॉ० राव थे। श्रोत्रियजी तुरंत बाहर आये और हाथ जोड़कर कहा, "आइए, आइए! दर्शन हुए डेढ़ साल हुआ न? भीतर दीवानखाने में चलिए।"

चमड़े के बड़े थैले को अपने साथ लेकर डॉ० राव दीवानखाने में कुर्सी पर बैठ गये। श्रोत्रियजी भीतर से एक बड़ा लोटा मठा लाकर

उनके सामने रखते हुए बोले, "खाने के लिए कुछ लेंगे ?"

"अभी एक-दो घण्टे कुछ नहीं लूंगा। भोजन के बाद ही निकल पड़ा था।"

कुछ समय तक परस्पर कुशल-क्षेम की बातें हुई। डॉ० राव ने महाराज से प्राप्त सुविधाओं की चर्चा की। श्रोत्रियजी ने पूछा, "आपका ग्रंथ कहाँ तक पहुँच गया ?"

"यही बताने के लिए आया हूँ। प्रथम खण्ड के कुछ अध्यायों की कच्ची सामग्री तैयार कर ली है। प्रथम अध्याय 'भारतीय संस्कृति का आदि और आधार' तैयार है। यही मुख्य अध्याय भी है। इस संबंध में आपसे कुछ विचार-विमर्श करना चाहता था।"

"अवश्य ! हाथ-पाँव धो लीजिए और थोड़ा आराम कर लीजिए। बाहर कड़ी धूप है।" कहकर श्रोत्रियजी डॉ० राव को गुसलखाने में ले गये। लौटकर डॉ० राव ने थैले से टाइप किये हुए कुछ पत्र निकाले।

"चलिए, ऊपर चलें। मैं भी वृद्ध हो चला हूँ। स्मरण-शक्ति कम होती जा रही है। अकस्मात्, किसी ग्रंथ को देखना पड़ा, तो फिर वहाँ जाना पड़ेगा।"

दोनों सीढ़ियाँ चढ़ रहे थे तो कात्यायनी बच्चे को लेकर नीचे उतर रही थी। बच्चा अभी-अभी जाग उठा था। उसे देखकर डॉ० राव ने पूछा, "कैसी हो बहन ?"

"आप कब आये ?" कात्यायनी ने पूछा।

और फिर दोनों विद्वान् अध्ययन-कक्ष में मृगछाला पर आमने-सामने बैठ गये। अपने पत्रों पर एक बार नजर डालकर डॉ० राव ने कहा, "अपौरुषेय वेदोपनिषद् ही भारतीय संस्कृति का आदि और आधार हैं—इस सिद्धांत के साथ ग्रंथ का प्रारंभ होता है। आगे के समस्त भागों में, आने वाली संस्कृति का हर आधार वेदोपनिषदों में होना चाहिए। कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि मूर्ति-पूजा, नागपूजा, प्रकृति-आराधना आदि का उल्लेख वेदोपनिषदों में नहीं है। ये सब बाद में अनार्य संस्कृति से आ मिले हैं। इस मत को अगर मान लिया जाय तो ग्रंथ का प्रारंभ ही गलत हो जाता है। इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ?"

प्रश्न को गहराई से सोचने के पश्चात् श्रोत्रियजी ने कहा, "हम यह क्यों स्वीकार करें कि प्रकृति-पूजा अनार्यों की देन है और वह निम्न स्तर की आराधना है ? नागपूजा आदि पद्धतियाँ आर्यों की क्यों नहीं हैं ? वेदों में भी तीन तरह की उपासना के संकेत मिलते हैं—भूतोपासना, भूताभिमानी देवोपासना और अंतर्यामी उपासना। भूतरूपी अग्नि की उपासना करते समय भूताभिमानी देवता अग्नि की ही कृति उपलब्ध होता है। लेकिन उसे अग्नि के रूप में अन्तर्यामी परब्रह्म ही पाते हैं। अंतरार्थ को जाने बिना की जाने वाली भूत-पूजा निम्न स्तर की है। अर्थ को जानकर की जाने वाली प्रकृति-पूजा वेदों में भी है।"

दोनों साँझ के सात बजे तक इसी तरह चर्चा करते रहे। डॉ० राव बीच-बीच में अपनी नोट बुक में कुछ निशान लगाते जाते। तीनों वेदों से, श्रोत्रियजी को अनेक मंत्र कंठस्थ थे, जिन्हें वे उद्धृत करते। कभी-कभी मुद्रित संस्कृत ग्रंथों के पन्ने पलट-पलटकर डॉ० राव को दिखाते।

रात के आठ बजे श्रोत्रियजी अध्ययन-कक्ष से बाहर निकले। स्नान किया और पूजा-पाठ के लिए चले गये। डॉ० राव चर्चित विषयों पर दीवानखाने में बैठे सोचते रहे। नौ बजे भोजन के पश्चात् पुनः अध्ययन-कक्ष में चर्चा करने लगे। रात के करीब एक बजे दोनों नीचे उतरे और लेट गये। अब श्रोत्रियजी ने अपनी बहू की पढ़ाई के संबन्ध में पूछा। डॉ० राव ने कहा, "एक तरह से अच्छा ही है, घर में बैठकर करेगी भी क्या ?"

"यह तो ठीक है। लेकिन पत्नी सहमत नहीं है। कालेज के बारे में उसकी धारणा अच्छी नहीं है।"

"अच्छे लोग कहीं भी रहें, कुछ नहीं होता। बिगड़ने वाले कभी और कहीं भी बिगड़ जाते हैं। कालेज बुरा तो नहीं है। मैं भी कालेज में ही रहता हूँ न ?"

श्रोत्रियजी को डॉ० राव की बात पसंद आई। उन्होंने पूछा, "गर्मी की छुट्टियों के बाद कालेज कब खुलने वाला है ?"

"दस दिन और हैं। उसे चौबीस जून को भेज दीजिए। मुझे विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी में एक कमरा मिला है। उसी में बैठता हूँ। उस दिन फार्म भरकर दे देंगे। फिर नियमित रूप से जाना होगा।"

श्रोत्रियजी ने अब निर्णय कर लिया कि कात्यायनी कालेज जायेगी।

श्रोत्रियजी के घर के पास डॉ० श्रीपादराव रहते हैं। उनकी बेटी वासंती इस साल सीनियर बी० ए० में है। जब वासती को पता चला कि कात्यायनी भी उसी कालेज में पढ़ने वाली है तो वह स्वय जाकर मालूम कर आई। कात्यायनी को खुशी हुई कि चलो, दोनों साथ-साथ कालेज जाया करेंगी। श्रोत्रिय-दम्पति को भी तसल्ली हुई। डॉ० राव ने अन्तिम तिथि से पहले ही श्रोत्रियजी के नाम प्रवेश-पत्र भेज दिया था। फार्म पर सरक्षक के रूप में श्रोत्रियजी ने हस्ताक्षर किये। भागीरतम्मा के कहने पर कात्यायनी ने फार्म भगवान के सामने रखा, प्रदक्षिणा कर नमस्कार किया और फार्म लेकर कालेज जाने के लिए तैयार हो गई।

उस दिन सुबह से ही कात्यायनी एक अजीब-सी परेशानी और भय महसूस कर रही थी। सोच रही थी कि घर छोड़कर प्रति दिन कालेज जाकर क्या हासिल करूंगी? भोजन करते समय भी यह प्रश्न उसके दिमाग में घूमता रहा कि सुबह नौ बजे घर से निकली तो शाम के साढ़े छह बजे तक घर की छाया भी नहीं मिलेगी, बच्चे के प्यारे-प्यारे तुतलाते बोल अनसुने ही रह जायेंगे। क्या कालेज में मन लगेगा? दो साल तक ऐसा ही करना होगा। इसी विचार में खोई थी कि भोजन करते वक्त चीनी आया और तुतलाते हुए पूछने लगा, "हमें छोड़कर तू अकेली खा रही है?"

"तेरी माँ पढ़ने के लिए मैसूर जा रही है बेटे!" परोसती हुई भागीरतम्मा ने कहा।

"कालेज क्यों जा रही है?" बालक का दूसरा प्रश्न था। कात्यायनी उत्तर न दे पाई। पौने नौ बजे वासती श्रोत्रियजी के घर आई। कात्यायनी सास-ससुर के चरण स्पर्श कर जाने लगी तो चीनी मचल उठा, "माँ, तुम मत पढ़ो, नहीं तो मुझे भी ले चलो।" और उसने आंचल पकड़ लिया। श्रोत्रियजी ने बच्चे को गोद में उठा लिया और उसे समझाने लगे, "बेटे, माँ शाम को आ जायेगी, तू घर में ही रह।" "अच्छा, जल्दी घर आना।"

दुविधा में पड़ी कात्यायनी वासंती के साथ स्टेशन पहुँची। घर से केवल पाँच मिनट के फासले पर स्टेशन है। गाड़ी में महिलाओं के डिब्बे में बैठी कि उसकी आँखें भर आईं। वासंती ने सान्त्वना दी। गाड़ी धीरे-धीरे चलने लगी। कात्यायनी को महसूस हुआ कि गाड़ी उसे कहीं ले जा रही है। शाम को साढ़े छह बजे इसी गाड़ी से घर लौटना है। गाड़ी धीमी गति से चल रही थी। ज्येष्ठ की बारिश शुरू ही हुई थी। कपिला कुछ भरी थी। जब गाड़ी नदी के पुल पर आई तो पूर्व दिशा की ओर बह रही कपिला के दोनों किनारों पर उसकी नजर पड़ी। आधे मील पर श्रीकण्ठेश्वर देवालय अचल खड़ा था। उस देवालय के बायीं ओर कतार में सीढ़ीदार स्नान-घाट हैं। इन्हीं स्नान-घाटों पर दो साल पहले, उसका सिंदूर पुंछ चुका था। तब भी ज्येष्ठ मास ही था। उस साल बारिश जल्दी शुरू हो गई थी, इसलिए नदी में आज की अपेक्षा अधिक प्रवाह था।

गाड़ी आगे बढ़ी। वासंती कात्यायनी से बात करने लगी। वे दोनों सहेलियाँ तो नहीं थीं, फिर भी थोड़ा परिचय अवश्य था। अब साल-भर के इस सहप्रवास में परिचय, स्नेह में बदल गया। वासंती ने बातचीत के दौरान इस बात की सावधानी बरती कि कात्यायनी के कोमल भावों को ठेस न पहुँचे। पूछा, "आप ऐच्छिक विषयों में क्या ले रही हैं?"

"इतिहास, इंग्लिश और संस्कृत।"

"इन्हीं विषयों को क्यों लिया?"

कात्यायनी चुप रही। उसके पति इन्हीं विषयों को पढ़ते थे। घर में उनकी सारी किताबें पड़ी थीं। किताबों की सुविधा के कारण ही उसने ये विषय नहीं चुने थे। कुछ क्षण बाद बोली, "हम कोई भी विषय लें, क्या होता है? चार दिन आना है। पास हों या फेल, कोई फर्क नहीं पड़ता।"

चामुंडी का टीला दूर से ही दिखाई दे रहा था। अचल खड़े, बादलों से बातें करते उस टीले के प्रति, कात्यायनी का एक अव्यक्त आकर्षण था। पति के साथ वहाँ दो बार हो आई थी। उस ऊँचाई से चारों ओर के गाँव, तालाब आदि का अवलोकन किया था। वास्तव में टीले की

ऊँचाई और स्थैर्य ही उसके आकर्षक के कारण थे। लेकिन अब ज्येष्ठ के बादलों ने उसे घेर लिया था। उस मेघावरण में उसका स्थैर्य स्पष्ट नहीं दिखाई दे रहा था। वह खिड़की से बाहर की ओर देख रही थी। टीला अपना स्थान बदल रहा था—पहले वह गाड़ी के दाहिनी ओर था, अब एकदम सामने आ गया। गाड़ी रुकी। यह दक्षिण मैसूर का एक स्टेशन है।

और पाँच मिनट में चामराजपुर स्टेशन आ गया। दोनों उतरीं और कालेज की ओर चल दीं। नंजनगूडु के और भी विद्यार्थी उतरे। कालेज के 'लेडीज़ कामनरूम' में प्रवेश करते ही वासंती ने पूछा, "तुम किसी से मिलना चाहती हो?"

"डॉ० सदाशिवराव जी से।"

"अच्छा, उनसे? उन्हें सब जानते हैं। लेकिन बहुत ही कम लोगों ने उन्हें देखा है। सच कहूँ तो मैंने भी नहीं देखा।"

"लाइब्रेरी में उनका एक कमरा है।"

"आओ, लाइब्रेरी में ले चलती हूँ। तुम उनसे मिल लो। लेकिन शाम को पाँच बजे तक लेडीज़ रूम में अवश्य आ जाना। साढ़े पाँच बजे चामराजपुर स्टेशन पर गाड़ी आ जाती है।" डॉ० राव के कमरे के पास कात्यायनी को छोड़कर वासंती लौट आई।

चपरासी ने दरवाजा बताया। 'पलश डोर' धीरे से खोलकर कात्यायनी भीतर गई। डॉ० राव मेज के पास कुर्सी पर बैठे, गंभीरतापूर्वक कुछ बता रहे थे। उनके सामने बैठी थी सफेद साड़ी में लगभग पच्चीस वर्ष की साँवली लड़की। वह शीघ्र लिपि में नोटबुक में लिखती जा रही थी। बीच-बीच में डॉ० राव मेज पर फैले कागजों को देखते जाते थे। सारा कमरा पुस्तकों से भरा पड़ा था। कात्यायनी करीब दस मिनट भीतर खड़ी रही, लेकिन किसी ने ध्यान नहीं दिया। वह लौट जाना चाहती थी, लेकिन ऐसा करना उचित न समझ, वहीं खड़ी रही। पाँच मिनट बाद राव एक कागज गौर से देखने लगे तो युवती को कुछ राहत मिली। उसने सिर उठाया और दृष्टि कात्यायनी पर पड़ी। उसने

राव से अंग्रेजी में कहा, "देखिए, कोई आया है।"

डॉ० राव ने द्वार की ओर देखा। एकाध मिनट आगंतुक को पहचान नहीं सके। चश्मा उतारकर देखा। कात्यायनी है। संकोचवश उसका सिर झुका हुआ था। एक मिनट बाद कुर्सी से उठकर उन्होंने कहा, "आओ, आओ! आज चौबीस तारीख है न? आये कितनी देर हुई? बिना आवाज दिये चुपचाप खड़ी रहीं तो खड़ी ही रहोगी और मैं अपने काम में लगा रह जाऊँगा। यहाँ आओ।"

इतने में उस युवती ने कात्यायनी के लिए एक कुर्सी सरका दी। कात्यायनी बैठ गई। डॉ० राव ने परस्पर परिचय कराया, "ये हैं करुण-रत्ने। सिंहल की हैं। कैम्ब्रिज से एम० ए० किया है। अब यहाँ शोध-छात्रा हैं।" और फिर कात्यायनी की ओर इशारा करके कहा, "मेरे गुरु श्रीनिवास श्रोत्रियजी हैं न, उनकी बहू हैं। हमारे कालेज में भरती होना चाहती हैं।

दोनों ने आपस में नमस्कार किया। डॉ० राव ने कात्यायनी से पूछा, "कहाँ है एप्लीकेशन फार्म? मुझे दे दो।" उसे देखकर कहने लगे, "इतिहास, संस्कृत, इंग्लिश—इन्हीं विषयों को नंजुंड श्रोत्रिय पढ़ रहा था। ऐसे अच्छे शिष्यों को बचा रखने का भाग्य मुझे न मिला। मैं अब बी० ए० को नहीं पढ़ाता। इतिहास पढ़ानेवाले होन्नय्या, मेरा ही विद्यार्थी है। ऐच्छिक इंग्लिश मेरा भाई ही पढ़ाता है। शायद नरसिंह शास्त्री संस्कृत पढ़ाते हैं!" घंटी दबाई। चपरासी भीतर आया। उससे कहा, "कालेज जाकर राजाराव को बुला लाओ!" और फिर कात्यायनी की ओर मुड़कर पूछा, "तुम रोज सुबह घर से कितने बजे निकलोगी?"

"पौने नौ बजे!"

"पौने नौ? और घर पहुँचते-पहुँचते शाम के छह-सात बज जायेंगे! हमारा घर यहीं चामराजपुर में है। रोज डेढ़ बजे विश्राम के समय जल्दी घर जाकर भोजन कर लिया करो।"

"नहीं, नंजनगुडू से अन्य लड़कियाँ भी आती हैं। मैं भोजन साथ लाऊँगी।"

"वह भी लाना। लेकिन उसे मुझे देकर तुम घर पर ही भोजन करो।" कहकर वे जोर से हँस पड़े, "संकोच न करो, यह भी तुम्हारा ही

घर है।"

डॉ० राव की हँसी का कारण रत्ने समझ न पाई। उन दोनों की बातों के कुछ अंग्रेजी वाक्य और संस्कृत शब्दों के अलावा वह कुछ न समझ सकी। डॉ० राव ने स्वयं हंसी का कारण समझाया। इतने में राज आ गया। कात्यायनी को उसका परिचय देकर उन्होंने राज से पूछा, "नंजुड श्रोत्रिय को तुम जानते थे न ?"

"जानता था। हम दोनों सहपाठी थे। वे सीनियर बी० ए० में इंग्लिश पढ़ते थे। द्वितीय वर्ष आनर्स में मैं उनके पेपर भी पढ़ता था।"

"ठीक है।" कात्यायनी से कहा, "अपना एप्लीकेशन फार्म, फीस के पैसे आदि इसे दे दो। पढ़ाई कब प्रारंभ होगी इसकी सूचना पत्र द्वारा यह तुमको दे देगा। तुम्हें कष्ट उठाने की कोई जरूरत नहीं। अब इसके साथ घर हो आओ।"

"नहीं। मैं..." कहकर सकोच में कुछ कहना चाहती थी कि डॉ० राव ने कहा, "तुम कभी हमारे घर नहीं आईं। कम-से-कम घर तो देखोगी कि नहीं ? अब शाम को ही गाड़ी मिलेगी।"

कात्यायनी ने अपना फार्म और पैसे राज को दे दिये। उनके यहाँ से निकलने के पहले रत्ने ने राज से पूछा, "इस साल आप कौन-सा नाटक खेलेंगे ?"

"चंद्रगुप्त मौर्य। उसे ऐसा प्रस्तुत कराऊँगा कि सारे इतिहासकार झूठा कहकर गालियां देंगे। वह हँसते हुए चल दिया। कात्यायनी भी चल दी। डॉ० राव की दृष्टि पुन: नोट्स में गड़ गई।

कात्यायनी सकुचाती हुई चल रही थी। राज उसके सबन्ध में अपने भाई से सुन चुका था। उसका सकोच दूर करने के उद्देश्य से राज ने पूछा, "आपने कौन-से विषय लिये हैं ?"

"हिस्ट्री, इग्लिश, सस्कृत।"

"चयन बड़ा सुन्दर है। हिस्ट्री भैया का विषय है। शेष दो, साहित्य हैं। शायद आपको साहित्य से काफी लगाव है ?"

उसने कोई उत्तर नहीं दिया। राज ने पुन: पूछा, "आपने कहानी, उपन्यास, काफी पढ़े होंगे ?"

सकुचाती हुई बोली, "थोड़े !"

"थोड़ा-थोड़ा पढ़ने से ही बहुत हो जाता है। अब तो कालेज आयेंगी न ? लाइब्रेरी से किताबें लेकर पढ़िए। कन्नड़ के समस्त उपन्यास पढ़ लिये हैं ?"

"दो वर्ष पहले पढ़ती थी—अब नहीं।"

इतने में घर आ गया। श्रोत्रियजी के घर के विषय में नागलक्ष्मी जानती थी। राज ने परिचय दिया तो कात्यायनी के प्रति नागलक्ष्मी के मन में विशेष अनुकंपा जाग उठी। वह मनस्ताप अनुभव कर रही थी कि राज ने कात्यायनी से पूछा, "आप सुबह कितने बजे घर से निकली हैं ?"

"पौने नौ बजे।"

"तो अब खाना खाइए। भाभी परोसेंगी।"

नागलक्ष्मी ने जो पहले खाने के लिए कुछ बनाना चाहती थी, राज की बात सुनने के बाद कात्यायनी को भोजन के लिए विवश किया। निरुपाय होकर कात्यायनी को भोजन करना ही पड़ा। राज ने कहा, "हर रोज दोपहर का खाना यहीं खाकर जाइये। घर तो पास ही है।"

दोनों भाइयों से एक ही तरह की बात सुनकर कात्यायनी को आश्चर्य हुआ। वह जान गई कि उनकी सज्जनता ही इसका कारण है। नागलक्ष्मी-कात्यायनी दोनों भीतर बैठकर बड़ी देर तक बातें करती रहीं। दोनों परस्पर आत्मीय बन बैठीं। अन्त में कात्यायनी कालेज जाने के लिए निकली तो नागलक्ष्मी ने कहा, "दोपहर का भोजन रोज यहीं करना। जब कभी सुविधा हो, आकर थोड़ा-बहुत अवश्य खा-पी जाना। यह भी तुम्हारा ही घर है।"

राज कालेज के लिए निकला। उसने कहा, "चलिए, आपको कालेज तक पहुँचा दूँ। मुझे भी नाटक का 'रिहर्सल' कराने जाना है।"

डॉ० राव, राज और नागलक्ष्मी के हार्दिक स्नेह से कात्यायनी का मन हलका हो उठा। सुबह घर से निकलते समय मन में जो संकोच था, अब दूर हो चला। लौटते समय राज के साथ संकोच भी घट गया था। फिर भी उसने राज से किसी तरह की बात नहीं की। उसे 'लेडीज़ रूम' " पास छोड़कर राज लौटा, तो वह भीतर जाकर अकेली बैठी रही।

वहाँ सात-आठ अपरिचित लड़कियों के अलावा कोई नहीं था। वासंती अभी नहीं आई थी। जल्दी घर पहुँचने के लिए उसका मन व्याकुल हो रहा था। वासंती के कमरे के द्वार तक दो-तीन बार आकर देखा। लेकिन वह नहीं आई थी। "अभी तो सिर्फ दो बजे हैं। शाम के पाँच बजे तक आ ही जाएगी।" यह सोचकर वह एक आरामकुर्सी पर बैठ गई। स्वर्गीय पति की स्मृति से मन भर आया। जब वे रोज कालेज आते थे, तो आराम कहाँ करते होंगे, घर पहुँचने के लिए मेरी तरह कितने आतुर रहते होंगे, आदि कल्पनाओं में डूबी हुई थी कि वासंती आ पहुँची।

७

रत्ने मैसूर आई, तब से डॉ० राव के लेखन-कार्य की गति तीव्र हो गई है। ग्रंथ का हर अध्याय लिखने से पहले वे रत्ने को सुनाते। वह आस्था और धैर्य पूर्वक सुनती। शंका होती तो प्रश्न करती। "तुम्हारे प्रश्न बड़े अच्छे होते हैं। इनकी प्रासंगिक चर्चा ग्रंथ में भी कर देनी चाहिए।" कहकर डॉ० राव उन स्थानों पर निशान लगा देते। उपलब्ध विषयों के ग्रंथ, संदर्भ ग्रंथों आदि कामों में वह अच्छा सहयोग देती। कई बार नोट सम्मुख रखकर ही लिखवाते। वह शीघ्रलिपि में लिखती, फिर होस्टल से टाइप करके लाती। लिखवाते समय डॉ० राव से जो कसर रह जाती, उसे स्वयं समझकर ठीक कर लेती। विचार-विमर्श की गंभीरता में लालित्य बिखेर देती। डॉ० राव का टाइपराइटर उसके पास होस्टल में ही है।

शोध-छात्रा होने के नाते और फिर डॉ० राव की सिफारिश के कारण रत्ने को लेडीज होस्टल में एक कमरा मिल गया। उसने होस्टल के भोजन के अनुकूल कुछ पथ्य का प्रबन्ध भी कर लिया। सुबह के

नाश्ते के लिए थोड़े दूध की अलग से व्यवस्था कर ली। सुबह दस बजे भोजन के बाद वह भी पुस्तकालय चली जाती। पढ़ती और नोट लिखती। फिर डॉ० राव का काम करके शाम को सात बजे तक होस्टल लौटती। मध्यान्ह का अल्पाहार डॉ० राव के साथ पुस्तकालय में ही होता। रात में अपनी 'थीसिस' के लिए लिखती। यहाँ आने से पहले ही इसके लिए उसने काफी सामग्री इकट्ठी कर ली थी। संगृहीत सामग्री को विस्तृत रूप में प्रस्तुत करने में वह असमर्थ थी। एक-दो महीने डॉ० राव के सान्निध्य में रहकर उसे लेखन-कार्य की पद्धति समझ में आ गई। और लिखना उसके लिए वैसा कठिन नहीं रहा। इसलिए अपने कार्य की अपेक्षा, अपने मार्गदर्शक के ग्रंथकी रचना में निष्ठा-पूर्वक सहयोग देने में उसे गौरव और सौभाग्य जैसा लगने लगा।

प्रथम खण्ड का लेखन-कार्य प्रारंभ करने के बाद डॉ० राव अन्य सब-कुछ भूल गये। रात को आठ बजे घर लौटते। ग्रंथ के अतिरिक्त और कुछ न सूझता। कोई कुछ पूछता तो अनसुनी कर जाते। किसी और बात की न आवश्यकता लगती, न संभावना।

"लेखन-कार्य कहाँ तक पहुँच गया भैया?" कभी-कभी राज प्रश्न कर बैठता।

"प्रथम खण्ड आधा हो गया है।"

"पूरा होने में और कितने दिन लगेंगे?"

"लगभग छह महीने में पहली प्रति तैयार हो जायेगी।"

बस, बातचीत यहीं रुक जाती। राज को न अधिक पूछने की उत्सुकता है और न इस संबंध का उसे कोई ज्ञान ही है। उसका मन तो अपने किसी नाटक अथवा पाठ्येतर कार्यक्रमों में ही चक्कर काटा करता। घर आने पर भाभी से इधर-उधर की बातें करता, और पृथ्वी के साथ खेलता। बात किये बिना चुपचाप बैठना उसके स्वभाव के विपरीत था।

एक दिन डॉ० राव रात के आठ बजे घर आये। राज अभी नहीं आया था। पृथ्वी माता से ज़िद करके रो रहा था। रोज़ शाम को राज उसे साइकिल पर बाहर ले जाता, लेकिन आज वह नाटक में व्यस्त रहने के कारण अब तक नहीं लौटा था। पृथ्वी पिता को देखते ही परेशान

करने लगा कि उसे आज वे ही घुमाने ले जायें। वे 'यहाँ आओ' कहकर रोज की तरह आराम कुर्सी पर बैठ गये। बालक ने जिद न छोड़ी। 'मुझे साइकिल पर बिठाकर ले चलो' कहते हुए वह उनकी कमीज पकड़कर रोने लगा। आज वे केवल थके ही नहीं थे, बालक को समझाने के लिए उपयुक्त शब्द भी नहीं ढूँढ पा रहे थे। समस्त भारत के सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण में लगी उनकी बुद्धि पुत्र को शांत करने के लिए शब्द नहीं ढूंढ पा रही थी; तो इसमें आश्चर्य भी क्या है। वे मौन रहना चाहते थे। अतः बालक से कहा, "हठ न करो बेटे, माँ के पास जाओ।"

इतना सुनना था कि नागलक्ष्मी भीतर से फुफकारती हुई आई, मानों इसी प्रतीक्षा में थी; बोली, "माँ के पास जाओ, माँ के पास जाओ! माँ ने नहीं तो क्या आपने बच्चे की देखभाल की है? बच्चा कब से हठ कर रहा है, थोड़ा बाहर ले जाते तो क्या हो जाता? चाहते, तो मैं भी चलती!"

इस समय पत्नी का क्रोध ठंडा करने की शक्ति उनमें न थी। उन्हें तो चाहिये था एक-दो घण्टे का मौन फिर तीन घण्टे का अध्ययन या लेखन-कार्य। उन्होंने एक बार पत्नी की ओर देखा और चुप रह गये। यह देखकर नागलक्ष्मी को निराशा हुई। फिर पूछने लगी, "माँ-माँ कहकर हमेशा सिरदर्द पैदा करने के लिए क्या वह मुझ अकेली का बेटा है? वह आपकी भी तो संतान है?"

डॉ० राव अब भी कुछ नहीं बोले। क्रुद्ध व्यक्ति से बोलने पर क्रोधाग्नि भड़क उठती है—इस मानव-स्वभाव से परिचित थे, इसलिए वे आराम कुर्सी पर चुपचाप बैठे रहे। नागलक्ष्मी अब जरा ऊँचे स्वर में बोली, मानों अपने-आपसे कह रही हो—"शादी हुए इतने साल हो गये, न पत्नी की चिन्ता, न बच्चे की चिन्ता। अब ऐसे ही रहिए। मैं आँखें मूंद लूं तब पता लगेगा कि नागू होती तो कितना अच्छा होता!"

डॉ० राव को यह ठीक नहीं लगा। बोले "ऐसा अशुभ क्यों बोलती हो? यहाँ आओ।" माँ की जोर की आवाज सुनकर बच्चा चुप हो गया था। नागलक्ष्मी ने पास जाकर कहा, "क्या है?"

"आओ, यहाँ बैठो।" आरामकुर्सी के हत्थे की ओर संकेत किया।

"नहीं। रुलाने के बाद ही क्या भोजन के लिए आमंत्रित करने की जरूरत पड़ती है?" वह दूर हट गई। बच्चा भी माँ के पास चला गया। डॉ० राव चुपचाप बैठे रहे।

पाँच मिनट बाद नागलक्ष्मी पति के पास आई। कुर्सी के हत्थे पर बैठकर कहने लगी। "आप हर कार्य में अति कर बैठते हैं। हर रविवार को तेल-मालिश कराकर गरम पानी से स्नान क्यों नहीं किया करते? जरा शीशे में स्वयं को देखिए तो सही! दिन-ब-दिन किस तरह सूखते जा रहे हैं!"

"मगर मेरी पुस्तक का आकार बढ़ता जा रहा है न?" डॉ० राव हँस पड़े।

"पुस्तक, पुस्तक! पत्नी नहीं चाहिए, बेटा नहीं चाहिए। स्वयं अपनी भी चिन्ता नहीं! केवल पुस्तक का पागलपन! मेरे मरने पर शायद आपको अक्ल आयेगी!"

"क्यों निरर्थक अशुभ बोले जा रही हो?"

"तो क्या करूँ? मेरी टीस को आप क्या जानें! सप्ताह में किसी दिन एक घड़ी भी मुझसे बोलने का समय मिला आपको? कभी घुमाने ले गये? आपको मेरी जरूरत नहीं है तो मैं क्यों रहूँ?" कहते-कहते उसकी आँखें भर आईं। डॉ० राव का मन पिघला, "उठो, टहल आयें।" और खड़े हो गये। "साढ़े आठ बज गये हैं, अब तो राज आता ही होगा।" वह यह कह ही रही थी कि फाटक के पास साइकिल की आवाज सुनाई पड़ी। कहने लगी, "कल उठते ही तेल मलकर स्नान करना न भूलें।"

"कल नहीं। अभी बहुत लिखने को पड़ा है।" इतने में राज भीतर आ पहुँचा। पृथ्वी चाचा की प्रतीक्षा में ही था। दौड़कर साइकिल के पैंडल पर चढ़ गया।

दूसरे दिन सुबह दस बजे लाइब्रेरी के कमरे में डॉ० राव रत्ने को लिखा रहे थे। पाँच मिनट लिखने के बाद रत्ने ने कहा, "सर, लगता है आज आपका 'मूड' नहीं है।"

"क्यों ?"

"विषय-निरूपण में क्रमबद्धता नहीं लगती।"

"कोई बात नहीं, आगे लिखो।"

पाँच मिनट बाद रत्ने पुनः कहने लगी "सर, सचमुच आप 'मूड' में नहीं हैं। बार-बार चूक हो रही है। एक बार 'पुराणों' के बदले 'कालिदास के नाटक' कह गये, और एक बार 'प्राचीन भारत की संस्कृति' के बदले 'बेबिलोन की नागरिकता' कह गये।"

"अच्छा !"

"आपने जो लिखाया, क्या उसे एक बार पढ़कर सुनाऊँ ?"

"नहीं, आज रहने दो। तुम ठीक कहती हो।" डॉ० राव आराम से कुर्सी से पीठ टिकाकर कहने लगे, "आज तुम अपना अध्ययन करो। आज मुझसे कुछ न होगा।"

रत्ने बाहर आई और अध्ययन के लिए आवश्यक ग्रंथ देखने लगी। डॉ० राव आरामकुर्सी पर शांत बैठे रहे। कल रात नागलक्ष्मी की बातों से उनका मन विचलित हो उठा है। 'मेरे मरने पर आपको अक्ल आयेगी'—नागलक्ष्मी का यह वाक्य अब भी उनके कानों में गूँज रहा है। सोचने लगे, कभी इतने कठोर वचन न बोलने वाली नागलक्ष्मी कल ऐसी तीखी बातें कैसे कह गई ! इसका उत्तर भी मिला। उन्होंने भी कई बार सोचा कि जहाँ तक हो सके, समय निकालकर पत्नी से बातें करनी चाहिए। लेकिन उनकी समस्त संकल्प शक्ति को उस बृहद् ग्रंथ ने जकड़ रखा था ! समय ही कहाँ है ? ग्रंथ-निर्माण और उनका जीवन दोनों में कोई अन्तर ही नहीं रहा था। निद्रा, आहार सब-कुछ उनके इस प्रज्ञाजीवन के बाह्य रूप बन चुके थे। लगा, ग्रंथ को भुलाकर दिन में आध घंटा भी पत्नी के साथ वार्त्तालाप में बिताने में उतनी ही यातना का अनुभव होगा जितनी कुछ खोकर नया जीवन प्रारंभ करने से।

आध घण्टे बाद रत्ने किताबें लेकर लौटी। डॉ० राव को देखकर बोली, "सर, आप शून्य-मुद्रा में बैठे हैं। आपको एकाध दिन विश्रांति की आवश्यकता है। आप बहुत परिश्रम कर रहे हैं। मानव मस्तिष्क यंत्र तो नहीं है ! आप घर जाइए।"

रत्ने की सान्त्वना डॉ० राव को प्रिय लगी। उन्होंने पूछा, "तुम क्या कर रही हो?"

"कल रात में कुछ लिखा था, उसे जाँचूंगी।"

"चलो, कहीं घूम आयें।"

क्षण-भर सोचकर कहा, "यह भारत है!"

"तो क्या हुआ? चलें, शायद वृंदावन के लिए बारह बजे एक गाड़ी है। शाम को लौट आयेंगे। मैं भी काम करने के 'मूड' में नहीं हूँ।"

कमरा बंद करके दोनों निकल पड़े। कालेज के आँगन से बाहर बाय-सराय मार्ग से तांगा लेकर स्टेशन पहुँचे। शटल ट्रेन में द्वितीय श्रेणी नहीं थी। तृतीय श्रेणी में ही बैठ गये। गाड़ी चली तो रत्ने बोली, "वृंदावन देखने की इच्छा थी। लेकिन कभी छुट्टी ही नहीं मिली। आपका मूड बिगड़ा और आज देखने का अवसर मिल गया।"

गाड़ी धीमी चल रही थी। कन्नंवाड़ो स्टेशन पहुँचते-पहुँचते पौन बज गया। दोनों उतरे और होटल में गये। उपाहार किया। कुछ समय टहलने के बाद फलवाले उद्यान के उस पार, वृक्षों की छाया में वे बैठ गये। डॉ० राव का मन अध्ययन-जगत् से बाहर घूम रहा था। हर रोज पुस्तकालय में ऊब जाने पर अपने कमरे में बैठनेवाले, आज खुले मैदान में शीतल छाया में बैठे हैं। समीप ही बहते हुए पानी की आवाज तँबूरे के तारों से झंकृत ध्वनि-सी सुनाई दे रही है। पक्षी काफी ऊँचाई पर आकाश में उड़ रहे हैं। मौन भंग करते हुए रत्ने से पूछा, "अब एक वर्ष में तुम्हारा शोध-कार्य समाप्त हो जायेगा और 'डॉक्टरेट' भी मिल जायेगी। तत्पश्चात् सिंहल लौटकर क्या करोगी?"

"यह मेरे लिए समस्या है।"

"शोध-कार्य आगे बढ़ाओ। इसका यही एक उपाय है। एक विषय का शोध-कार्य दूसरे विषय अथवा उसी विषय के लक्ष्य-बिन्दु की ओर ले जाता है। वह निरंतर बढ़ता है। यह शोध-शक्ति और अभिरुचि पर निर्भर है।"

"मैं नहीं समझती कि वैयक्तिक रूप से अकेली शोध-कार्य कर सकूंगी!"

"ऐसा कभी नहीं सोचना चाहिए। अब भी तुम 'डॉक्टरेट' के लिए जो कार्य कर रही हो, उससे तुम्हें शोध-कार्य की प्रेरणा मिलेगी। वास्तविक कार्य तो अब होना है।" फिर कुछ सोचते हुए वे बोले, "या उपाधि पाने के पश्चात् स्वदेश लौटकर शादी करके सुखमय जीवन बिता सको तो भी अच्छा है। ऐसी ही प्रवृत्ति का पति मिल जाए, तो दोनों मिलकर शोध-कार्य को आगे बढ़ाओ।"

रत्ने कुछ देर रुकी, फिर धीरे से निःश्वास छोड़ा। डॉ० राव ने सिर उठाकर रत्ने को देखकर पूछा, "क्यों, शादी में तुम्हारा विश्वास नहीं है क्या?"

"है!"

"तो फिर?"

रत्ने ने कोई उत्तर नहीं दिया। बात बदलकर डॉ० राव ने पूछा, "इतिहास के प्रति रुचि रखकर शोध-कार्य करने की अभिलाषा तुममें कब जागी? तुम्हारे परिवार में किसी ने यह कार्य किया है, जो तुम्हारे लिए प्रेरक बना?"

रत्ने निस्संकोच होकर कहने लगी, "परिवार में अध्ययन के क्षेत्र में इतना आगे बढ़नेवालों में मैं ही हूँ। पितामह के समय से ही व्यापार हमारा व्यवसाय है। उससे पहले हम सिंहल स्थित पेलपोला के किसान थे। मैंने भी वह गाँव देखा है। वहाँ हमारी रबर और मिर्चों की बाड़ियाँ हैं। लेकिन व्यापार ही हमारे परिवार का मुख्य धंधा बन गया है। मेरे भाई ने बी० ए० गाँव में किया। मैंने भी वहीं से बी० ए० किया। उच्च शिक्षा के लिए कोलम्बो जाकर एम० ए० किया। तभी से मुझमें अध्ययन के प्रति अभिरुचि जागी। डिसिल्वा हमारे प्राध्यापक थे। सदा अध्ययन-रत। लेकिन शोध-प्रवृत्ति नहीं थी। मैं उनकी छात्रा थी। पढ़ने का भूत तभी सवार हो गया था। परीक्षा की दृष्टि से अध्ययन करना छोड़, जो भी ग्रंथ मिलता, पढ़ती। मैंने बौद्ध धर्म की उत्पत्ति और विकास संबंधी अध्ययन तभी किया था। हमारे परिवार के सदस्य बौद्ध हैं; किन्तु उस धर्म के संबंध में कोई कुछ नहीं जानता था। सिंहल स्थित समस्त बौद्ध स्थानों पर मैं गयी। उनसे संबंधित अनेक ग्रंथ पढ़े और नोट लेती रही। एम० ए० के लिए अध्य-

यन करते समय मैं संस्कृत, प्राकृत का अध्ययन करती थी। इन भाषाओं के निकट परिचय के बिना बौद्ध धर्म को कौन समझ सकता है? खासकर भारत के इतिहास को कैसे जाना जा सकता है? तत्पश्चात् कैम्ब्रिज में पढ़ने के लिए सरकारी छात्रवृत्ति मिली।"

डॉ० राव उसकी बातें एकाग्र होकर सुनते रहे। रत्ने ने आगे कहा, "कैम्ब्रिज में अध्ययन-क्रम सीखा। लेकिन शोध-विधान आपसे ही सीखा। यदि आप न मिलते तो शायद मैं इस लेखन-कार्य को हाथ में न लेती। जब कभी शोध-कार्य के प्रति आपकी अनन्य निष्ठा देखती हूँ तो मेरा मन कल्पनातीत ऊँचाई पर उड़ने लगता है। मैं समझ ही नहीं पाती कि मेरा जीवन क्या है? मेरी आत्मा अपनी उत्कट आकांक्षा को पहचानकर उसे उपलब्ध करने का प्रयास कब करेगी? यहाँ आने के पश्चात् आपने ही मुझे आत्मदर्शन कराया।"

रत्ने से प्रशंसा के शब्द सुनकर डॉ० राव पुलकित हो उठे। आज तक किसी ने इतनी सहजता और मुक्तकंठ से उनकी ऐसी प्रशंसा नहीं की थी। उनके ग्रंथ को पढ़कर विद्वानों ने प्रशंसा-पत्र लिखे थे, पत्रिकाओं में विद्वत्तापूर्ण समालोचना निकली। लेकिन शिष्य-भाव से किसी ने सामने ऐसी प्रशंसा नहीं की। कैम्ब्रिज में पढ़ी एक युवती से यह सब सुनकर डॉ० राव ने अद्भुत आनन्द का अनुभव किया और एक अव्यक्त यातना का अनुभव करके कहा, "रत्ने, विद्वानों और संशोधकों का मार्ग पैशाचिक जीवन के समान है। सदा सब कुछ भुलाकर अध्ययन में डूबे रहना पड़ता है। क्या स्त्री-सहज विवाहित जीवन की तुम पूर्णतः उपेक्षा कर सकती हो?"

प्रश्न सुनकर वह अवाक् रह गई। चमकदार आँखें झुक गईं। तत्काल अपने को सँभालकर, कुछ स्मरण करते हुए उत्तर दिया, "मेरे विवाह का प्रश्न भी उठा था। मेरा भाई, अपने व्यापार के अलावा एक पार्टनर के साथ नारियलों का भी निर्यात करता है। दोनों समवयस्क हैं। भाई का सहपाठी होने के कारण वह घर आया था। उस समय मैं बीस वर्ष की थी और बी० ए० में पढ़ रही थी। वह बी० ए० करके व्यापार में लग गया था। एक दिन उस युवक ने मुझसे विवाह का प्रस्ताव किया। मैंने कुछ नहीं कहा। घरवालों ने सोचा, लड़की शायद

शरमा रही है। भाई को इस संबंध में बड़ी दिलचस्पी थी। उनका वह मित्र तो मेरे लिए पागल ही हो गया था। मैंने फौरन कोलम्बो जाकर एम० ए० करने की इच्छा प्रकट कर दी। विवाह के बदले मुझे और आगे पढ़ाना माता-पिता को पसंद न था। लेकिन मैंने जिद की। उन्हें मानना ही पड़ा। वह युवक यह सोचकर इतजार करता रहा कि एम०ए० के बाद विवाह के लिए तैयार हो जाऊँगी। कोलम्बो से लौटने पर मुझे अपना आगे का मार्ग दीख पड़ने लगा। मेरा अध्ययनशील जीवन और व्यापारी पति का जीवन कभी एक पथ पर चल ही नहीं सकते—यह स्पष्टतः समझकर मैंने उन्हें लिख दिया कि वे मेरी प्रतीक्षा न करें। उन्होंने पत्रोत्तर दिया, "तुम्हारे अध्ययन में बाधा नहीं पड़ेगी। तुम्हारे बिना मैं जी नहीं सकता।" फिर सोचा, हो सकता है कि मेरे अध्ययन में कोई बाधा न पड़े, लेकिन आखिर हम किस समान क्षेत्र में मिलेंगे? अपने जीवन का जो लक्ष्य मैं निश्चित कर चुकी हूँ, उस संबंध में वे शून्य हैं। उनके व्यापार, धन-दौलत के प्रति मुझे मोह नहीं है। दो विपरीत रुचियों के इस जीवन में क्या रखा है? अतः उस बात को मैंने महत्व नहीं दिया। हम दोनों के कल्याण की दृष्टि से ही मैंने ऐसा किया। तत्पश्चात् मैं कैम्ब्रिज में पढ़ने चली गई। दो वर्ष तक मेरी प्रतीक्षा करने के बाद उन्होंने विवाह कर लिया।"

इतना कहकर रत्ने चुप हो गई। उस युवक के प्रस्ताव को अस्वीकार करते समय उसे मानसिक वेदना हुई थी। उसका मन डाँवाँडोल हुआ था। 'अध्ययन का पागलपन कितने दिन रहेगा? सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से प्रतिष्ठा प्राप्त सुन्दर युवक की प्रणय-भिक्षा ठुकराना अविवेक नहीं तो और क्या है? प्रेमपूर्ण साम्राज्य में जहाँ दोनों का मिलन होगा, वहाँ अध्ययन की अभिलाषा दोनों को अलग कैसे रखेगी? गृहिणी जीवन और अध्ययन-जीवन, इन दोनों में समन्वय लाना क्या असंभव है?' ऐसे अनेक प्रश्न उसके निर्णय को झकझोर रहे थे। अंततः उसने यही निर्णय लिया। दो वर्ष बाद युवक के विवाह की खबर सुनकर अनजाने ही दो अश्रु बिंदु टपक पड़े थे। अपने आपको सँभालकर, उसने भाई के साथ विवाह में शुभ कामनाएँ प्रकट की थीं।

लेकिन डॉ० राव पर उसने मन की इस भावना को प्रकट नहीं किया।

लगभग आधे घण्टे तक किसी ने बात नहीं की। रत्ने के निर्णय पर डॉ० राव सोचने लगे। उसने विवाह के पूर्व ही अपना जीवन-लक्ष्य निर्धारित कर लिया। लेकिन डॉ० राव के जीवन में वैसा नहीं हुआ। विवाह के समय तक वे अपने जीवन का उद्देश्य समझ चुके थे। लेकिन उस उद्देश्य और अपने सांसारिक जीवन के उद्देश्य के बीच जो समन्वय होना चाहिए, इस संबंध में उन्होंने कभी सोचा ही नहीं। उनका विवाह तब हुआ था, जब वे विद्याभ्यास की दृष्टि से प्रौढ़ थे लेकिन वैवाहिक जीवन-ज्ञान की दृष्टि से वे आज भी शैशवावस्था में थे। इसी विचार में वे तल्लीन हो गये।

रत्ने ने एक-दो बार बोलने की कोशिश की, लेकिन चुप रह गई। यह देख डॉ० राव बोल उठे, तुम शायद कुछ कहना चाहती हो!"

"कुछ नहीं!"

"संकोच न करो!"

"कुछ नहीं" कहकर वह पुनः चुप हो गई। लेकिन कुछ क्षण बाद प्रश्न किया, "आपका व्यक्तिगत जीवन...?"

"मेरे पास वैयक्तिक नाम की कोई चीज नहीं है। आखिर क्या जानना चाहती हो?"

"आप सदा अध्ययन-रत रहते हैं। आपकी पत्नी पढ़ी-लिखी नहीं है। आप दोनों के बीच प्रेम-भाव रहता है या नहीं?"

"यह क्यों पूछ रही हो?" ध्वनि में क्रोध नहीं है, यह जानकर रत्ने ने कहा, "यों ही! अपने भाई के मित्र के प्रस्ताव को ठुकराना उचित था या नहीं, इसे आपके उदाहरण से जानना चाहती हूँ।"

डॉ० राव हँस दिये। फिर कहने लगे, "इस विषय में शिष्या ही गुरु से अधिक विवेकी है।"

"वह कैसे?"

अनजाने ही डॉ० राव अपनी विवाह-संबंधी बातें बताने लगे। रत्ने ध्यान से सुनने लगी।

"मैं माता-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् मामा के यहाँ रहने लगा। तब बारह साल का था। पढ़ने में शाला में प्रथम स्थान पाता रहा और लोअर सेकेंडरी परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ। मैसूर के

तातट्या अनाथालय में आश्रय मिला। गरिमल्लप्प हाईस्कूल में भर्ती हो गया। हाईस्कूल में तातट्या स्वयं पढ़ाते थे। वे अपने पुस्तकालय से मॅकॉले, जॉनसन आदि इतिहासकारों के बारे में पढ़ाते। मैं बी० ए० करने के पूर्व ही अपने विषय का महत्व समझ गया था। एम० ए० में मुख्य विषय के रूप में इतिहास ही लिया। अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होने पर उसी कालेज में लेक्चरार की नौकरी मिल गई।

"नागलक्ष्मी, मेरे मामा की इकलौती बेटी है। उस समय वह तेरह वर्ष की थी। मैं तेईस का। मामा ने अपनी लड़की नागू का विवाह मुझसे करने का प्रस्ताव रखा। मैं इनकार न कर सका। लड़की ऊँची, हृष्ट पुष्ट एवं सुन्दर थी। लम्बे बाल और देखने में सुलक्षणा। गृह-कार्यों में दक्ष। मैंने अपने विवाह अथवा होनेवाली पत्नी के संबंध में कभी सोचा भी नहीं था। मेरी धारणा केवल इतनी थी कि अध्ययन पूर्ण हो जाने के बाद विवाह करना जीवन का एक कर्तव्य है। विद्यार्थी-जीवन में मेरी कक्षाओं में छात्राएं अधिक नहीं थीं। मैंने अपनी कक्षा की छात्राओं से कभी बात नहीं की। अपने प्राध्यापकों द्वारा बताये ग्रंथों को पढ़ता, नोट लिखता और विषय का मनन करता रहता।

"मामा के प्रस्ताव के बाद जब पहली बार मैं गाँव गया तो नाग-लक्ष्मी अपने-आपको छिपाती रही। लेकिन मैं भी उसी घर में पला था, अतः मुझे घर के हर कोने में जाने की आज़ादी थी। मोगरे के फूलों से गुँथी वेणी की सुगंध चारों ओर फैलती रहती और काम करते समय काँच की चूड़ियों की झंकार मन को झंकृत कर देती। ऐसी स्थिति में मैं मामा के प्रस्ताव को अस्वीकार न कर सका।

"विवाह के बाद मैं मैसूर में बस गया। नागलक्ष्मी राज के साथ घर आई। राज कुणिगल हाईस्कूल में दो साल पढ़ चुका था। विवाहित जीवन के प्रारंभिक दिनों में मैंने अपनी पत्नी को कभी दूर नहीं रहने दिया। मेरे प्राध्यापक मुझे 'डॉक्टरेट' के लिए प्रेरित करते रहे। विवाह के पूर्व से ही मैं काफी अध्ययन करता रहा हूँ। दो वर्ष बाद प्राध्यापक सेवा-निवृत्त होने वाले थे। अतः इसमें पहले शोध-प्रबंध पूर्ण कर लेना चाहिए था। घर के सारे काम-काज राज ही देखता था। मुझे कभी आर्थिक समस्याओं में भी नहीं उलझना पड़ा, क्योंकि पत्नी बड़ी मित-

व्ययिता से कुशलतापूर्वक घर-खर्च चलाती थी। मुझे और चाहिए भी क्या था। मैं शोध-कार्य में लग गया और दो वर्ष में डॉक्टर सदाशिवराव बन गया। सेवा-निवृत्त होने से पहले प्राध्यापक ने कहा था, "केवल डॉक्टरेट की उपाधि से ही संतुष्ट हो जाना विश्वविद्यालय के प्राध्यापक के लिए काफी नहीं है। अपना समस्त जीवन शोध-कार्य में लगा देने वाला ही प्राध्यापक है। तुम दूसरा ग्रंथ लिखना प्रारंभ कर दो।" इस बीच मेरा शोध-ग्रंथ प्रकाशित हो चुका था। ग्रंथ-रचना से प्राप्त यश ने मुझे इस ओर आगे बढ़ने को प्रेरित किया। मैं एक और ग्रंथ की रचना में लग गया। पाँच साल निरंन्तर कार्य किया और सफलता मिली। इन नौ वर्षों की अवधि में पृथ्वी जन्मा। लेकिन मेरा जीवनध्येय, जीवन-क्रम एवं मानसिक स्थितियाँ काफी बदल चुकी थीं। घर-गृहस्थी राज और नागलक्ष्मी के जिम्मे थी; और अब तो मैं पूर्णतः इतिहास-शोध में लग गया हूँ।"

अपने विवाहित जीवन का विवरण देते हुए डॉ० राव ने आगे कहा—"विवाह के बाद दो-चार दिन कोई भी स्त्री-पुरुष अपनी पत्नी या पति के प्रति आकर्षित रहता ही है। वैसे मुझ-जैसों को तो आजीवन एकाकी रहना चाहिए।"

अपने गुरु की बातें अत्यंत ध्यानपूर्वक और सहानुभूति से सुनने के बाद रत्ने बोल उठी, "यह अनिवार्य नहीं है। कैम्ब्रिज में मैंने देखा है, मेरे प्रोफेसर की पत्नी अपने पति के बौद्धिक जीवन में काफी सहयोग देती थी। मैं अब जो कार्य आपके लिए कर रही हूँ, ये सब वह अपने पति के लिए करती थी।" वाक्य के उत्तरार्द्ध को यद्यपि वह बिना किसी पूर्व विचार के कह गई थी, किन्तु बाद में उसने संकोचवश सिर झुका लिया। परंतु डॉ० राव ने इस ओर ध्यान नहीं दिया।

डॉ० राव ने कहा, "यह मुझ अकेले का प्रश्न नहीं है। यह भारत के लिए संधिकाल है। माता-पिता द्वारा निश्चित विवाह पूर्वकाल में उपयुक्त था। समाज के परम्परागत धंधों में उसी समाज की कन्या पति के कार्य में हाथ बंटा सकती थी। अब धंधा, कुल पर आधारित नहीं रहा। अब तो व्यक्ति की अभिरुचि उसकी वृत्ति निर्धारित करती है। लेकिन इच्छानुसार विवाह करने का अवसर अब भी समाज दे नहीं

पा रहा है। इस संधिकाल में विषम विवाह होने असंभव नहीं हैं। साथ ही विवाह संबंधी स्वतंत्र विचार की प्रवृति अभी आगो ही नहीं है।"

रत्ने ने पूछा, "प्राचीन भारत में विवाह की कल्पना वर्तमान से भिन्न थी न?"

"प्राचीन भारत में यह धारणा थी कि विवाह गृहस्थ धर्म के लिए, वंशोद्धार के लिए है। प्रथम दृष्टिकोण अब भी थोड़ा बचा है लेकिन द्वितीय अंश प्राधान्य नहीं रहा। वंशोद्धार की कल्पना अपना महत्त्व खो रही है। मेरा भी एक पुत्र है। मैं नहीं जानता कि वह मेरे नाम को उज्ज्वल करेगा या नहीं। लेकिन मेरी यह अदम्य इच्छा है कि यह ग्रंथ मेरा शिशु बनकर, मेरी इच्छा-शक्ति, बुद्धि-शक्ति एवं समस्त जीवन के रक्त-मास के साथ चिरजीवी बन जाय। मेरी पत्नी, जिसने शास्त्रोक्त रीति से मेरा हाथ पकड़ा है, मेरे ग्रंथ की रक्षा नहीं कर सकती। तुम इस कार्य में मेरी मदद कर रही हो!"

अंतिम वाक्य सुनकर रत्ने का चेहरा शर्म से लाल हो उठा। बिना किसी विशिष्ट संकेतार्थ के उक्त वाक्य कहने में डॉ० राव को कोई संकोच नहीं हुआ। उन्होंने पुन कहा, "इस विषय में तुम मुझसे अधिक आगे बढ़ गई हो। मुझे विश्वास है, तुम अपना जीवन-साथी अपने योग्य ही चुनोगी। यह सत्य है कि स्त्री या पुरुष के लिए गृहस्थ-जीवन अनिवार्य है। इसके बिना जीवन नीरस रहता है।"

रत्ने अनजाने ही 'सच है' कहने जा रही थी कि चुप रह गई।

शाम के छह बज चुके थे। निकलने पर भी साढ़े छह की गाड़ी नहीं मिल सकती। अब तो साढ़े आठ की गाड़ी मिलेगी। अत. आधा घन्टा वहीं बैठे रहे। दोनों अपने-अपने विचार-लोक में विचर रहे थे। अपने जीवन के संबंध में डॉ० राव ने आज पहली बार स्पष्ट बात कही थी। रत्ने को अपने जीवन-साथी का रूप दिखाई नहीं दे रहा था, किन्तु आशापूर्ण मन से वह उसकी कल्पना कर रही थी। करीब सात बजे तक सब ओर अंधकार छा गया। वह विशिष्ट दिन नहीं था, इसलिए वृंदावन में विद्युत रोशनी नहीं थी। विचारों की दुनियाँ से मुक्त होकर डॉ० राव ने कहा, "अंधेरा हो गया, हमें पता ही नहीं चला। उठो, अब चलेंगे।"

रत्ने उठी। फल के पेड़ों को पारकर, नदी के बीचवाले पुल से होते हुए, होटल जाना था फिर वहाँ से स्टेशन। डॉ० राव चश्मा लगाये थे फिर भी अँधेरे में स्पष्ट दिखाई न देने के कारण सँभल-सँभलकर पग रखते हुए चल रहे थे। यह देखकर रत्ने ने अपना हाथ बढ़ाकर कहा, "आपको चलने में कष्ट हो रहा है। प्रकाश आने तक आपका हाथ पकड़े चलती हूँ।"

डॉ० राव उसका हाथ पकड़कर जल्दी-जल्दी चलने लगे। दस कदम चलने के पश्चात् हँसते हुए कहने लगे, "शोध-कार्य में मैं तुम्हारा मार्गदर्शक हूँ, लेकिन इस अंधकार में तुम मेरी मार्गदर्शक बन गयी हो।"

रत्ने का मन दूर भविष्य में खोया हुआ था। फिर भी उनकी यह बात उसने सुन ली थी। वह उनके हाथ को और मजबूती से पकड़कर जल्दी-जल्दी चलने लगी।

८

कात्यायनी का कालेज-अध्ययन निरंतर चल रहा था। वह सुबह ठीक पौने नौ बजे खाना खाकर, और दोपहर के लिए डिब्बा तथा पुस्तकें लेकर वासंती के साथ स्टेशन पहुँच जाती। दोनों नौ बजे की गाड़ी के लेडीज डिब्बे में बैठतीं और चामराजपुर स्टेशन पर उतर जातीं। उस डिब्बे में सात-आठ और लड़कियाँ भी पढ़ने के लिए जाती थीं। तीस-चालीस लड़के दूसरे डिब्बे में बैठते थे। गाड़ी में एक घंटा बीतता था। लड़कियाँ हँसी-मजाक करते हुए समय काटतीं। यदि किसी लड़की ने अपने सहपाठी लड़के से बात की, तो कानाफूसी शुरू हो जाती। किसी का विवाह निश्चित हुआ कि अभिनंदन के बहाने मजाक शुरू। इस सब में कात्यायनी भी रस लेती। लेकिन उसका कोई मजाक नहीं

उड़ता था। उसका वैधव्य भी इसका कारण हो सकता है; अथवा माँ होने के कारण चेहरे पर उभरा प्रौढ़ गाभीर्य।

कालेज के नाटक मंच की ओर से महीने मे एक बार नाटक प्रस्तुत किया जाता था। नाटक शाम को ६ बजे शुरू होता था। कात्यायनी देखने के लिए नही रुकती थी, लेकिन कई लड़कियाँ नाटक देखकर रात को नौ बजे की गाड़ी से लौटती थी। कात्यायनी के मन मे भी नाटक देखने की इच्छा होने लगी। लेकिन इतनी देर से घर लौटना वह ठीक नहीं समझती थी। साथ ही कालेज के बाद मन श्रीनी को देखने के लिए बेचैन रहता था। वासती ने कई बार विवश किया पर वह नही रुकी, यो इनमें आपस मे खुलकर बातें हुआ करती थी।

पीरियड न होने पर वह डॉ० राव के घर चली जाती। कालेज के लेडीज कामनरूम मे समय बर्बाद करने की अपेक्षा नागलक्ष्मी के घर हो आना वह उचित समझती थी। सिर मे सिन्दूर न लगाने वाली गभीर कात्यायनी को हल्के हँसी-मज़ाक में समय बिताने वाली अन्य लड़कियो के साथ रहने की अपेक्षा नागलक्ष्मी से बात करना अधिक भाता था। जिसमें अब भी निरहकार और ग्रामीण मुग्धता शेष थी, उस नागलक्ष्मी का स्वभाव उसे बहुत भाता था। साथ ही नागलक्ष्मी भी इधर-उधर की बातें सुनना चाहती थी। कई बार वह कात्यायनी को खाने की चीजें बनाकर देती। सामान्यत. कात्यायनी की कक्षाएँ तीन बजे समाप्त हो जाती थी। शाम के पाँच बजे तक उसके लिए और कोई काम नही रहता। राज कभी-कभी कात्यायनी को घर में मिल जाता। वह बातूनी था और कात्यायनी को भी इसमें लपेट लेता। वह उसका गुरु भी था। कात्यायनी की कक्षा को जनरल इंग्लिश और ऐच्छिक इंग्लिश का एक-एक पेपर पढाता था। जनरल इंग्लिश के पीरियड मे शेक्सपियर कृत 'मैकबैथ' नाटक वह इस ढग से पढाता था कि कालेज के सारे विद्यार्थी मुग्ध हो जाते थे। महाराज कालेज के ही नही बल्कि अन्य कालेजो के विद्यार्थी भी कक्षा में आने लगे थे। स्वयं मॅजा हुआ कलाकार होने के कारण, कक्षा में नाटक के पात्रो की भाँति तल्लीन होकर बातें करता था। विभिन्न पात्रो के गुणों के अनुरूप भय, विस्मय, वीर आदि भावयुक्त ध्वनियो मे पढ़ाने का क्रम और वातावरण बनाता

जिससे विद्यार्थियों को ऐसा आभास होता कि वे रंगमंच पर नाटक ह? देख रहे हैं। सारी कक्षा को वह मंत्रमुग्ध कर देता।

अक्सर अपने घर आने-जाने वाली कात्यायनी के प्रति राज में भी एक अव्यक्त आकर्षण जाग उठा था। कात्यायनी के तेज और गांभीर्य से राज में एक विशिष्ट सहानुभूति जाग रही थी। एक दिन राज ने पूछा, "विश्रांति के समय आप कहानी, उपन्यास आदि नहीं पढ़तीं ?"

"पहले पढ़ती थी। अब समय नहीं मिलता। मिलता है तो कभी-कभी पढ़ लेती हूँ।"

"आपको कौन-सा उपन्यासकार पसन्द है ?"

"शरत् !"

"आप उनके उपन्यासों को क्यों पसंद करती हैं ?"

कात्यायनी के पास इसका कोई स्पष्ट उत्तर न था। उसने कहा, "वे मुझे भाते हैं।"

"यह तो मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं हुआ ?"

वह शरत् के स्त्री-पात्रों को बहुत पसंद करती है। 'देवदास' की पार्वती, 'शेष प्रश्न' की कमला, 'श्रीकांत' की राजलक्ष्मी ने उसके मन को काफी प्रभावित किया है। इन पात्रों को क्यों पसंद करती है, इसका विश्लेषण वह नहीं कर पाती। 'उनके स्त्री-पात्र मुझे भाते हैं' उसने सिर्फ़ इतना ही कहा।

"शरत् के स्त्री-पात्र अत्यंत प्रेममय हैं। इस स्त्री-सुलभ गुण में उनका व्यक्तित्व भी डूब जाता है। क्या इसीलिए आप उन्हें पसंद करती हैं ?"

इस प्रश्न का उत्तर देने में उसे संकोच हुआ। उसका चेहरा फीका पड़ गया। छिपाने के लिए मुँह दूसरी ओर फेर लिया। क्षण-भर में उसके चेहरे पर पसीने की बूंदें उभर आईं। फिर वह उठकर भीतर नागलक्ष्मी के पास चली गयी।

इतने दिनों से कात्यायनी यहाँ आ-जा रही है लेकिन उसने डॉ० सदाशिवराव को घर में कभी नहीं देखा। वह जानती थी कि वे सदा पुस्तकालय में रहते हैं।

उसने बारीकी से अनुभव किया कि नागलक्ष्मी किस तरह एकाकी जीवन बिताती होगी। लेकिन इस संबंध में उन्होंने कभी स्पष्ट बात नहीं की थी। एक दिन कात्यायनी ने पूछा, "आप घर में अकेली ऊब जाती होंगी। अपने देवर की शादी कर दीजिये। आपका एकाकीपन दूर हो जायेगा।"

"पढ़ते-पढ़ते मनुष्य की अक्ल मारी जाती है। इंग्लैंड जाने से पहले कहता था, 'वहाँ से लौटकर शादी करूँगा तुम्हारी पसंद की।' अब कहता है, 'शादी ही नहीं करनी।' उसका प्रश्न है, 'क्या शादी के बिना आदमी नहीं जी सकता?"

कात्यायनी ने सोचा, जो सदा नाटक के प्रति अभिरुचि रखता है, कालेज के विद्यार्थियों का प्रिय अध्यापक बन गया है, अच्छी नौकरी पर है, उसका मनोभाव ऐसा क्यों? फिर सोचती कि इसके बारे में मैं क्यों सोचूँ!

एक दिन राज ने उससे पूछा, "इतने दिन हो गए, आप एक बार भी हमारा नाटक देखने नहीं आईं?"

"देखने की इच्छा तो है, लेकिन समय पर घर पहुँचना पड़ता है। नाटक के लिए रुकूँ तो रात के दस बजे घर पहुँचूँगी।"

"नजनगुडू की कई लड़कियाँ नाटक देखने के लिए रुकती हैं। आपकी सहेली वासंती ने गत वर्ष एक नाटक में भाग भी लिया था।"

नागलक्ष्मी भी वहीं खड़ी थी। उसने कहा, "मैंने भी सुना था। नाटक के दिन किसी ने कहा था कि वह लड़की नजनगुडू से आती है। कौन-सा पार्ट था उसका?"

"कैलासम के एक नाटक में जीऊ का पार्ट था।"

नागलक्ष्मी कात्यायनी से कहने लगी, "हर बार नाटक देखने के लिए राज मुझे भी ले जाता है। आप भी आइए। राज बहुत ही सुन्दर ढंग से नाटक प्रस्तुत करता है।"

"घर में पूछूँगी।" कात्यायनी ने उत्तर दिया।

यद्यपि अन्य लड़कियाँ महीने में एक बार नाटक देखकर देर से घर लौटती थीं, किन्तु कात्यायनी सदा समय पर घर पहुँचती। उसके सास-ससुर यह जानकर संतुष्ट थे कि उनकी बहू अपनी स्थिति के गांभीर्य को

जानती है। घर आते ही कपड़े बदलती और हाथ-पैर धोकर सास के कार्य में हाथ बँटाने लगती तो भागीरतम्मा कहती, "अरे, कालेज से थककर आई है, मैं बनाये लेती हूँ।" कभी-कभी श्रोत्रियजी उसे खेती, आय-व्यय, किसानों से अपना लेन-देन आदि के बारे में समझाते। "बेटी, मैं बूढ़ा हो चला हूँ, इन सब का पता तुझे होना चाहिए।" कहकर जमीन सर्वे नम्बर, विस्तार, लगान आदि की जानकारी देते। कुछ दिनों से तो जायदाद-संबंधी सब कागज-पत्र उसे ही सौंप दिये। अब इन सबको व्यवस्थित रूप से पेटी में रखना, ससुर के माँगने पर आवश्यक पत्र ढूँढ़कर देना—यह सारी जिम्मेदारी उसी की हो गयी थी। पत्र माँगने का कारण, उससे संबंधित विषयों की जानकारी देते हुए कहते "तू पढ़ी-लिखी है, इनके बारे में तुझे पूरी जानकारी होनी चाहिए। अगर कहीं मैंने बीच ही में आखें मूँद लीं तो चीनी को कौन बतायेगा?"

वह कहती, "ऐसा मत कहिए, भगवान् करे वह समय कभी न आये।"

एक दिन वासंती ने उनके घर आकर भागीरतम्मा से कहा, "आज एक अच्छा नाटक है, अंग्रेजी में। नाम है 'मैकबैथ'। परीक्षा के लिए भी हमें उसे पढ़ना है। आपकी बहू आ नहीं रही है। आप ही कहिए न?"

भागीरतम्मा की इच्छा नहीं थी, लेकिन श्रोत्रियजी ने कहा, "अगर परीक्षा में सहायक है तो तू भी देख आ बेटी। नाटक दस बार पढ़ने की अपेक्षा एक बार देखने से याद हो जाता है; क्योंकि वे प्रत्यक्ष दृश्य मस्तिष्क में बैठ जाते हैं।

उस दिन पहली बार कात्यायनी ने नाटक देखा। राज ने ही 'मैकबैथ' का पार्ट किया था। नाटक समाप्त होने के पश्चात् रंगमंच पर आकर कालेज के प्रिंसिपल ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हुए कहा—"मैंने कभी यह न सोचा था कि शेक्सपियर के पात्र को कोई भारतीय इतने उत्तम ढंग से प्रस्तुत कर सकेगा!"

"नाटक कैसा रहा?" अगले दिन राज ने कात्यायनी से पूछा?

"आपका पार्ट सचमुच अद्भुत था। आपने कक्षा में भी कभी 'मैकबैथ' इतने कलात्मक ढंग से प्रस्तुत नहीं किया था।"

"खैर, आपने कल एक नाटक तो देख लिया। आप-जैसों से प्रोत्साहन न मिले तो बड़ी मेहनत से प्रस्तुत करने वाले हम लोगों को तृप्ति कैसे मिलेगी?"

राज के मुख से अपनी प्रशसा सुनकर कात्यायनी पुलकित, उल्लसित हो उठी, लेकिन संकोचवश मौन रही। अब नागलक्ष्मी ने कहा, "गीत नहीं, नाच नहीं; भाषा भी समझ मे नहीं आती। अंग्रेजी नाटक भी कोई नाटक है? मैं तो ऊब गई थी।"

राज और कात्यायनी हँस पड़े।

कात्यायनी का कालेज का प्रथम वर्ष पूर्ण हुआ। नौ माह कैसे बीते, पता ही न लगा। जूनियर परीक्षा के पेपर अच्छे हुए थे। वैसे रोज के रेल-प्रवास से ऊब गयी थी। सोचती थी गर्मी की छुट्टियों मे इससे मुक्ति मिलेगी। लेकिन छुट्टी क्या मिली, वह पहले से अधिक ऊब गयी। कालेज के दिनों में वह जल्दी उठकर स्नान करती। सबके कपड़े धोती। बालक के उठने से पहले दो घंटे अध्ययन करती। पति की पुस्तकों के अलावा पुस्तकालय से किताबें लाकर पढ़ती। पाठ में मन न लगने पर, कालेज जाते और लौटते समय कोई उपन्यास उठा लेती, और विश्राम के समय लेडीज कामनरूम में बैठकर अधूरे उपन्यास को पूरा पढ़ डालने का यत्न करती अथवा नागलक्ष्मी के पास चली जाती।

छुट्टियाँ होने के एक सप्ताह बाद वासती श्रोत्रियजी के घर आई। उसके चेहरे पर नयी आभा झलक रही थी, जिसे वह यत्न करने पर भी छिपा न सकी। वह फाइनल बी० ए० की परीक्षा दे चुकी थी। कात्यायनी ने पूछा, "आज बड़ी खुश नजर आ रही हो क्या बात है?"

"नहीं तो!"

"छिपा क्यों रही हो? [खुशी तो चेहरे से साफ-साफ झलक रही है। क्या प्रथम श्रेणी मे आने की उम्मीद है?"

"ना बाबा! वे दें तो भी मुझे नहीं चाहिए।"

"आखिर बात क्या है?"

नई खबर देने के लिए ही वह आई थी। शरमाते हुए उसने कहा, "अब बीस दिन बाद तुम्हें हमारे घर भोजन के लिए आना होगा।"

"सच ! बधाई है। वर कहाँ का है ?"

"मैसूर का। हमारे कालेज से ही इस वर्ष एम० ए० की परीक्षा दी है।"

"अरे, मुझे तो कुछ पता ही नहीं लगा। यह प्यार छिप-छिपकर ही चला। खैर, कोई बात नहीं। बधाई है, बधाई।"

वासंती का चेहरा लज्जा से लाल हो उठा। स्वजातीय लड़के से वह प्यार करती रही थी। दूर का संबंधी था। वे रोज कालेज में मिलते थे। वासंती विश्राम के समय लेडीज रूम में नहीं जाती थी। अपने प्रेमी के साथ कुछ ही दूर तालाब के किनारे घूमने निकल जाती थी। इस संबंध में उसने कभी कात्यायनी से भी चर्चा नहीं की। हो सकता है कालेज की अन्य लड़कियाँ जानती हों, लेकिन सदा गंभीर रहने वाली कात्यायनी से इस बारे में किसी ने कुछ नहीं कहा था।

वासंती के चले जाने पर भी इसे सोचकर कात्यायनी प्रसन्न होती रही। भगवान् से प्रार्थना की कि वासंती के पति को लम्बी उम्र मिले। उसका जीवन सुखमय हो, वह खुशी से अपना भविष्य बिताये। लेकिन अपना भविष्य क्या है ? कालेज की पढ़ाई एक साल तक और चलेगी। फिर वही घर में रहना होगा। अपने पति के अपूर्ण कार्य को पूर्ण करने की इच्छा से ही वह कालेज जा रही है। लेकिन वह इच्छा अब कुछ अनाकर्षक प्रतीत होने लगी है। अगर वह बी० ए० कर लेती है तो स्वर्गीय पति को क्या मिलेगा ? और जहाँ तक घर-बार के व्यवहार का प्रश्न है, बी० ए० करने से उस कार्य में कौन-सी विशिष्ट सुविधा मिलने वाली है ? फिर भी अगले साल उसे कालेज जाना है।

कात्यायनी को नागलक्ष्मी की याद आती। नागलक्ष्मी के भोले स्वभाव एवं विश्वासपूर्ण मन का स्मरण करने पर हृदय में स्नेह उमड़ आता। साल-भर में एक दिन भी कात्यायनी ने डॉक्टर राव को नहीं देखा था। सुनने में आया कि आज कल उनके सिर पर लेखन-कार्य का ही भूत सवार है। हमेशा लिखने में ही व्यस्त रहते हैं। इससे नागलक्ष्मी को कितना दुःख होता होगा ? फिर भी वे सुमंगला हैं। कम-से-कम

उन्हें इस बात का संतोष तो है कि एक फर्लाङ्ग पुलिन सीखने की बैठकर पति लिख रहे हैं। वे रोज वेणी बांधती हैं, मग-ए-स ध्वनि और भौंहों के बीच चंद्राकार टीका लगाती हैं। क्या यह क्रूरता, सौभाग्य है।

नागलक्ष्मी की याद के साथ ही कात्यायनी को राजाराव का स्मरण हो आता। वे कितने प्रभावशाली हैं। शेक्सपियर को इतने उत्तम ढंग से कौन पढ़ा सकेगा? सारा कालेज ही उनके अध्यापन पर मुग्ध है। नाटक सिखाना उसे प्रस्तुत करना और स्वयं अभिनय करना—कितनी कुशलता है! कालेज की अनेक लड़कियाँ उनके प्रति आकर्षित हुई हैं। लेडीज रूम में लड़कियाँ निर्लज्जतापूर्वक परस्पर पूछतीं, "आज कैसा था मैकबैथ?"

"ब्यूटीफुल!"

"ऐसी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए। तू लेडी मैकबैथ थोड़े ही है!"

"अगर मैं लेडी मैकबैथ होती तो क्या तू मुझ से ईर्ष्या न करती?"

"सिली! डोंट वरी, बी सैल सेमर।"

कात्यायनी सोचती, 'कई लड़कियाँ अध्यापकों के बारे में वार्ता करते समय गांभीर्य नहीं दिखाती। वे शायद इसी तरह समय व्यतीत करने के उद्देश्य से कालेज आती होंगी।' फिर भी राजाराव प्रतिभाशाली है, स्नेह का पात्र है, विनोदी भी है। मुझ जैसी गूँगी को भी कितनी जल्दी बातें करना सिखा दिया! अपने नाम पर मुझे किताबें दिलाता है। इतना सब कुछ होते हुए भी वह शादी करना नहीं चाहता! न जाने क्या कारण है! उसकी पत्नी बनकर कोई भी लड़की सुखमय जीवन बिता सकेगी।'

छुट्टी के दिनों में दोपहर को कात्यायनी घर के पिछवाड़े लगे फूल के पौधों एवं तरकारियों को सींचती। आम के पेड़ से लिपटी मोगरे की लताओं को सींचते समय उसे पति की याद आ जाती। 'इसी लता को सींचते समय मुझे छेड़ते थे वे।' यह उसे प्रिय लगता था लेकिन किसी के देख लेने के भय से वह कृत्रिम नाराजी प्रकट करती। अब? सोचकर पीड़ा होती और दूसरे पौधों के पास चली जाती। पहले वह बालों में फूल खोंसती थी और पति को उतने से संतोष नहीं होता था।

बाग भी फूलों का ढेर लगता है। अधिकांश फूल देवपूजा के लिए होता है। पूजा के पश्चात् आठ-दस फूलों को प्रसाद-रूप में उसकी सास लगा लेती है। बाकी शाम की पूजा के लिए और बचे हुए फूल मांगने पर अन्य स्त्रियों को दे दिये जाते।

कई वार मन में आता कि फूलों का उपयोग पूजा के लिए अधिक उचित है या स्त्रियों की वेणी के लिए। देवपूजा के लिए इनके उपयोग के विरुद्ध वह नहीं थी, लेकिन उनसे वेणी सजाने में जो आनन्द मिलता है उसे कौन निर्लक्ष्य कर सकता है? एक दिन मोगरे की लता को सींचते-सींचते उसने देखा, जिस आम्र-वृक्ष से लता लिपटी है, वह भीतर से सूख चुका है।

उसने ससुर को बताया तो उन्होंने नौकर के द्वारा उसे कटवा दिया। और लता को बाँस का आधार दिला दिया। कात्यायनी से कहा, "पास ही एक नया आम्र-वृक्ष लगवा देते हैं, रोज पानी सींचा करो।" पंद्रह दिनों में नये अंकुर आ गये। बाद में श्रोत्रियजी ने लता को इस नये पौधे का आधार देना सोचा। कात्यायनी को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि नये पौधे का आधार पाकर पुष्पलता में अधिक फूल खिलने लगे हैं। उसे भय था कि पेड़ के साथ ही लता भी मुरझा जायेगी।

छुट्टियों में केवल डॉ० सदाशिवराव-जैसे लोग ही कार्य करते हैं। राज के लिए नीरस समय था। फरवरी से लेकर कालेज प्रारंभ होने के पंद्रह दिन बाद तक उसका नाटक संघ भी सो जाता है। विश्वविद्यालय की परीक्षाओं के पश्चात् कुछ दिन उसे परीक्षा का कार्य करना पड़ता था। फिर लगभग दो महीनों के लिए उसे आलसी बनकर रहना पड़ता था। इस साल की छुट्टियों में उसे एक अज्ञात उदासी ने घेर लिया। उसे जीतने के लिए वह कालेज की व्यायामशाला में गया। यह क्रम लेकिन तीसरे दिन रुक गया। सोचा अब शास्त्रीय संगीत सीखूं। अपने नाटक के लिए आवश्यक पार्श्वगीत स्वयं गाने का विचार था। एक शिक्षक नियुक्त किया। संगीतज्ञ ने कहा, "कण्ठ को गाने के लायक बनाने के लिए कम-से-कम तीन वर्ष परिश्रम करना होगा।

अच्छा हो आप वाद्य संगीत सीखें।" उन्होंने वायलिन सीखने की राय दी। उसी दिन एक पुरानी पिटिल खरीद ली। और म-प-स ध्वनि उत्पन्न करना भी सीख लिया। रोज दो-तीन घण्टे परिश्रम करता, लेकिन पंद्रह दिन बीत जाने पर भी जब आवश्यक ध्वनियाँ नहीं निकाल सका तो उत्साह घट गया। संगीत-अध्यापक आते रहे। उन्हें तो अपनी फीस चाहिए थी।

राज ने सोचा, इस बार ऐसी उदासी क्यों लग रही है। जितना सोचता, उतना विचार में उलझता जाता। कोई कारण समझ में नहीं आता। भाभी से बातें करने, पृथ्वी को घुमाने ले जाने की इच्छा भी न रही। कभी अकेला ही मुंह अंधेरे सात-आठ मील साइकिल पर निकल जाता। लेकिन गर्मी के इन दिनों में आसपास के खेत सूखे दिखाई देते थे। इन्हें देखकर वह विचारों में खो जाता।

राज सोचता, मानव कल्पित समाज, शास्त्र, रीति-रिवाज, नीति-नियम आदि जीवन की मूलभूत शक्ति को कुंठित कर देने वाली बीमारियाँ हैं। इन बुराइयों से ऊपर उठाकर, जीवन की मूल चेतना का दर्शन कराना ही राज के मतानुसार साहित्य का उद्देश्य है। उसने सोचा, पेड़-पौधों, हरियाली, तरु-लताओं की आड़ में कूकती कोयलियों की मधुर ध्वनि के अभाव में सूखे खेत क्या मूल चेतना के प्रतीक हैं? नहीं, यह वस्तुस्थिति नहीं है। अंत में उसने उस ओर जाना ही छोड़ दिया।

उस साल चैत्र मास के पूर्वार्द्ध में तीन-चार बार हल्की-हल्की बारिश हुई। धरती की तपन घट गयी और वह मुस्करा उठी। कालेज के पीछे के विशाल मैदान में हरी घास उग आई। सारा गाँव लहलहा उठा। एक सप्ताह बाद राज साइकिल पर सवार होकर जब उस ओर निकला तो वर्षा से पंद्रह दिनों में ही हुए इस परिवर्तन को देखकर मुग्ध हो गया। किसान खेत जोत रहे थे। खेतों में हरियाली खेल रही थी। मार्ग के दोनों ओर पेड़ नई शोभा लिये हर्ष से झूम रहे थे। पक्षी गाने, चहचहाते स्वच्छंदतापूर्वक उड़ रहे थे। यह परिवर्तन देखकर उसे लगा कि यही प्रकृति का मूल रूप है, इसी में चेतना छिपी है। आगे वृक्ष सघन हो गये थे। कहीं-कहीं डालियाँ इतनी झुक गयी थीं कि साइकिल पर खड़े होकर उन्हें पकड़ा जा सकता था। वट-वृक्ष झूले-से झूल रहे थे।

और थोड़ा आगे दस-पंद्रह आदमी रास्ते के पेड़ों पर चढ़कर डालियाँ काट रहे थे। राज को बड़ा दुःख हुआ। साइकिल से उतरकर, पेड़ काटने वाले मजदूरों के अधिकारी से पूछा, "इतने अच्छे घने वृक्षों को क्यों कटवा रहे हो?" बीड़ी का कश लेकर नथुनों से धुआँ छोड़ते हुए उसने उत्तर दिया, "राँड़ की संतान की तरह घने वृक्षों से क्या लाभ? आने-जाने वाली बसों की छतों से टकराते हैं। सरकारी सब-ओवरसियर ने काटने का आदेश दिया है।"

उत्तर सुनकर राज को अच्छा नहीं लगा। लेकिन वह क्या करता? अतः साइकिल घुमायी और घर की ओर लौट पड़ा-वह करीब पंद्रह मील दूर निकल आया था।

दिन-भर उसे अधिकारी का वह उत्तर कुरेदता रहा। जहाँ कहीं आदमी की गति-विधियाँ अधिक होती हैं, वहाँ प्राकृतिक शोभा की यही दुर्दशा होती है। लोग वास्तविकता में निहित नवीनता को नष्ट कर के उस पर अपनी ही इच्छा लादते हैं। मानव-जीवन पर भी ऐसे ही आघात होते रहते हैं—ऐसे ही बंधन बाँध दिये जाते हैं। शहरी जीवन तो इन बेड़ियों में बुरी तरह जकड़ा हुआ है। कितने व्यक्ति इसी तरह बँधे छटपटा रहे हैं! इससे मुक्त हुए बिना मूल स्थिति के चैतन्य का अनुभव करना असंभव है। उस दिन रात को जब वह लेटा, तो प्रकृति-शोभा को उजाड़कर, मनुष्य का अपने लिए मार्ग आदि बनाने और व्यक्ति के स्वच्छंद आनंद को दबाकर सामाजिक जीवन को नियम-बद्ध करने की तुलना करते हुए उसका मन एक नाटक की कल्पना कर रहा था। उस नाटक का कोई पात्र नहीं, कथावस्तु नहीं। सारी प्रकृति ही उस नाटक की नायिका थी और समस्त मानव-वर्ग उस नायिका के हत्यारे के रूप में खड़ा था। दृश्य विरोध-शक्ति का निर्माण करके उसके मस्तिष्क में घूम रहा था। काफी रात बीते उसे नींद आई। तब तक डॉ० राव भी सो चुके थे।

सुबह-सुबह उसने एक स्वप्न देखा। स्वप्न में भी वही नाटक! अब तक एक पात्र का सृजन हो चुका था और नाटक को मूर्त्त रूप भी मिल गया था। लगभग बाईस-तेईस की एक सुन्दर युवती! मनमोहक लावण्यमय रूप! शरीर स्वस्थ, शुभ्र ज्योत्स्ना-सा चमक रहा है।

चलती तो चरण ऐसे रक्तिम हो उठते, मानों रक्त अब फूटने ही जा रहा है। लंबी-लंबी अँगुलियाँ, केवल चित्रकार द्वारा ही चित्रित की जाने वाली अँगुलियों-सी। शरीर साँचे में ढला-सा। लम्बे-लम्बे, घने काले, घुँघराले बाल, जो पीठ पर सर्पिणी-से लटक रहे हैं। मुख-मुद्रा गंभीर! अंग-अंग में सुकुमारता है, प्रस्फुटित स्त्री-चैतन्य। पूर्णतः वस्त्र-हीन एक अप्सरा, एक पुष्प-लता के नीचे चट्टान पर पैर लटकाये बैठी है। घनीभूत होकर सामने खड़ी चाँदनी-सी उसकी सर्वांग शोभा, शारीरिक सुघड़ता के सागरत्व और तरुणाई के लावण्य से सजीव ही चमक रही है। प्राकृतिक सौंदर्य छिपाने के लिए शरीर पर आवरण नहीं है। सामान्य स्त्री को अपनी नग्नता पर जो संकोच हो सकता है, उसका उसमें अभाव है। उसके पार्श्व में लाल गुलाबों का ढेर है। दोनों हाथों से एक सुंदर पुष्पमाला गूँथ रही है। पौधों के उस ओर से एक स्वर से सैकड़ों लोगों के चिल्लाने की आवाज आ रही है, 'तू विधवा है, तेरे इस हार को कोई स्वीकार नहीं करेगा।'

स्वप्न टूट गया। आँखें खुलीं तो उसने निश्चय किया कि इसी कथावस्तु के आधार पर एक नाटक लिखूँगा। स्वप्न की उस अप्सरा को अपने स्मृति-पटल पर लाने का प्रयत्न किया। उसका स्पष्ट चित्र राज के नेत्रों में अवश्य था, लेकिन याद नहीं आ रहा था कि चित्र किस का है। दो दिन बाद आँखों पर छाये बादल हट गये। वह चित्र किसी और का नहीं, उसी की छात्रा कात्यायनी का था। यह क्या! उसे भी आश्चर्य हुआ।

गर्मी की छुट्टियों के पश्चात् आज कालेज खुलने वाला था। सुबह दस बजे राज घर के आँगन में कुर्सी पर बैठा, अपने नाटक को उलट-पलट रहा था। उसने इस साल का कार्यक्रम इसी नाटक से प्रारंभ करने का निश्चय किया था। पाण्डुलिपि में दो-तीन बार संशोधन कर चुका था। टाइप करने के लिए अपनी छात्रा को सौंपने से पहले वह आज फिर उस पर नजर डाल रहा था। उसे लगा, फाटक खोलकर कोई आ रहा है। सिर उठाकर देखा, कात्यायनी थी। उसके हाथ में रूमाल

में बँधी एक पुड़िया थी। उसकी महक से राज जान गया कि मोगरे के फूल हैं। उठकर कहा, "ये मुझे दे दीजिए।"

अनपेक्षित राज के आँगन में बैठे होने और फूल माँगने पर कात्यायनी क्या कर सकती थी! उसने फूल की पुड़िया राज को दे दी। राज ने उसे खोला। सुंदर पुष्पहार था। राज विस्मित हो उठा। सोचने लगा, ये घटनाएँ आकस्मिक क्यों घटती हैं। पूछा, "यह किसके लिए है?"

"नागलक्ष्मम्मा के लिए।"

भ्रमित होकर कहा, "बैठिए, भाभी पड़ोस में हल्दी-कुंकुम के लिए गयी है। एक-दो मिनट में आ जायेगी!"

कात्यायनी पास की कुर्सी पर बैठ गयी। उसकी छुट्टियों के बारे में राज ने प्रश्न किये। दोनों आपसी कुशल-समाचार की बातें कर ही रहे थे कि नागलक्ष्मी आ गयी। उसके साथ कात्यायनी भीतर चली गयी। राज ने पुष्पमाला भाभी को सौंप दी। आधे घण्टे बाद कात्यायनी रसोईघर से लौटी तो राज ने कहा, "देखिए आपसे एक काम है।"

"मुझसे?" कात्यायनी ने आश्चर्य से पूछा।

"हाँ, मैंने एक नाटक लिखा है।"

"सच! मैं अभी तक यही समझती थी कि आप केवल नाटक प्रस्तुत करते हैं और उसमें भाग लेते हैं।"

"यह बात नहीं। कई नाटक लिखे हैं, लेकिन एक भी प्रकाशित नहीं हुआ है। यह नया नाटक है। इसमें आपको पार्ट करना होगा।"

"क्या कह रहे हैं सर! मैं तो मर जाऊँगी।" वह हैरान थी।

"मैं जानता हूँ कि इंटर में पढ़ते समय आपने एक बार पार्ट लिया था।"

"किसने कहा?"

"किसी ने भी कहा हो। अब आपको स्वीकार करना पड़ेगा।"

कात्यायनी गंभीर हो उठी। इतने में नागलक्ष्मी भी आ पहुँची। कात्यायनी ने कहा, "तब और अब में बहुत अन्तर है। कोई क्या कहेगा?"

"कोई कुछ नहीं कहेगा। हमारी नाटक-संस्था में कितनी ही लड़कियाँ भाग लेती हैं। इसे मैंने ही लिखा है। मेरा विश्वास है नायिका की भूमिका आप ही अच्छी तरह कर सकेंगी।"

कात्यायनी नहीं मानी। वह कालेज चली गयी। दो-तीन दिन राज ने विवश किया तो मानना ही पड़ा। उसने एक बार मेकअप करके रंगमंच पर अभिनय करने का आनंदानुभव किया था। अब भी वह विचार उसे आकर्षक लगा। लेकिन मन में उसे इस बात का भय भी था कि अगर सास-ससुर को पता लग गया तो ? लेकिन वासंती इस साल कालेज में नहीं आ रही थी। वह अब ससुराल में थी। इसकी खबर देने वाला दूसरा कोई तो था ही नहीं।

"आपने नाटक अंग्रेजी में लिखा है, मैं पार्ट नहीं कर सकूँगी।"

'मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप अच्छी तरह कर सकेंगी। कन्नड़ नाटक होता तो और किसी छात्रा को सौंप देता। कई छात्राएँ पार्ट लेने का आग्रह कर रही हैं। आप 'आप्शनल इंग्लिश' की छात्रा हैं, आपको यह करना ही पड़ेगा।"

नाटक की टाइप की हुई एक प्रति कात्यायनी को देते हुए राज ने कहा, "एक बात याद रखें। यह नाटक है, कला है। किसी व्यक्ति को दृष्टि में रखकर नहीं लिखा गया। इसके सभी पात्र मात्र प्रतीक हैं। इस नाटक में पात्रों की केवल कथा ही नहीं है, गहन अर्थ भी है। केवल कथोपकथन पढ़ने से ही नाटक समझ में नहीं आ सकता। यह तब स्पष्ट होगा, जब उसे रंगमंच पर 'लाइटिंग इफेक्ट' के साथ प्रस्तुत किया जायेगा। मैं आपको इस संबंध में प्रशिक्षण दूँगा।"

कात्यायनी नाटक की पाण्डुलिपि लेती गयी। दूसरे दिन वह आई तो उसके चेहरे पर तनिक कठोरता थी किन्तु गुरु के सम्मुख नम्र होकर ही बोली, "सर यह पार्ट किसी और से कराइए।"

"आप समझने की कोशिश कीजिए। यह कला है, नाटक है।"

"मुझे दृष्टि में रखकर ही आपने इसे लिखा है!" उसके स्वर में वेदना थी।

"नहीं, ऐसा कदापि न सोचिए। यह एक अलग ही ढंग से मेरे मस्तिष्क की उपज है। यह एक रूपक-मात्र है।" कहते हुए उसने प्रस्तुत

नाटक की कथावस्तु उसके मस्तिष्क में कैसे आई—यह समझाया। वह वस्त्रहीन स्वप्न-सुंदरी कौन थी—इस बारे में कुछ नहीं बताया। अंत में कात्यायनी ने पार्ट करना स्वीकार कर लिया। केवल चार पात्रों का नाटक था। उसमें भी कुछ संवाद महीन सफेद परदे के पीछे और कुछ रंगमंच पर बोले जाने वाले थे। वह एक नयी शैली, नया रूप और नया नया संदेश लिए हुए था।

कात्यायनी अभिनय के लिए रोज नागलक्ष्मी के घर आती। यहीं राज उसे अभिनय सिखाता। नागलक्ष्मी अंग्रेजी नहीं जानती थी, फिर भी वह तल्लीनता से राज का प्रशिक्षण और कात्यायनी का अभ्यास देखती। शेष तीन पुरुष पात्र थे, जिन्हें वह कालेज में प्रशिक्षित करता था। नाटक का नाम था 'द प्रिमोर्डियल' (मूलतत्त्व)। 'प्रकृति' नायिका थी और 'पुरुष' नायक। पुरुष रंगमंच पर घूमता है, उसे अधिक अभिनय नहीं करना है। केवल एक ही संवाद है। अन्य दो पात्रों में एक है जगत पर शक्ति के बल पर शासन करने वाला इंद्र और दूसरा है, उस पर धार्मिकता का अंकुश लगाने वाले देवगुरु बृहस्पति।

अगस्त की पहली तारीख। शाम के छह बजे नाटक शुरू हुआ। वर्ष का प्रथम नाटक था। अतः कुलपति ने कार्यक्रम की अध्यक्षता की। नये विद्यार्थी देखने को आतुर थे कि यह नाटक कैसा है और पुराने विद्यार्थी राजाराव द्वारा रचित नाटक देखने के लिए उत्सुक थे। कालेज का खुला नाट्यगृह खचाखच भरा हुआ था।

हरे-भरे वन में टहलती प्रकृति पुष्प संचय कर रही है। बिल्कुल मौन, शांत ! प्रस्तुत दृश्य का अर्थ नेपथ्य से सुनाई दे रहा है। संचित पुष्पों से प्रकृति एक बड़ी माला बनाती है। माला की शोभा को देखकर वह नाचने लग जाती है। इतने में रंगमंच पर पुरुष का प्रवेश होता है। पुरुष के सान्निध्य से आकर्षित हो प्रेमालाप करती हुई वह उसके पास पहुँचती है। हाथ की माला उसके गले में डालना चाहती है ! लेकिन पुरुष ने उसका हाथ थामने के लिए हाथ बढ़ाया। इसी बीच बादलों की गड़गड़ाहट और चारों ओर अंधकार-ही-अंधकार !

अगला दृश्य है इंद्र का न्याय-स्थान। जंजीरों में जकड़ी 'प्रकृति' एक पार्श्व में खड़ी है। इंद्र सिंहासन पर विराजमान हैं। एक दूसरे आसन

पर विराजमान बृहस्पति कहते हैं, तुझ पर धर्मच्युति का आरोप है।"

"कैसे देवगुरु?"

"तू पहले किसी और पुरुष के संसर्ग में थी। ज्ञानोदय होने पर वह तुझ से दूर चला गया। तू विधवा है। अब दूसरे पुरुष को वरमाला पहनाना चाहती है। यह धर्म-विरुद्ध है।"

"जो प्रकृति चिर नूतन है, चिर चैतन्य है उसे कृत्रिम धर्म की रूढ़ियों में बाँधना क्या अधर्म नहीं है गुरुदेव? मेरा मूल गुण चेतनामय है। मन को आह्लादित कर देने वाली वनश्री, आँखों को शीतलता पहुँचाने वाले सुंदर दृश्य, चराचर जीवों को अन्न देने वाली मेरी व्याप्ति आदि पर कोई भी धर्म वैधव्य का स्पर्श नहीं करा सकता। देवगुरु, क्या आप मेरे एक प्रश्न का उत्तर देंगे?"

"अवश्य! पूछो।"

"क्या प्रकृति के संसर्ग से ही पुरुष की मुक्ति नहीं है?"

"हाँ यह ठीक है।"

"अगर आपने मुझ पर वैधव्य का आरोप लगा दिया तो उन अनन्त कोटि पुरुषों का क्या होगा जिन्हें अब तक मुक्ति नहीं मिली है; उन्हें मिलने वाली मुक्ति से वंचित रखने वाला आपका धर्म कृत्रिम नहीं तो और क्या है?"

देवगुरु निरुत्तर हो गये। प्रकृति फिर कहती है, "मूलतत्त्व के मूल गुण को कृत्रिम रूप में रोकने वाले धर्म, नीति, राजशासन, सामाजिक नियम, जनमत का आरोप आदि असत्य के प्रतीक हैं। प्रकृति चिर यौवना है। उसके सुंदर स्वरूप को रौंदने का प्रयास करने वाला धर्म स्वयं मिट जाता है।"

पुनः बादलों की गर्जना। सभी ओर अंधकार। अब मंद प्रकाश। इंद्र और बृहस्पति अपनी गलती पर पछता रहे हैं। दोनों निर्जीव होकर गिर पड़ते हैं। अब रंगमंच पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। हाथ में पुष्पमाला लिये, नृत्य करती हुई प्रकृति रंगमंच पर प्रवेश करती है। अपने चिरंतन यौवन का गीत गाती है। पुरुष उसके निकट आता है। लेकिन प्रकृति अब उसे पुष्पमाला नहीं पहनाती। पुरुष कहता है, "प्रकृति, तू विधवा नहीं, चिर सुमंगला है।"

नाटक की कथावस्तु उसके मस्तिष्क में कैसे आई—यह समझाया। वह वस्त्रहीन स्वप्न-सुंदरी कौन थी—इस बारे में कुछ नहीं बताया। अंत में कात्यायनी ने पार्ट करना स्वीकार कर लिया। केवल चार पात्रों का नाटक था। उसमें भी कुछ संवाद महीन सफेद परदे के पीछे और कुछ रंगमंच पर बोले जाने वाले थे। वह एक नयी शैली, नया रूप और नया नया संदेश लिए हुए था।

कात्यायनी अभिनय के लिए रोज नागलक्ष्मी के घर आती। यहीं राज उसे अभिनय सिखाता। नागलक्ष्मी अंग्रेजी नहीं जानती थी, फिर भी वह तल्लीनता से राज का प्रशिक्षण और कात्यायनी का अभ्यास देखती। शेष तीन पुरुष पात्र थे, जिन्हें वह कालेज में प्रशिक्षित करता था। नाटक का नाम था 'द प्रिमोर्डियल' (मूलतत्त्व)। 'प्रकृति' नायिका थी और 'पुरुष' नायक। पुरुष रंगमंच पर घूमता है, उसे अधिक अभिनय नहीं करना है। केवल एक ही संवाद है। अन्य दो पात्रों में एक है जगत पर शक्ति के बल पर शासन करने वाला इंद्र और दूसरा है, उस पर धार्मिकता का अंकुश लगाने वाले देवगुरु बृहस्पति।

अगस्त की पहली तारीख। शाम के छह बजे नाटक शुरू हुआ। वर्ष का प्रथम नाटक था। अतः कुलपति ने कार्यक्रम की अध्यक्षता की। नये विद्यार्थी देखने को आतुर थे कि यह नाटक कैसा है और पुराने विद्यार्थी राजाराव द्वारा रचित नाटक देखने के लिए उत्सुक थे। कालेज का खुला नाट्यगृह खचाखच भरा हुआ था।

हरे-भरे वन में टहलती प्रकृति पुष्प संचय कर रही है। बिल्कुल मौन, शांत! प्रस्तुत दृश्य का अर्थ नेपथ्य से सुनाई दे रहा है। संचित पुष्पों से प्रकृति एक बड़ी माला बनाती है। माला की शोभा को देखकर वह नाचने लग जाती है। इतने में रंगमंच पर पुरुष का प्रवेश होता है। पुरुष के सान्निध्य से आकर्षित हो प्रेमालाप करती हुई वह उसके पास पहुँचती है। हाथ की माला उसके गले में डालना चाहती है! लेकिन पुरुष ने उसका हाथ थामने के लिए हाथ बढ़ाया। इसी बीच बादलों की गड़गड़ाहट और चारों ओर अंधकार-ही-अंधकार!

अगला दृश्य है इंद्र का न्याय-स्थान। जंजीरों में जकड़ी 'प्रकृति' एक पार्श्व में खड़ी है। इंद्र सिंहासन पर विराजमान हैं। एक दूसरे आसन

पर विराजमान बृहस्पति कहते हैं, तुम्हपर धर्मच्युति का आरोप है।"

"कैसे देवगुरु?"

"तू पहले किसी और पुरुष के संसर्ग में थी। ज्ञानोदय होने पर वह तुझ से दूर चला गया। तू विधवा है। अब दूसरे पुरुष को वरमाला पहनाना चाहती है। यह धर्म-विरुद्ध है।"

"जो प्रकृति चिर नूतन है, चिर चैतन्य है उसे कृत्रिम धर्म की रूढ़ियों से बांधना क्या अधर्म नहीं है गुरुदेव? मेरा मूल गुण चेतनामय है। मन को आह्लादित कर देने वाली वनश्री, आँखों को शीतलता पहुँचाने वाले सुंदर दृश्य, चराचर जीवों को अन्न देने वाली मेरी व्याप्ति आदि पर कोई भी धर्म वैधव्य का स्पर्श नहीं करा सकता। देवगुरु क्या आप मेरे एक प्रश्न का उत्तर देंगे?"

"अवश्य! पूछो।"

"क्या प्रकृति के सम्पर्क में ही पुरुष की मुक्ति नहीं है?"

"हाँ यह ठीक है।"

"अगर आपने मुझ पर वैधव्य का आरोप लगा दिया तो उन अनंत कोटि पुरुषों का क्या होगा जिन्हें अब तक मुक्ति नहीं मिली है; उन्हें मिलने वाली मुक्ति से वंचित रखने वाला आपका धर्म कृत्रिम नहीं तो और क्या है?"

देवगुरु निरुत्तर हो गये। प्रकृति फिर कहती है, "मूलतत्त्व के मूल गुण को कृत्रिम रूप में रोकने वाले धर्म, नीति राजशासन, सामाजिक नियम, जनमत का आरोप आदि असत्य के प्रतीक हैं। प्रकृति चिर यौवना है। उसके सुंदर स्वरूप को रौंदने का प्रयास करने वाला धर्म स्वयं मिट जाता है।"

पुनः बादलों की गर्जना। सभी ओर अंधकार। अब मंद प्रकाश। इंद्र और बृहस्पति अपनी गलती पर पछता रहे हैं। दोनों निर्जीव होकर गिर पड़ते हैं। अब रंगमंच पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। हाथ में पुष्पमाला लिये, नृत्य करती हुई प्रकृति रंगमंच पर प्रवेश करती है। अपने चिरंतन यौवन का गीत गाती है। पुरुष उसके निकट आता है। लेकिन प्रकृति अब उसे पुष्पमाला नहीं पहनाती। पुरुष कहता है, "प्रकृति, तू विधवा नहीं, चिर सुमंगला है।"

प्रकृति उसे माला पहनाती है। इंद्र और वृहस्पति को एक बार कृपा दृष्टि से निहारती है। उनके हाथ-पैर आते हैं। दोनों उठते हैं और प्रकृति के चरणों में झुकते हैं। वह अभयदान देती है। दोनों खड़े हो जाते हैं। रंगमंच का प्रकाश धीरे-धीरे मंद हो जाता है और परदा गिर जाता है।

दर्शकों की करतल-ध्वनि से हाल गूंज उठा।

नेपथ्य में कात्यायनी आई। उसके दोनों हाथों को जोर से दबाते हुए राज ने कहा, "अदभुत! मेरी कल्पना को आपने सार्थक कर दिया है।"

"प्रशिक्षण आपका ही था।" कात्यायनी अपने हाथ छुड़ाना भूल ही गयी।

इस बीच रंगमंच पर मेज-कुर्सियाँ रखी गयीं। प्रिंसिपल और कुल-पति कुर्सियों पर बैठ गये। तीसरी कुर्सी पर राज बैठा। संस्था के सचिव ने पुष्पमाला से कुलपति का स्वागत किया। पीछे बैठे विद्यार्थियों ने आवाजें दीं, 'पुरुष' को भी माला'। क्योंकि उन्हें राज का अभिनय बहुत ही पसंद आया था। प्रिंसिपल ने उठकर विद्यार्थियों से शांत रहने को अपील की।

शांति हुई। कुलपति उठे और माइक के सामने खड़े होकर वक्तव्य देने लगे, "मैं जीवविज्ञान का प्राध्यापक रह चुका हूँ। मैं नाटक के संकेतार्थ ठीक-ठीक तो नहीं समझ सका; किन्तु निस्संदेह मिस्टर राजाराव ने उसे बहुत ही सुंदर ढंग से लिखा है। आप सब लोगों की ओर से मैं उनका अभिनंदन करता हूँ। नायिका के रूप में मिस, मिस, मिस........." कहकर राज की ओर देखा। राज ने कहा, "कात्यायनी!" "हाँ, तो मिस कात्यायनी ने अद्भुत अभिनय किया है। अन्य तीनों पात्रों का पार्ट भी संतोषजनक रहा। संक्षेप में यही कहूँगा कि नाटक उत्तम रहा।

"जीवविज्ञान के विद्यार्थी के नाते मैं यह समझ सकता हूँ कि प्रकृति चिरनूतन है, हमारे जीव-कोश मरते रहते हैं और नये उत्पन्न होते हैं। मनुष्य के मरने पर भी उसके जीवकोश हवा में जीवित रह सकते हैं। अतः निष्कर्ष यही है कि सारा संसार जीवमय है।"

कार्यक्रम समाप्त हुआ तो रात के साढ़े आठ बज चुके थे। राज ने कात्यायनी से कहा, "इस वक्त आपका साथ देने के लिए कोई नहीं मिलेगा। चलिए, मैं स्टेशन तक छोड़ आता हूँ।"

'मेक अप' उतार और अपने कपड़े पहनकर कात्यायनी निकल पड़ी। राह चलते राज ने पूछा, "वाइस चासलर ने आपको तीन बार 'मिस, मिस, मिस' कहा, ध्यान दिया था?"

कात्यायनी कुछ न बोली। वह सोच रही थी, उसे आज पार्ट ही नहीं करना चाहिए था। जब तक रंगमंच पर रही, अपने-आपको बिसार चुकी थी। पूरी तन्मयता से अभिनय किया था। नाटक समाप्त होते ही संकोच ने घेर लिया। राह-भर वह चुपचाप चलती रही। स्टेशन निकट आने पर कहा, "स्टेशन पर नंजनगुडु जानेवाले विद्यार्थी होंगे, वे अन्यथा समझेंगे। अब आप घर जाइए।"

राज चुपचाप लौट पड़ा।

६

एक साथ शोध-कार्य करने वाले डॉ० राव और रत्ने दोनों कुछ ही दिनों में निकट स्नेही बन गये। दोनों का ध्येय एक, दिशा एक। एक के कार्य के लिए दूसरा आवश्यक था। विद्वत्ता के क्षेत्र में रत्ने विद्यार्थी-स्तर को पारकर ऊपर उठ चुकी थी। अतः डॉ० राव उससे छात्रा के अतिरिक्त मित्र-भाव से भी व्यवहार करते थे। काम करने का 'मूड' न होने पर बैठकर बातें करते। लेकिन बात का विषय प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपने शोध-कार्य से ही संबंधित होता था। एक बार रत्ने ने सलाह दी, "प्राध्यापक बनकर आपको इंग्लैंड जाना चाहिए।" डॉ० राव ने कहा, "पहले यह काम पूरा हो जाये। आयु बची तो भविष्य

नाटक की कथावस्तु उसके मस्तिष्क में कैसे आई—यह समझाया। वह वस्त्रहीन स्वप्न-सुंदरी कौन थी—इस बारे में कुछ नहीं बताया। अंत में कात्यायनी ने पार्ट करना स्वीकार कर लिया। केवल चार पात्रों का नाटक था। उसमें भी कुछ संवाद महीन सफेद परदे के पीछे और कुछ रंगमंच पर बोले जाने वाले थे। वह एक नयी शैली, नया रूप और नया नया संदेश लिए हुए था।

कात्यायनी अभिनय के लिए रोज नागलक्ष्मी के घर आती। यहीं राज उसे अभिनय सिखाता। नागलक्ष्मी अंग्रेजी नहीं जानती थी, फिर भी वह तल्लीनता से राज का प्रशिक्षण और कात्यायनी का अभ्यास देखती। शेष तीन पुरुष पात्र थे, जिन्हें वह कालेज में प्रशिक्षित करता था। नाटक का नाम था 'द प्रिमोडियल' (मूलतत्त्व)। 'प्रकृति' नायिका थी और 'पुरुष' नायक। पुरुष रंगमंच पर घूमता है, उसे अधिक अभिनय नहीं करना है। केवल एक ही संवाद है। अन्य दो पात्रों में एक है जगत पर शक्ति के बल पर शासन करने वाला इंद्र और दूसरा है, उस पर धार्मिकता का अंकुश लगाने वाले देवगुरु बृहस्पति।

अगस्त की पहली तारीख। शाम के छह बजे नाटक शुरू हुआ। वर्ष का प्रथम नाटक था। अतः कुलपति ने कार्यक्रम की अध्यक्षता की। नये विद्यार्थी देखने को आतुर थे कि यह नाटक कैसा है और पुराने विद्यार्थी राजाराव द्वारा रचित नाटक देखने के लिए उत्सुक थे। कालेज का खुला नाट्यगृह खचाखच भरा हुआ था।

हरे-भरे वन में टहलती प्रकृति पुष्प संचय कर रही है। बिल्कुल मौन, शांत! प्रस्तुत दृश्य का अर्थ नेपथ्य से सुनाई दे रहा है। संचित पुष्पों से प्रकृति एक बड़ी माला बनाती है। माला की शोभा को देखकर वह नाचने लग जाती है। इतने में रंगमंच पर पुरुष का प्रवेश होता है। पुरुष के सान्निध्य से आकर्षित हो प्रेमालाप करती हुई वह उसके पास पहुँचती है। हाथ की माला उसके गले में डालना चाहती है! लेकिन पुरुष ने उसका हाथ थामने के लिए हाथ बढ़ाया। इसी बीच बादलों की गड़गड़ाहट और चारों ओर अंधकार-ही-अंधकार!

अगला दृश्य है इंद्र का न्याय-स्थान। जंजीरों में जकड़ी 'प्रकृति' एक पार्श्व में खड़ी है। इंद्र सिंहासन पर विराजमान हैं। एक दूसरे आसन

तक डॉ० राव को विचार में डूबे देखने के बाद रत्ने ने कहा, "आत्मा अवश्य अविनाशी है। यह प्रत्यक्ष देखा नहीं जाता कि देह-त्याग के पश्चात् आत्मा भी नष्ट होती है। लेकिन इस दुनिया में जन्म लेकर मरने के बाद कुछ पीढ़ियों तक व्यक्ति की मूल्य साधना के चिह्न के रूप में कुछ बच जाये तो मान सकते हैं कि वह उसी व्यक्तित्व का अविनाशत्व है।"

"इतने सीमित अर्थ से काम चलेगा ?"

"मेरे लिए तो इतना बस है ! सोचती हूँ तो मुझे ऐसा ही लगता है। उत्कट भावात्मक क्षणों में मुझे भी लगता है कि पुनर्जन्म को मान लेना चाहिए। यह आशा स्वाभाविक है कि जो इस जीवन में अप्राप्य है, वह भावी जन्म में प्राप्त हुआ, लेकिन यह एक सान्त्वना, मन की तसल्ली-भर है।"

डॉ० राव गम्भीरता से उसकी बातें सुनते रहे। रत्ने ने पूछा, "मेरी बात समझ में आई ?"

न जाने रत्ने ने क्या कहा और डॉ० राव क्या समझे। फिर भी 'हूँ' कह दिया। वह भी चुप हो गयी। कुछ क्षणों के बाद रत्ने ने फिर कहा, "उदाहरण के लिए, आपके जाने के पश्चात् भी आपके ग्रंथ रह जायेंगे। इस दृष्टि से आप अविनाशी हैं।"

शिष्या द्वारा श्रद्धा से कही गयी यह बात सुनकर डॉ० राव का शरीर पुलकित हो उठा। फिर भी उन्होंने कहा, "तुम अभिमान के कारण ऐसा कह रही हो। तुम्हारे विचारों को मानने का मनोभाव मुझ में नहीं है, सो बात नहीं। रत्ने, तुममें बुद्धिमत्ता है, तुम विद्वत्ता की ओर बढ़ रही हो, इसी दिशा में चलती रही तो तुम मुझसे भी आगे बढ़ जाओगी।"

क्षण-भर दोनों चुप रहे। फिर निःश्वास छोड़ते हुए रत्ने ने कहा, "हमारे वैयक्तिक प्रयत्न करने से क्या होता है ? अनुरूप सहायता और प्रोत्साहन चाहिए। मार्गदर्शन करने वाला भी चाहिए। अन्यथा हमारी चेतना का परिपूर्ण विकास नहीं होता। सच है न ?"

"सच है।"

उस दिन दोनों अपने व्यक्तिगत जीवन की सीमा पारकर, साधना-जगत् की बातें कर रहे थे। उनकी आत्माएँ निकट प्रतीत हो रही थीं।

सूर्यास्त तक वे वहीं बैठे बातें करते रहे। वहाँ से देवालय तक पहुँचने के पहले ही विद्युत-दीप जल चुके थे। नंदी को पीछे छोड़, आगे बढ़े और सीढ़ियों तक आये तो उन्हें कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। रत्ने ने उनका दाहिना हाथ थाम लिया। डॉ० राव ने हँसते हुए कहा, "अभी-अभी तुमने कहा था न, कि मार्गदर्शन कराने वाले की जरूरत होती है। तुम न होतीं तो मैं लौट भी न पाता!"

"हाँ-हाँ! इस टीले से उतरने का रास्ता तो मैं नहीं जानती। आपके बिना मैं कुछ नहीं कर सकूँगी।" वह हँस पड़ी।

दोनों नीचे उतरे। रात के आठ बज गये थे। चामुंडीपुर में ताँगा मिला और उसपर सवार हुए। डॉ० राव बैसराय रास्ते में उतर गये और रत्ने उसी ताँगे में आगे बढ़ गई।

डॉ० राव के प्रथम खण्ड का लेखन-कार्य समाप्त हो गया। उन्होंने दो-तीन बार उसे जाँच भी लिया। जिसे लिखने में पाँच वर्षों का अनुमान लगाया था, वह केवल तीन वर्षों में ही पूर्ण हो गया। रत्ने के आने से पहले उन्हें अकेले ही काम करना पड़ता था। अब कार्य की गति में तीव्रता आ गयी है। रत्ने की अपनी 'थीसिस' भी पूर्ण हो गयी। उसे उसने विश्वविद्यालय में प्रस्तुत कर दिया। लेकिन अपने गुरु के प्रथम खण्ड की सामग्री उत्तम रूप में टाइप कर देने के बाद ही स्वदेश लौटने की इच्छा से वह दिन-रात परिश्रम करने लगी। छह सप्ताह में कार्य पूर्ण कर दिया। उसने एक प्रति खुद सुन्दर ढंग से "पैक" की और उसे डॉ० राव के पत्र के साथ इंग्लैंड के प्रकाशक को भेज दिया।

रत्ने की स्वदेश-वापसी की पहली रात डॉ० राव सो न सके। उसने दो वर्ष उनके कार्य में सहयोग दिया। उनके लेखों को पढ़ा। त्रुटियों आदि की ओर ध्यान खींचा। वैतनिक सचिव से भी अधिक व्यवस्था से, अत्यन्त निकट सम्बन्धी की आत्मीयता से, बौद्धिक सहयोग देने वाले विद्वान् मित्र की तरह उसने ग्रन्थ का कार्य किया। डॉ० राव सोचने लगे, क्या शेष खण्डों को मैं अकेला पूर्ण कर सकूँगा? जिसके हर तरह के सहयोग से इस महाग्रंथ का निर्माण हुआ, अब वह जा रही है डॉ०

राय को अकेला छोड़कर। वह नहीं आती तो क्या मैं अकेला काम न करता? उन्होंने शांत रहने का प्रयत्न किया, किन्तु व्यर्थ!

वे रात-भर नहीं लेटे, नींद भी नहीं आई। सुबह चार बजे उठे। रत्ने के होस्टल की ओर निकल पड़े। होस्टल में कोई अब तक उठा नहीं था, लेकिन रत्ने के कमरे में बत्ती जल रही थी। पहरेदार कम्पाउण्ड के फाटक पर सोया हुआ था। उसे उठाकर सूचना दी, "करुणा रत्ने से कहो कि डॉ० राव बुला रहे हैं।"

पहरेदार की नींद पूरी खुली न थी। उसने उसी खुमारी में कहा, "इस वक्त लड़कियाँ बाहर नहीं आ सकतीं—यह रूल है।"

उन्होंने झकझोरकर उसकी खुमारी भगा दी और उसे बुलाने के लिए भेजा। रत्ने उसके पीछे-पीछे आ गयी।

"चलो, टहल आयें।"

"कमरे में ताला लगा आऊँ।"

वह ताला लगाकर लौटी। कुक्कुरग्राम के तालाब की ओर दोनों चल पड़े। सुबह के साढ़े चार बजे थे। रत्ने ने बात प्रारम्भ की—"क्या बात है, इतनी सुबह यहाँ उठकर आना पड़ा?"

"न जाने क्यों, रात-भर नींद नहीं आई। तुम आज जा रही हो न?"

वह बोली नहीं। अपना हाथ बढ़ाकर उसने डॉ० राव का हाथ पकड़ लिया। एक बार वृन्दावन में डॉ० राव ने जो बात कही थी, वह याद हो आई। दोनों मौन तालाब के पास पहुँचे। पास ही एक लता-मण्डप देखकर रत्ने ने कहा, "और कितनी दूर जायेंगे? यहीं बैठ जायें।"

दोनों बैठ गये। घड़ी देखी, पाँच बज गये थे। सारा मैसूर शांत था। सामने तालाब के पानी में हल्की-सी भी कोई लहर नहीं थी—शांति-ही-शांति। दोनों समझ ही नहीं पाये, क्या बोलें। डॉ० राव ने पूछा, "इतनी जल्दी उठ गयी थीं?"

"मुझे भी रात-भर नींद नहीं आई"—कहते हुए उसने डॉ० राव का हाथ जोर से भींच लिया। उभरता दुःख उसने अब तक दबा रखा था। रात-भर जिस बेचैनी का अनुभव किया था, उसका स्मरण आते ही वह रोने लगी। सान्त्वना देते हुए डॉ० राव ने उसे अपनी बाहों में कस

लिया। रत्ने ने उनकी गोद में सिर रख दिया।

गत तीन सालों से उनकी परस्पर आत्मीयता गहरी होती जा रही थी। अब दोनों एक-दूसरे की आकांक्षाओं को समझ गये थे। एक ही ध्येय को लेकर दोनों का जीवन चल रहा था। कई बार दोनों ने गम्भीर विषयों से हटकर आत्मीयता की बातें की थीं।

रत्ने की मानसिक व्याकुलता को समझकर डॉ० राव ने कहा, "स्वदेश जाकर क्या करोगी ?"

"आप तो जानते ही हैं।" कुछ समय चुप रहने के बाद रत्ने ने कहा, "दूसरे खण्ड को आप जल्दी प्रारंभ करें।"

"तुम्हारे बिना नहीं हो सकता।"

"कृपया ऐसा न कहें। मैं न आती तो भी आप उसे लिखते ही। एक क्लर्क की हैसियत से मैंने आपकी सेवा की है। टाइपिंग के लिए आप किसी को नियुक्त कर लीजिए।"

कुछ रुककर कहा, "मेरे बिना भी आपका महाग्रंथ पूरा होगा। मेरा मन कहता है कि आपसे सम्पर्क न रहने पर मेरी अल्प शक्ति का सदुपयोग नहीं हो सकेगा। किन्तु कोई चारा नहीं।"

अब पंछी जाग गये थे। मंद-मंद उजियाला होता जा रहा था। "उठिए, अब चलें।" कहकर रत्ने ने हाथ पकड़कर उठाया। दोनों धीरे-धीरे चलकर होस्टल पहुँचे। छह बज चुके थे। होस्टल के फाटक के पास पहुँचकर डॉ० राव ने कहा, "साढ़े सात बजे गाड़ी जाती है। तुम्हें सामान बाँधना हो तो जाओ। मैं यहीं इन्तजार करता हूँ, स्टेशन चलूँगा।"

"सामान बाँध लिया है। कहीं दिखाई पड़े तो एक ताँगा बुला लीजिए। अभी चलना उचित होगा। देर हुई तो विदा देने के लिए एक-दो सहेलियाँ आ सकती हैं।"

साढ़े छह बजे तक स्टेशन पहुँचे। ट्रेन प्लेटफार्म पर आ चुकी थी। द्वितीय श्रेणी में सामान रखवाकर दोनों गाड़ी में बैठ गये। यहाँ और कोई न था। एक दिन पहले ही रत्ने ने धनुष्कोटि का टिकट कटा लिया था। कुछ समय तक दोनों मौन रहे। बाद में रत्ने ने कहा, "प्रथम खण्ड की छपाई का काम एक सप्ताह में प्रारम्भ हो जायेगा। आज ही प्रकाशक को लिख दीजिए कि प्रूफ जाँचने के लिए, अनुक्रम-

ग्रंथ को बनाने के लिए, फार्मों को सीधा मेरे सिंहल के पते पर भेजें।"
फिर द्वितीय खण्ड के सम्बन्ध में कुछ बातें हुईं। इतने में उस डिब्बे में और भी यात्री आकर बैठ गये। वे इधर-उधर की बातें कर रहे थे कि गाड़ी छूटने का समय हो गया। घंटी बजी। डॉ० राव उतर गये। रत्ने भी उतर आई और डॉ० राव के चरण छूकर नमस्कार किया। गार्ड ने सीटी दी। गाड़ी चलने लगी। खिड़की से रत्ने का हाथ पकड़कर डॉ० राव भी गाड़ी के साथ-साथ चलने लगे। गाड़ी की रफ्तार बढ़ी और दोनों के हाथ छूट गये। रत्ने की आँखों से आँसू बह चले।

डॉ० राव द्वितीय खण्ड के लिए अध्ययन करने लगे। वे यथावत् सुबह नौ बजे पुस्तकालय जाते। रात के आठ बजे तक पढ़ते-लिखते। लेकिन अकेले होने के कारण पहले का-सा उत्साह नहीं रहा। सदर्भ-ग्रंथों को ढूँढ़ना, विषयों के क्रम के लिए निशान लगाना आदि कार्य स्वयं को करने पड़ रहे थे। उनका अधिकांश समय इसी में व्यतीत होने लगा। अपने विद्यार्थी, होन्नय्या को जो एम० ए० करने के बाद अब उनके ही कालेज में लेक्चरार है, मदद लेनी चाही। लेकिन उसकी न अध्ययन में रुचि थी और न शोधकार्य में। शादी के बाद वह अब पत्नी के साथ सुखमय जीवन बिताना चाहता था। रत्ने की तरह विद्वत्ता, अंग्रेजी पर अधिकार, संस्कृत-प्राकृत का ज्ञान, शीघ्रलिपि-टाइप और परिश्रम के प्रति उत्साह दिखाने वाला उन्हें कोई न मिला।

फिर भी डॉ० राव अपना कार्य करते रहे। रत्ने के पत्र आ रहे थे कि लंदन से प्रूफ बराबर आते रहते हैं। एक दिन प्रकाशक का पत्र आया जिसमें लिखा था कि छपाई का कार्य पूर्ण हो चुका है, तुरन्त भूमिका लिखकर भेजिए। डॉ० राव ने भूमिका में महाराज से प्राप्त प्रोत्साहन एवं रत्ने से मिली अनुपम सेवा का उल्लेख कर प्रकाशक के पास भेज दिया।

एक महीने में खण्ड प्रकाशित हो गया। वह डॉ० राव के रक्त, मांस, इच्छा-शक्ति, बौद्धिक ज्ञान एवं जीवन की एकमात्र महत्वाकांक्षा के फलस्वरूप निर्मित महाग्रंथ का प्रथम खण्ड था। काली

'स्टिफ वाइंडिंग' पर स्वर्णाक्षरों में छपा हुआ था—'भारत का सांस्कृतिक इतिहास : प्रथम खण्ड : डॉ० सदाशिवराव ।' जिस दिन ग्रंथ डॉ० राव के हाथ आया, वे आनन्द-विभोर हो उठे। मन-ही-मन प्रतिज्ञा की कि अन्य खण्डों को लिखकर ही दम लूंगा। रत्ने के पास भी एक प्रति भेज दी। महाराज के निजी सचिव को एक पत्र लिखकर इच्छा व्यक्त की कि वे स्वयं आकर कृष्ण राजेन्द्र महाराज को ग्रंथ समर्पित करना चाहते हैं। निजी सचिव का उत्तर मिला कि महाराज की अस्वस्थता के कारण अभी भेंट होना असम्भव है। स्वस्थ होते ही भेंट की व्यवस्था कर दी जायेगी। चार दिन के बाद समाचार-पत्रों में महाराज के स्वर्गवास का समाचार था।

डॉ० राव के अवचेतन में यह भावना सदा रही कि महाराज उनके कार्य में अनुग्रह का हाथ बढ़ाने वाली एक शक्ति हैं। अब वह शक्ति भी नहीं रही। उन्हें चिन्ता हुई कि अगर फिर बाधाएँ आईं तो कौन रक्षा करेगा? महाराज के निधन पर कालेज में जो शोक-सभा हुई थी, उसमें बोलने के लिए वे भी आगे आये थे। उसी दिन कालेज के विद्यार्थियों और नये प्राध्यापकों ने उन्हें पहली बार प्रत्यक्ष देखा था। स्वर्गीय महाराज को श्रद्धांजलि देकर बैठने से पहले डॉ० राव ने दो बार आँखें पोंछी थीं।

प्रथम खण्ड प्रकाशित होने से कालेज से सम्बन्धित लोगों में डॉ० राव की कीर्ति और बढ़ गयी। कई प्राध्यापक विश्राम के समय किसी भी विषय पर उनसे चर्चा करना अपना गौरव समझने लगे। अनायास ही भेंट हो जाने पर 'द्वितीय खण्ड का कार्य कहाँ तक हुआ' पूछना, सामान्य शिष्टाचार की बात हो गयी थी। इसी बीच इतिहास-विभाग के प्रोफेसर सेवा-निवृत्त हो गये। अब इस विभाग को उन्हें ही सँभालना पड़ा। फिर भी वे पुस्तकालय के बाहर बहुत कम आते थे।

जैसे-जैसे दिन बीतते गये, वैसे-वैसे डॉ० राव रत्ने की अधिकाधिक आवश्यकता महसूस करने लगे। किसी भी विद्वान् के लिए श्रेष्ठ शोध-कार्य में चिन्तन और विषय निरूपण के साथ अन्य कामों की जिम्मेदारी सँभालना कठिन है। छह महीने बीत जाने पर भी द्वितीय खण्ड के लिए उपयुक्त सामग्री का अल्पांश भी तैयार नहीं हुआ। केवल ग्रंथ खोजने,

नोट्स उतारने में ही सारा समय चला जाता। इसके अतिरिक्त अध्ययन के समय मन में उठती शंकाओं पर विचार-विमर्श के लिए योग्य व्यक्ति के अभाव में उनकी स्थिति मरुभूमि के एकाकी प्रवासी-सी हो गयी थी।

जिसका फिर यहाँ आना संभव नहीं, उसे याद करने से क्या लाभ? उसे भुलाने का प्रयत्न कर वे यथाशक्ति अपने-आप काम करने की कोशिश करते। लेकिन उन्हें रत्ने की जरूरत केवल एक क्लर्क अथवा विद्वान् मित्र के रूप में ही नहीं थी। डॉ० राव अपने जिस महाग्रंथ के निमित्त समस्त शक्ति अर्पित कर रहे थे, उन्हें विश्वास था, उसी प्रकार रत्ने में भी उसके लिए अपना जीवन निछावर करने की शक्ति है। उसकी मदद के बिना अपनी शक्ति के भरोसे कार्य करना उन्हें नीरस प्रतीत हो रहा था।

इतने में रत्ने की परीक्षा का नतीजा निकला। परीक्षकों ने उसे 'डॉक्टरेट' उपाधि देने के साथ-साथ 'थीसिस' प्रकाशित करने की भी सिफारिश की। इसकी सूचना एवं अपनी ओर से अभिनन्दन भेजते हुए डॉ० राव ने लिखा—

"तुमने अपने पिछले पत्र में मेरे कार्य के बारे में पूछा था। वह तो चल ही रहा है। अब मैं अड़तीस का हो गया हूँ, रात में बहुत ही कम दिखाई देता है। सोलह साल की उम्र से निरन्तर पढ़ता आ रहा हूँ। कम-से-कम ग्रंथ पूर्ण होने तक भगवान् मेरी ज्योति बनाये रखे। तुम्हारे न रहने से मेरा समय और शक्ति अन्य तैयारियों में ही व्यय हो जाती है। प्रथम खण्ड को पाँच वर्ष में पूर्ण करने की योजना थी, लेकिन तुम्हारे सहयोग से तीन वर्ष में ही वह पूरा हो गया। अनेक अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं में उसकी प्रशंसा हुई है। शेष खण्डों को मैं अकेला पूरा कर सकूँगा, इस बात में मेरा विश्वास घटने लगा है। जब तक जिन्दा रहूँगा तब तक प्रयत्न तो करूँगा ही। आगे भगवान् की इच्छा!

"आजकल तुम क्या कर रही हो?"

एक सप्ताह बाद रत्ने का उत्तर आया—

"डॉक्टरेट के लिए परिश्रम मैंने किया, लेकिन सारा श्रेय आपको ही मिलना चाहिए। आपकी प्रखर विद्वत्ता का ही यह फल है। अगर

मुझे वहाँ आना पड़ा, तो उपाधि-पत्र सर्वप्रथम आपके चरणों में र ख दूंगी।

"प्रथम खण्ड की समालोचना मैंने देखी है। गर्वित हुई। भूमिका में मेरी सेवा की प्रशंसा अति है। केवल आत्म-तृप्ति के लिए मैंने यथा-शक्ति सहयोग दिया है। लेकिन हर वाक्य में उसका जो उल्लेख किया वह आपकी परिपक्वता का द्योतक है। इसे जितनी अधिक आत्मीयता से मैं समझ सकती हूँ, और कोई नहीं समझ सकेगा।

"आपने मेरे कार्यों के बारे में जो पूछा है, अभी तो कुछ नहीं कर रही हूँ। दो माह पूर्व मेरी माताजी गुजर गयीं। इसी दुःख में डूबी हूँ। अकेली हूँ। मेरे मानसिक जीवन में प्रवेश करने वाला कोई साथी न होने से इस द्वीप में सुप्तावस्थापूर्ण जीवन का अनुभव कर रही हूँ। कभी-कभी सोचती हूँ, अगर आप सिंहल के होते और हमारे ही गाँव में रहते, अथवा मैं मैसूर की होती और वहीं रहती तो अपने इन ग्रंथों के लिए परिश्रम कर पाती। खण्डों को 'आपके' न कहकर 'अपने' कह रही हूँ। जो आत्मा एक बार प्रकाश देखती है, उसे अंधकार में रहना बड़ा ही कष्टप्रद लगता है।

"पत्र अवश्य लिखा कीजिए।"

गुरु से विदा लेकर अपने देश लौटते समय रस्ते में अपने माता-पिता और भाई से मिलने का उत्साह था। लेकिन उसे इसका बड़ा दुःख भी था कि अब कभी गुरु के दर्शन न कर सकेगी। स्वदेश लौटने के अलावा कोई उपाय न था। घर पहुँचने के बाद दो-तीन दिन घरवालों से नया-पुराना होने में बीत गये। फिर थोड़ा समय, भाई की दो सन्तानों के साथ खेलने में व्यतीत हो जाता। किन्तु अब देश में उसका मन नहीं लगता था। शोध-प्रबंध पूर्ण हो जाने के बाद माता-पिता ने अब शादी के लिए आग्रह किया है। उसने स्पष्टतः इन्कार कर दिया कि आगे इस विषय में चर्चा न करें। वह किसी विश्वविद्यालय में प्राध्यापिका बनकर जीवन बिताना चाहती है। माता को इस उत्तर से बड़ी निराशा हुई।

घर पहुँचने के पन्द्रह दिन बाद ही प्रथम खण्ड के प्रूफ आने लगे। लगभग दो महीने इस कार्य में लगी रही। लेकिन अब वह चाहती थी कि उसके कार्य को डॉ० राव अपनी आँखों से स्वयं देखकर ठीक कह देते। इसके बाद पन्द्रह दिन में उसकी माता का स्वर्गवास हो गया। शोक में शोध-कार्य के प्रति रुचि घट गयी। लगभग महीना-भर माता की याद में आँसू बहाती रही। अब वह समझने लगी कि शोध-कार्य में लगे बिना दुःख भुलाना कठिन है। अतः वहीं कालेज से, इतिहास-संबंधी ग्रंथ लाकर पढ़ने लगी। मन मैसूर की ओर खिंच जाता। कभी वह सोचती, 'डॉ० राव के कार्य में सहायिका बनकर मैसूर ही क्यों न चली जाऊँ! क्या वहाँ जीवन-यापन के लिए अध्यापिका की नौकरी नहीं मिलेगी? अपनी इस निष्क्रियता को दूर कर, अपनी अन्तरात्मा द्वारा प्रेरित कार्य में प्रवृत्त हुए बिना, चैन से जी नहीं सकूँगी।' वह इसी उधेड़-बुन में थी कि उसे डॉ० राव का पत्र मिला—

"कई दिनों की मानसिक विकलता का अनुभव करने के पश्चात् यह पत्र लिख रहा हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है, तुम इसे सामान्य दृष्टि से नहीं देखोगी। हम दोनों का सम्बन्ध केवल गुरु-शिष्या का ही सम्बन्ध नहीं रहा है। हम एक महत् ग्रंथ के निर्माण में लगे हुए दो जीव हैं। हमारी आराध्य देवी एक ही है। उसकी सेवा में जीवन निछावर करने वाले हम दो भक्त हैं। उसकी पूजा करना हम दोनों के लिए आवश्यक है। एक का कार्य मन्त्र-पठन है और दूसरे का तन्त्र। एक पूजा के लिए उचन होता है और दूसरा फूल, चंदन, अक्षत तैयार करता है। ऐसी सेवा से ही उपासना निरन्तर चल सकती है।

"न वहाँ तुम्हें अपनी आत्मा की पुकार दबाकर छटपटाने की जरूरत है, और न यहाँ मुझे असहाय होकर कराहने की। पत्र पाते ही तुरन्त चली आओ। शोध-कार्य के लिए तुम यहाँ रह सकती हो। तुम्हें अपने खर्च के लिए अपने पिता से पैसे माँगने की जरूरत नहीं। प्रकाशक ने रायल्टी की आधी रकम भेज दी है। वह तुम्हारे लिए चार वर्ष को काफी होगी। अगर तुम यह नहीं चाहती, तो हम दोनों शादी कर लेंगे। इस दाम्पत्य में अपनी आकांक्षा के रूप में हम इस ग्रंथ को मेरी मृत्यु से पहले ही तैयार कर लेंगे। पत्रोत्तर न दो। तुरन्त चली आओ।"

पत्र की अन्तिम पंक्तियाँ पढ़कर रत्ने का शरीर पसीने से तर हो गया। मैसूर में कई दिनों तक दोनों में आत्मीयता से बातचीत हुई थी। अत्यन्त प्रेमपूर्वक जीने वाले दम्पति के स्नेह की अपेक्षा इनकी परस्पर वार्ता में अधिक आर्द्रता होती थी। जिस दिन रत्ने मैसूर से रवाना हो रही थी, उस सुबह डॉ० राव ने तालाब के पास उसका आलिंगन किया था। उसका सिर उनकी गोद में था। ऐसे संदर्भों में भी उसके मन में उचित-अनुचित का कोई प्रश्न नहीं उठा था। बाह्य जगत् का अनुभव न था। उन क्षणों में उसके साथ कोई था तो विद्या-सागर में तैरता एक विद्वान् जो उसकी सेवा की चाह रखता था। अब भी वह अकेला है। उसे रत्ने की सेवा की आवश्यकता पहले की अपेक्षा आज अधिक है। लेकिन जब विवाह-बंधन की बात आई, तो उसके मन में अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुई। वे गृहस्थ हैं। घर में पत्नी है, एक संतान भी है। वह जानती थी कि उनके मन में अपनी पत्नी के प्रति कैसी भावना है। उसने सोचा कि नागलक्ष्मी के विवाहित जीवन में मेरा प्रवेश, विष का बीज बोना है जो नितान्त अनुचित है। इस संबंध को रत्ने ने कभी नीति-अनीति की दृष्टि से नहीं देखा था, आज भी नहीं। भविष्य में भी देखने वाली नहीं। उसकी दृष्टि में यह केवल सामाजिक प्रश्न है—पति के विमुख होने पर भी उसे श्रद्धा-भक्ति से देखने वाली एक नारी का प्रश्न है। उसने जब गहराई से सोचा कि क्या उस साध्वी से पति को छुड़ाकर, उनके साथ शादी करना उचित है? उसे याद आया कि उनमें जिस निकटता को उनके जीवन का द्विमुख बनकर रहना चाहिए था, उसे सूखे कई साल बीत गये हैं।

वह यह भी सोचने लगी कि क्या दोनों पत्नियाँ एक ही घर में रह सकेंगी? रत्ने आधुनिक युवती है। कैम्ब्रिज की छात्रा रह चुकी है। उसका आधुनिक मन प्रारम्भ से ही द्विपत्नी के विरुद्ध रहा है। जिस तरह एक पत्नी का एक ही समय दो पतियों के साथ निभाना कल्पनातीत है, उसी तरह एक पति का दो पत्नियों के साथ निभाना असाध्य है। या तो मैं उनकी पत्नी रहूँगी या उनकी आज की पत्नी। यह सत्य है कि वे मानसिक रूप में आज अपनी पत्नी के पति नहीं हैं। जब उन दोनों के बीच का सम्बन्ध-सूत्र इतना क्षीण हो चुका है तब अगर मैं उनसे शादी

कर भी लूँ तो नागलक्ष्मी को क्या हानि होगी ?

इस जटिल समस्या को वह सुलझा न सकी। जैसे-जैसे सोचती, उलझती जाती। स्वदेश से विदेश जाकर एक विधर्मी विदेशी से विवाह, जिसकी पत्नी अभी जीवित है, ऐसे विवाह के लिए उसके पिता या भाई तैयार नहीं होंगे। माता की मृत्यु से पहले ही मुरझाये हुए उनके संतप्त मन को यह खबर सुनाकर और ठेस पहुँचाना नहीं चाहती। पिता से इतना अवश्य कहा, "आप जानते ही हैं मेरी इच्छा क्या है। कम-से-कम माँ की मृत्यु का दुःख कम करने के लिए मुझे अध्ययन में लग जाना होगा। मेरे प्राध्यापक ने लिखा है, 'तुम चली आओ, तुम्हें छात्रवृत्ति मिलने की संभावना है।' मैं जाना चाहती हूँ।"

पिता ने तुरन्त स्वीकृति नहीं दी। भाई को भी यह पसन्द नहीं था, लेकिन वह बहन की अभिरुचि और इच्छा-शक्ति से परिचित था। भाई ने उसके आग्रह को मान लिया तो पिता से भी स्वीकृति मिल गई। अपने कपड़े-लत्ते बाँधकर पिता के चरण छुए और घर से निकली तो उसकी आँखों से आँसू छलक पड़े। "बेटी, तेरे मन को शांति मिले"—पिता ने आशीष दी। पहुँचाने के लिए भाई स्टेशन तक आया। भारी हृदय से उसने कहा, "तेरी शादी का समय अभी बीता नहीं है। जब शादी की इच्छा हो, मुझे निस्संकोच लिखना न भूलना। मैं योग्य वर की खोज करूँगा।"

भाई के चरण छूकर गाड़ी में चढ़ी तो मन कह रहा था, "शायद फिर देश न लौट सकूँ ?"

१०

नाटक में अभिनय के पश्चात् कात्यायनी का नाम कालेज में प्रसिद्ध हो गया। लेडीज़ रूम में बैठनेवाली लड़कियों ने उससे परिचय कर लिया। लेकिन कात्यायनी गंभीर रहती। अतः उससे कोई भी ज्यादा नहीं बोलती। गत वर्ष उसके साथ जानेवाली वासंती को छोड़, और कोई सखी नहीं थी। हाँ, परिचित तो कई थीं।

अगस्त में 'मूलतत्त्व' नाटक प्रस्तुत किया गया था। कालेज के प्रारंभिक दिनों में किसी ने पढ़ाई की ओर ध्यान नहीं दिया था। नाटक के कथनोपकथन कण्ठस्थ कर लेने में कात्यायनी को एक माह लगा था। नाटक के बाद पूर्ववत् अपने अध्ययन में लग गई। उस नाटक का हर वाक्य अभी तक उसकी स्मृति में घूमता रहता था। पढ़ने बैठती तो पन्ने पलटती जाती, लेकिन पाठ समझ में न आता। नाटक का हर दृश्य, हवा में चुटकी-चुटकी छोड़ी गई रुई की तरह कल्पना में उभरता रहता।

पढ़ाई में मन न लगने पर कात्यायनी नीचे उतर आती। पूजागृह में पूजा के समय ससुर द्वारा पठित मंत्र, घंटा-घोष-सा कानों में गूंजने लगता। मंत्र-ध्वनि से वह नाटक की बातें भूल जाती। रसोईघर में चीनी से बातें करती हुई भागीरतम्मा खाना पकातीं। अकस्मात् कहीं वे बाहर आतीं और बहू को देखतीं तो कहती—"काम मैं कर लूंगी, तू पढ़ ले, परीक्षा देनी है।" ऊपर जाकर वह फिर पढ़ने का प्रयास करती, लेकिन निष्फल। वह नीचे उतरकर घर के बगीचे में चली जाती।

एक दिन सुबह कात्यायनी बगीचे में गई। कुछ दिन पहले लगाये गये केले के वृक्ष खड़े-खड़े मुस्करा रहे थे। अन्य पौधे भी हरियाली लिये लहलहा रहे थे। घर के पिछवाड़े का स्थान भी हरियाली से आच्छादित

था। कात्यायनी को सबसे अधिक आकर्षित कर रही थीं लताएँ। उसके आधारस्वरूप रोपा गया पौधा अब अपनी ... चुका था। मोगरे की बेल अपनी सुकुमार बाहें प्रेमपूर्वक फैलाकर तरुण बाँहों से लिपट गई थी। प्रातः-सूर्य अपनी शुभ्र किरणों को दिशाओं में बिखेर रहा था। उस प्रकाश में मोगरे की लताएँ चुपचाप अपने आश्रय को दृढ़तापूर्वक पकड़े खड़ी थीं। उनकी इस चुप्पी में ही चेतना, हर्ष और सौंदर्य प्रस्फुटित हो रहे थे। मोगरे की नसों में क्या है? पास जाकर कात्यायनी ने लता को आहिस्ता से स्पर्श किया। बाह्य जगत् के कृत्रिम कलंक से न डरते हुए, वह अपने मूलधर्म के अनुसार लहलहा रही थी। उसके हर पत्ते के बीच में अपना मुख दिखाकर कलियाँ खेल रही थीं, झूम रही थीं। लता प्रति दिन ढेर-सारे फूल देती थी।

कात्यायनी के कानों में नाटक की बातें स्पष्ट सुनाई पड़तीं—'जो प्रकृति चिरनूतन है, चिर-चेतन है, उसे कृत्रिम धर्म के बन्धनों में बाँधना अधर्म है न देवगुरु? मेरा मूल गुण ही चेतन है। मन को हर्षित कर देने वाली धनश्री, आँखों को तृप्त कर देने वाले सुन्दर दृश्य, चराचर जीवियों को अन्न देने वाली मेरी व्याप्ति, इन पर किसी भी वैधव्यपूर्ण धर्म का स्पर्श नहीं हो सकता।''

कात्यायनी अब तक इन बातों का केवल अर्थ समझ रही थी। आज हँसती हुई मोगरे की लता के सम्मुख खड़े होकर उसके भाव का भी अनुभव किया। उस भाव के अनुभव से उसका पूरा शरीर काँप गया। 'नाटक में कैसी चिरन्तन सत्य बातें भर दी हैं उन्होंने' कहकर मन-ही-मन राज की कल्पना की सराहना की। तुरन्त उसका चित्र आँखों के सामने नाच उठा। नाटक के पश्चात् राज ने उसका हाथ पकड़ा था; उस बात का स्मरण करके उसे सूक्ष्म रोमांच हुआ। यह भी स्मरण हो आया कि बाद में भाषण देते हुए कुलपति ने उसके नाम के पहले 'मिस' शब्द लगाकर उसके अविवाहित होने का संकेत दिया था। एक असह्य, अवर्णनीय चेतना उसके व्यक्तित्व को घेरकर उसके शरीर को कँपाने लगी। उसके प्रहार को सहने में अपने को असमर्थ पाकर वह जमीन पर चुपचाप बैठ गई। न जाने कितना समय यों ही बीत गया।

धुँधली विस्मृति में बैठी कात्यायनी को देखकर सास ने कहा—

अरे, यहाँ क्यों बैठी है ? समय हो गया। चल, भोजन कर ले।"

भीतर भोजन करने बैठी, लेकिन मन न लगा। रोज की तरह किताबें और टिफिन कैरियर लेकर स्टेशन पहुँची और ट्रेन में बैठ गई। चलती गाड़ी से प्रकृति का चिरनूतन रूप दिखाई दे रहा था। गाड़ी के मार्ग में पड़ने वाली नदी, दोनों ओर के हरे-भरे वृक्ष, लहलहाती फसलें सभी प्रकृति की चिर-नूतनता दिखा रहे थे। थोड़ी दूर पर स्थित चामुंडी-टीला हरी साड़ी पहने खड़ी अद्भुत स्त्री के समान दीख पड़ा। उसके चारों ओर मँडराते बादलों को देखकर उसे ऐसा लगा मानों उसका प्यार पाने के लिए कोई पुरुष आ रहा है।

उस दिन पहला पीरियड था अंग्रेजी कविता का। राज इस साल अंग्रेजी कविता पढ़ा रहा था। उन दिनों कीट्स का 'द ईव ऑफ सैंट आग्नेस' पढ़ाया जा रहा था। भाव को इस तरह मग्न होकर समझाता कि छात्रों का मन राग-रंजित हो उठता। सारी कक्षा में ऐसी नीरवता छा जाती कि सुई के गिरने की आवाज भी सुनाई पड़ जाये।

कात्यायनी सोचती, 'इस वर्णन में आनेवाला दृश्य भी प्रकृति की मूल चेतना में व्यक्त एक स्वरूप ही है। उस दिन वह नोट्स नहीं ले सकी। भाव-विभोर हो कविता के भाव समझाते राज को वह अपलक देख रही थी। वही नहीं, सारी कक्षा राज को देख रही थी। वह यद्यपि अन्य प्राध्यापकों की तरह सारी कक्षा को देखता रहता, किन्तु बीच-बीच में कात्यायनी को विशिष्ट दृष्टि से देखता। इसे वह ताड़ गई थी। उस दिन तो राज ने अपेक्षाकृत अधिक बार उसे देखा। इस दृष्टि का सामना करने में अपने को असमर्थ पा कात्यायनी अपनी दृष्टि पुस्तक की ओर फेर लेती, लेकिन एक अव्यक्त मधुर शक्ति फिर निगाह ऊपर उठाकर राज को देखने के लिए विवश कर देती।

राज बचपन से ही नागलक्ष्मी के पास पला था। पहले तो उसने उसे बाल्य सहेली के रूप में और बाद में भाभी के रूप में देखा। एम० ए० कर लेने के पश्चात् नौकरी पर लग गया तो लोगों में उसे अपना दामाद बनाने के लिए होड़-सी लग गई थी। नागलक्ष्मी सोचती कि अगर राज

की शादी हो जाय तो घर का सूनापन कम हो जायेगा। लेकिन वह शादी के लिए तैयार न था। वह छात्रवृत्ति पाकर इंग्लैंड जाने की कोशिश में रहता। उसका विश्वास था कि एक-न-एक दिन वह अपने प्रयत्न में सफल होगा। इसी विचार से वह अब तक शादी टालता रहा था। नागलक्ष्मी चाहती थी कि छात्रवृत्ति मिलने पर विदेश जाने से पहले राज की शादी हो जाय, लेकिन डॉ० राव ने इसका अनुमोदन नहीं किया। विदेश में रहने से उनमें विवाह की रूढ़ियों को तोड़ने का मनोभाव जाग गया था। मैसूर लौटकर कालेज में प्राध्यापक होकर आया तो डॉ० राव से उसने कहा, "मुझे शादी ही नहीं करनी।" इन विचारों के कारण वे भाई के गले जबर्दस्ती किसी लड़की को बाँध देने के लिए तैयार न थे। अपने जीवन की ओर दृष्टिपात करने पर उन्हें राज की बात ठीक जान पड़ती। इसलिए उन्होंने स्पष्ट कह दिया—"इच्छा होने पर उसकी मनपसंद लड़की से शादी करा देना हमारा कर्तव्य है।" राज के नाटक मंच के चारों ओर मँडराने वाली कुछ आधुनिक लड़कियाँ स्वयं राज से शादी का प्रस्ताव रखने के लिए तैयार थीं। इसे वह भी भाँप गया था। लेकिन उनमें से कोई भी उसके मन को लुभा सकने में सफल नहीं हुई। जब कहीं ऐसी बातें उठने की संभावना होती, वह वहाँ से होशियारी से खिसक जाता।

राज का मन पूर्णतः कात्यायनी के प्रति आसक्त हो चुका था। उसकी आँखों में कात्यायनी का रूप छाया हुआ था। उसकी याद में रात-भर करवटें बदलता रहता। भोजन के प्रति भी रुचि नहीं रही। नाटक के प्रति जो उत्साह था, वह भी कम होने लगा था। कात्यायनी अविवाहित होती तो अपनी इच्छा अब तक व्यक्त कर देता। लेकिन उसकी स्थिति राज के साहस को कुंठित कर देती। जब उसने यह समझ लिया कि वह उसके प्रति कुछ लगाव दिखा रही है, तो उसे थोड़ी-सी सांत्वना मिली। उसने निश्चय कर लिया कि इस अनिश्चित परिस्थिति को समाप्त करके किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचूँगा।

एक दिन कालेज में कात्यायनी से उसने पूछा—"कल आप कालेज आयेंगी न?"

"कल छुट्टी है न!"

"कोई बात नहीं। आपसे मुझे एक महत्व की बात करनी है। कल आइए। मैं संघ के कमरे में मिलूंगा, अन्य कोई नहीं होगा। बेझिझक बातें कर सकेंगे।"

"पूछ सकती हूँ कि बातें किस विषय पर होंगी ?"

"इतना सरल विषय नहीं है कि खड़े-खड़े बातें कर लें।" मुस्कराते हुए लेकिन दृढ़ता से राज ने कहा।

दूसरे दिन दस बजे से पहले ही राज नाटक संघ के कमरे में जा बैठा था। मन छटपटा रहा था। मस्तिष्क में अनजान उद्विग्नता भरी थी। उसने दस-बीस बार सोचा कि बात किस तरह प्रारंभ की जाय। कोई समुचित उपाय नहीं सूझा। आखिर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि उस समय जो भी सूझ जायेगा, वही ठीक होगा। इतने में कात्यायनी कमरे में आ पहुँची। रोज की तरह उसके हाथ में पुस्तकें और टिफिन था। "भीतर आइए!" खड़े होकर राज ने कहा। वह हिचकिचाती हुई बाहर ही खड़ी रही। दुबारा बुलाया तो भीतर आई और कुर्सी पर बैठ गई। वह चुपचाप, लेकिन मानों किसी निश्चित विषय की प्रतीक्षा में बैठी थी। राज दो-चार मिनट सोचता रहा। फिर उसने पूछा—"आप जिस गाड़ी से रोज चलती हैं, वह कितने बजे यहाँ पहुँच जाती है ?"

"दस बजे।"

फिर मौन! नये विषय को खोजकर राज ने पूछा, "आप पहले से दुबली हो गई हैं।"

कात्यायनी ने सिर उठाकर उसे देखा। अपनी असम्बद्ध बात पर राज को हँसी आ गई। कात्यायनी के चेहरे पर मंद मुस्कान खेल गई। अब गंभीर होकर राज ने पूछा, "घुमा-फिराकर पहेली बुझाने की जरूरत नहीं। क्या आप जानती हैं कि मैंने आपको क्यों बुलाया है ?"

"जी नहीं।"

"ऐसा कहकर आप सत्य से दूर भाग रही हैं। कोई बात नहीं! अब आप और मैं केवल छात्रा और प्राध्यापक नहीं हैं। यद्यपि हम दोनों में से किसी ने कुछ कहा नहीं, किन्तु बात आप भी जरूर जानती हैं। सच है न ?"

वह खामोश बैठी रही। राज ने ही कहा, "आपके लिए मेरा मन तड़प रहा है। मैंने सोचा था, मैं इस जिन्दगी मे कभी शादी नही करूंगा। लेकिन अब यह निर्णय हिल गया है।"

यह सुनते ही कात्यायनी को पसीना आ गया। यद्यपि यह अनपेक्षित नही था, किन्तु उसका मन अभिमान, आश्चर्य और आनन्द से पुलकित हो उठा। साथ ही, उस परिस्थिति का स्मरण हो आया जो नये अनुभव के दिनों मे कभी स्पष्ट न थी। अपने पुत्र, सास-ससुर, पति का स्मरण एक साथ उसके स्मृति-पटल पर दौड़ गया। उसे अपनी द्वंद्व-परिस्थिति का बोध इतनी स्पष्टता से कभी नही हुआ था। अब उसे अपने अस्तित्व के द्वंद्व का तीव्र आभास होने लगा।

"चुप क्यों हैं ?"

"मेरी परिस्थिति से आप पूर्णतः परिचित हैं न ?"

"हां! यह भी जानता हूँ कि आपके एक बच्चा है। इंग्लैंड में मैंने देखा है कि प्रथम पति की संतान होने पर विधवाएँ पुनः शादी कर लेती हैं। वे बच्चे भी माँ के साथ रहते हैं। आपका वह पुत्र भी मेरा पुत्र है। मैं उसे प्यार करूँगा।"

जिस द्वन्द्व के बारे मे कात्यायनी कहना चाहती थी, उसके एक अंश का उत्तर राज ने स्वयं दे दिया था। लेकिन यह उसकी परिस्थिति का पूर्ण हल नहीं था। उसने कहा, "मेरे सास-ससुर हैं। उनके कुल-गौरव, गाँव मे मान-सम्मान आदि के बारे मे भी सोचना पड़ेगा।"

"कात्यायनी, यह प्रश्न नया नही है। यह तुम अकेली का प्रश्न नही। क्षमा करना मैं एकवचन मे बोल रहा हूँ"—कहकर वह उसके चेहरे की ओर देखने लगा। उसकी असम्मति का कोई संकेत दिखाई न पड़ा तो उसने आगे कहा, "मान-सम्मान का प्रश्न तो मानव जीवन मे आने वाले समस्त विरोधों का मूल है। 'मूलतत्व' नाटक मे मैंने इसी समस्या को तो प्रस्तुत किया है।"

कात्यायनी की चुप्पी को राज उसकी मौन-सम्मति मानकर उसका हाथ पकड़कर कहने लगा, "क्या कहती हो ? मन के मूल धर्म से अन्याय करना अनुचित है, तुम्हें भी इतना समझ लेना चाहिए।"

कात्यायनी ने हाथ नही छुड़ाया। उसका मन प्रचण्ड विचार-भँवर

में फँसा चक्कर काट रहा था। वह समझ नहीं पा रही थी कि क्या हो रहा है। कुछ समय बाद वह शांत हुआ। "मेरी बात का जवाब दो", कहकर राज ने उसका हाथ दबाया।

"आपके बिना मैं जी नहीं सकती।" कात्यायनी ने कहा।

दोनों के मन को शांति मिली। झंझावात की दो तरंगें जैसे परस्पर मिलकर शांत होती हैं, उसी तरह इन दोनों को शांति मिली। लगभग एक घण्टे तक दोनों बातें करते रहे। इसके बाद कात्यायनी ने नागलक्ष्मी से मिलना उचित समझा, लेकिन राज ने भाभी को अभी इस सम्बन्ध में कुछ बताने से मना कर दिया। कमरा बन्द कर वह भी साथ हो लिया।

दिन-भर कात्यायनी का मन प्रफुल्लित रहा। शाम को ट्रेन में बैठी तो लग रहा था मानों आज सारी प्रकृति आनन्द से हँस रही है। अब तक सिद्धि-सौंदर्य के बिना केवल अपने चैतन्य से लहलहानेवाले प्रकृति-सौंदर्य में एक नया अर्थ दिखाई देने लगा। सूखी हरियाली में अब फल लगने वाले थे।

शाम को घर पहुँची। रात में भोजन के पश्चात् लेटी तो कात्यायनी का मन विपरीत दिशा में घूमने लगा। परीक्षा की तैयारी के लिए इस साल ऊपरी मंजिल में वह अकेली सोती थी। चीनी नीचे दादी के साथ सो जाता था। लक्ष्मी भी भागीरतम्मा के कमरे में सोती थी। अनायास ही आज उसे कालेज का पहला दिन स्मरण हो आया। सास-ससुर के चरण छूकर जिस उद्देश्य से वह कालेज गई थी, उसकी याद हो आई। अपने स्वर्गीय पति के अपूर्ण कार्य, अपूर्ण इच्छा को पूर्ण करने के उद्देश्य ने उसके मन को विचलित कर दिया। उसके बताये हुए कारण से सास और खासकर ससुर, दोनों ने तुरंत अनुमति दे दी थी। फीस, पुस्तकें, रेल-किराये आदि के लिए ससुर से काफी पैसे मिलते थे। अब कुछ समय से घर के हिसाब-किताब की जिम्मेदारी भी उसी पर आ पड़ी थी। बच्चा चार साल का हो गया है। अगले वर्ष उसे स्कूल भेजना पड़ेगा। इस परिस्थिति का स्पष्ट चित्र जब उसकी आँखों के सामने उभरा तो उसे लगा अपने संबंधियों को छोड़कर दूसरा विवाह करना सरासर अनुचित है। उसने सोचा कि आज सुबह का निर्णय, इस परिवार अर्थात् अपने स्वर्गीय पति, विश्वास करने वाले पुत्र, सास-

ससुर, इन सबके प्रति अन्याय होगा।

काफी रात गये तक इन्हीं विचारों में कात्यायनी करवटें बदलती रही। अंत में उसने निश्चय कर लिया कि कल से राजाराव से नहीं मिलना चाहिए। और नागलक्ष्मी के घर जाना भी बन्द कर देना चाहिए। बारह बजे, नीचे उतरकर उसने स्नानगृह में हाथ-पैर धोये। वहां से पूजागृह में जाकर भगवान् को नमस्कार किया। वह ऊपर जा रही थी कि बैठक में पढ़ रहे श्रोत्रियजी ने पूछा, "क्यों बेटी, अभी सोई नहीं ?"

"भगवान् को नमस्कार करने गई थी।"

"अच्छा ! जल्दी सो जाओ।"

ऊपरी मंजिल पर पहुँची। अभी तक ससुर को पढ़ते देखकर उसने अपने-आप निश्चय कर लिया कि परीक्षा के पश्चात् श्रद्धापूर्वक रोज उनसे भगवद्गीता, उपनिषद् का अध्ययन करूँगी।

एक सप्ताह तक कात्यायनी राज से नहीं मिली। कक्षा में भी नहीं गयी। इस डर से कि किसी के द्वारा बुलवा न ले, वह लेडीज कामन रूम में भी नहीं बैठती। उस सप्ताह उसकी मन स्थिति बड़ी विचित्र रही। दौड़कर उनसे मिलूँ—ऐसी एक प्रदम्य अभीप्सा उसके संयम को चीरकर ऊपर उठती। लेकिन वह उसे दूनी दृढ़ता से दाब देती। वह आस-पास की प्रकृति के बारे में अब नहीं सोचती। अचेतन स्वरूप प्रकृति के चेतन रूप में वह स्वयं प्रचण्ड द्वन्द्व-स्थल जो बन गयी थी। धर्म, समाज, नीति आदि काल्पनिक और कृत्रिम रूढ़ियाँ उतनी ही प्रचण्ड शक्ति के साथ फैली हुई थीं। उसके मन में यह जानने की उत्कट जिज्ञासा थी कि वे केवल अभ्यास-बल से प्राप्त विश्वास हैं या उसकी अन्तरात्मा के मूल्य स्वरूप ? लेकिन जिज्ञासा के सूत्र को पकड़कर सत्य को ढूंढना उसकी बुद्धि के परे था। कारण, उसके मन में, जो इन दो शक्तियों कि युद्धभूमि थी, जिज्ञासा के लिए आवश्यक शांति और सहन-शक्ति का अभाव था।

एक दिन रात-भर उसे नींद नहीं आई। कर्म-धर्म की बात सोच-सोचकर उसका दिमाग खाली हो गया था। अन्तरात्मा से उपजी मन

की पुकार के सम्मुख शेष समस्त भावनाएं लुप्त हो गयी थीं। वह आधी रात के समय खिड़की के पास खड़ी होकर बाहर देख रही थी। अभिषिक्त-सी पूर्ण चांदनी में मोगरे की लता नये आम्र-वृक्ष का आलिंगन कर मुस्कराती खड़ी थी। सुबह तीन बजे तक वही दृश्य देखती रही। तब श्रोत्रियजी जागे। पिछवाड़े बगीचे से होते हुए वे गुंडल नदी की ओर चले गये। कात्यायनी खिड़की के पास ही बैठी थी। श्रोत्रियजी लौटे। कपड़े लेकर सामने के द्वार से वे स्नानघाट की ओर बढ़े। कात्यायनी को सब सुनाई दे रहा था।

शेष दो घण्टे का समय बड़ी मुश्किल से बिताकर, वह नीचे आई। अब तक वह एक दृढ़ निष्कर्ष पर पहुँच गयी थी। स्नान करके कपड़े पहने। टिफिन लिया और बगीचे से चमेली के पुष्प चुने। लम्बी-पतली माला बनाई। कदली-पत्र में लपेटकर उसे अपने रूमाल में रख लिया। भोजन करके घर से निकली तो 'माँ जल्दी आना'—चीनी की यह आवाज उसे स्पष्ट सुनाई नहीं दी। ट्रेन के धीमी गति से चलने के कारण उसे मन में कोसती हुई वह चामराजपुर स्टेशन पर उतरकर कालेज पहुँची। अभी सवा दस बजे थे। साढ़े दस बजे राज का पीरियड था। इस विश्वास से कि राज अब तक आ गया होगा, वह सीधे प्राध्यापक-कक्ष के द्वार पर पहुँची। चपरासी से राजाराव को बुलाने के लिए कहा। वह बाहर कात्यायनी को देखकर हर्षित हो उठा। उसके "इतने दिनों से......!" वाक्य पूर्ण करने से पहले ही कात्यायनी बोल उठी, "आज छुट्टी ले लीजिए, कहीं एकान्त स्थान पर जायेंगे। मुझे आपसे बहुत-कुछ कहना है।" "कालेज के पीछे खड़ी रहो, दो मिनट में आता हूँ।" कहकर राज भीतर चला गया।

राज अपनी साइकिल लेकर आया। दोनों चल पड़े। कुक्करगांव के पेड़ों की छाया में चलते हुए राज ने पूछा, "इतने दिन मेरी नजरों से छिपती क्यों रहीं ?"

"अभी कुछ मत पूछिए ! चलिए कहीं बैठकर बताऊँगी; अब कभी ऐसी भूल न होगी।"

चारों ओर हरे-भरे खेत फैले थे। उनके बीच कहीं-कहीं ऊँचे हरे पेड़ खड़े थे। आधे घण्टे तक चलने के बाद भी लोग रास्ते में घूमते हुए

मिलते रहे। अंत में राज ने कहा, "तुम साइकिल पर बैठ जाओ। जल्दी जा सकेंगे। कुछ दूर और चलेंगे तो लोग नहीं मिलेंगे।"

"मुझे साइकिल पर बैठने की आदत नहीं है, गिर गयी तो ?"

'मेरी पकड़ में रहोगी, गिरने का प्रश्न ही नहीं उठता।" और वह कात्यायनी के चेहरे की ओर देखकर हँस पड़ा। कोई देख लेगा, इस संकोच से वह हिचकिचाई, लेकिन राज ने उसका हाथ पकड़कर साइकिल पर आगे बैठाया और फिर स्वयं सवार हो गया। कात्यायनी का मन एक साथ अनेक छोटे-बड़े विचारों में उलझा हुआ था। उसे दोनों हाथों से घेरकर राज हैंडल पकड़े हुए था। शरीर को थोड़ा झुकाकर पैंडल मारता तो कात्यायनी उसकी छाती से सट जाती। आते-जाते लोग उन्हें देखते। दो मील जाने के बाद राज ने पूछा, "और कितनी दूर चलें ?"

"मरने तक चलते चलो।"

और एक मील जाने पर एक गांव मिला। वृक्ष-समूह, तालाब आदि पारकर लगभग चार मील और आगे बढ़े। उस निर्जन क्षेत्र में एक झरना मिला। झरने के पास उतरे। राज साइकिल लिये हुए मुख्य मार्ग छोड़ कुरुचलू कानन की ओर बढ़ा। लगभग दो फर्लांग चलने पर निर्जन स्थान मिला। छोटे-छोटे वृक्षों से आवृत्त वहाँ एक झरना बह रहा था। वहीं साइकिल रखकर राज ने कहा, "यहीं बैठें।"

कात्यायनी घास पर बैठ गयी। बगल में बैठते हुए राज ने कहा, "अब कहो, तुम इतने दिनों तक मुझ से छिपती क्यों रहीं ?"

दीर्घ नि:श्वास छोड़ते हुए उसने कहा, "मन में एक अजीब-सा द्वन्द्व चल रहा था। कल रात ही निर्णायक स्थिति में पहुँची हूँ।"

कात्यायनी का हाथ पकड़कर राज ने कहा, "क्या द्वन्द्व अब भी है ?"

"आप हाथ पकड़े रहते हैं तो नहीं रहता। सदा के लिए पकड़े रहें ताकि फिर वह कभी न उठ सके।"

राज की दृष्टि रूमाल में रखी पुष्पमाला की ओर गयी। सुगंध से यद्यपि वह जान गया था, फिर भी पूछा, "इसमें क्या है ?"

"आपके लिए ही लाई हूँ।" रूमाल खोलकर माला हाथ में लेकर उसने उसे राज को पहनाना चाहा। बैठी हुई कात्यायनी की विशिष्ट भंगिमा, पहनी हुई साड़ी, हाथ में पुष्पमाला देखकर राज की आँखें चौंधिया गयीं।

"कुछ समय बाद पहनाना। एक मिनट यों ही बैठी रहो।" और वह उसे अपलक निहारने लगा।

कात्यायनी लगभग तेईस वर्ष की सुन्दर युवती थी। मनमोहन रूप था। गठा शरीर दमक रहा था। चलती तो चरण ऐसे लाल-लाल हो उठते, मानों रक्त प्रस्फुटित होना चाह रहा हो। घनी चाँदनी-सा वर्ण। अँगुलियाँ इतनी सुंदर कि केवल चित्रकला में ही चित्रित की जा सकती हैं। शरीर पर कोई आभूषण नहीं। सुन्दर घने, घुँघराले काले बाल पीठ पर सर्पिणी-से लटक रहे हैं। गंभीर, लेकिन मुस्कराता चेहरा। स्त्री सुलभ रूप सुकोमल अंगांगों से प्रस्फुटित हो रहा था।

आश्चर्य से राज उसे देख रहा था।

"ऐसे क्यों देख रहे हैं आज ?"

"आश्चर्य ! मैंने 'मूलतत्त्व' संबंधी अपने एक स्वप्न की बात कही थी न ! उसमें तुम इसी सुंदर भंगिमा में—इन्हीं मोहक अंगांगों, सौंदर्य, भावों में—स्वप्न में दिखाई पड़ी थीं। इसी तरह हाथ में माला थी, लेकिन वह लाल गुलाब की थी। वह निर्वस्त्र थी, किन्तु तुम सफेद साड़ी में हो।"

लज्जा से कात्यायनी ने सिर झुका लिया। फिर पूछा, "क्या मैं ही आपके नाटक की प्रेरणा थी ?"

"हाँ, अब ऐसा आभास हो रहा है।"

"तब क्यों नहीं कहा कि स्वप्न में मुझे ही देखा था ?"

"तब हममें इतनी निकटता नहीं थी।"

राज अब भी अपलक उसे निहार रहा था कि उसने पुष्पमाला उस के गले में डालकर अपनी आँखें मूंद लीं। राज ने धीरे से भुजाएँ पकड़ उसे अपनी गोद में लिटा लिया और अपनी बाँहों में कस लिया। चारों ओर हरियाली की चेतना लिये वृक्ष खड़े थे।

झरने का मन्द-मन्द झरता पानी प्रचण्ड चैतन्य का प्रतीक हो उठा था। गले में पड़ी चमेली की माला की सुगंध ने उन दोनों को असाधारण मनःस्थिति में पहुँचा दिया। युवती के अपूर्व स्पर्शानुभव से राज काँप उठा। पुरुष के सामीप्य से प्रकृति उन्मत्त होकर, उस अचेत स्थिति में भी उसका चैतन्य अपनी मूल शक्ति लिए नाच रही थी। अधखुली आँखों से उसके मोहक मुखड़े को निहारते राज ने कहा, "प्रकृति !"

"प्रकृति विधवा है ?"

"चिर-नूतन, चिर-चेतन प्रकृति पर धर्म की पाबंदी लादना अधर्म है।"

नाटक के कण्ठस्थ वाक्य कात्यायनी को स्मरण हो आये। उसी धुन में तन्मय होकर उसने कहा, "चेतना ही मेरा मूल गुण है। मन को हर्षित कर देनेवाली वनश्री, आँखों को तृप्त करने वाले ये सुंदर दृश्य, यह बहता झरना, क्या इन पर कोई भी धर्म वैधव्य की छाँह छोड़ सकता है ?"

दोनों मौन ! वे अगाध चेतनायुक्त निस्तब्धता में अपने-आपको भूल गये। दोपहर का सूर्य पश्चिम की ओर झुक रहा था। अपने गले का हार उसके गले में भी डालकर, एक माला में आबद्ध हो राज ने पूछा, "अब तुम्हारा अन्तर्द्वन्द्व रुक गया ?"

वह अवर्णनीय अनुभव की मौनावस्था में थी। राज ने उसके चेहरे को ऊपर उठाते हुए पूछा, "अब कहो, मन शान्त हुआ ?"

धीरे से निःश्वास छोड़, अपनी अनुभूति को तात्पर्य-रूप में समझाने की ध्वनि में बोली, "मैंने कई बार सोचा है ! मुझ में द्वन्द्व कभी मूल रूप में नहीं रहा। संसार का अनुभव पूर्ण होने से पहले ही, अनुभव को धोखा देने की स्थिति किसी पर बीतती है तो ऐसे द्वन्द्व का अनुभव होता है। अपनी अनुभूति कह सुनाऊँ तो आप शायद मुझे निर्लज्ज समझ बैठें।"

"नहीं, कहो।"

"स्त्री को अनुभवों से वंचित करने के लिए हजारों बाधाएँ । वे सब मानव निर्मित हैं। कई बार ये बाधाएँ स्त्री की मूल शक्ति का सामना करने में विफल होती हैं। तब पुरुष सैकड़ों नय-मिथ्या रिवाज

फैलाता है। हमारे कई स्वरूपों पर गंदगी का आरोप कर, पुरुषों को हम से वंचित करने का प्रयत्न चलता रहता है। पुरुष तो हम से दुर्बल है न ?"

"यह बात क्या मुझ पर भी लागू होती है ?" राज ने उसे बाँहों में लपेट लिया।

"नहीं ! इसीलिए तो हम एक हुए हैं। कहिए आप कभी कृत्रिम बाधाओं को मानकर मुझ से विमुख न होंगे ?'

"विमुखता मेरा मूल गुण नहीं है।"

काल-देश को भूले सुप्त स्थिति में वे दोनों अपनी मूल स्थिति में पहुँच चुके थे। उस हरी घास के आँगन में उनके सामीप्य में विघ्न डालने वाला कोई बंधन नहीं था।

कात्यायनी उस दिन सुख से सोयी। उसका मन, जो कई दिनों से अन्तर्द्वन्द्व की युद्धभूमि था, अब सुंदर नृत्य-मंच बन गया था। वह नियमित रूप से हर रोज राज से मिलती। एक दिन सुबह जल्दी उठकर स्पेशल पीरियड का बहाना बनाकर, सात बजे की गाड़ी से मैसूर चल दी। वह मालगाड़ी थी। उसमें यात्रियों के लिए दो डिब्बे लगे थे। स्त्रियों के लिए अलग डिब्बा न होने की वजह से कात्यायनी को पुरुषों के साथ ही बैठना पड़ा। आज उसे प्रकृति में नया चैतन्य दिखाई पड़ा। अपने चारों ओर के यात्रियों की बातों से ऊबी नहीं, न ही बीड़ी का धुआँ असह्य लगा। खिड़की के उस पार देखते हुए एक किसान ने कहा, "इस बार फसल अच्छी है।"

"फसल जरूर अच्छी है, लेकिन अब भी बारिश की जरूरत है। भूमि और आकाश बार-बार आकर्षित नहीं हुए तो फसल अच्छी न होगी। लगता है आज बारिश होगी। बादल चढ़ रहे हैं"—पास ही बैठे एक अनुभवी वृद्ध ने कहा।

कात्यायनी सुनती रही। उसने बाहर देखा। विशाल खेत वरुण देवता की प्रार्थना कर रहे थे। सूखी जमीन आकाश से जल की आशा कर रही थी। उस वातावरण से लगता था, मानों कई दिनों

से पानी का दर्शन ही नहीं हो रहा है। किसान कह रहा था, "गर्मी पड़ रही है, बारिश आ भी सकती है।"

कात्यायनी चामराजपुर में न उतरकर सीधे बड़े स्टेशन गयी। साढ़े आठ बजे एक शटल गाड़ी अरसीकेरे की ओर जा रही थी। दोनों के टिकट लेकर राज वहां प्रतीक्षा कर रहा था। उसके पास एक बिस्तर और थैला था। वह पूरे सूट में था। शटल में बैठकर दोनों कन्नंबाड़ी उतरे। कात्यायनी की किताबें राज ने थैले में रखी। कुली से सामान रखवाकर वृंदावन स्थित बड़े होटल में ठहरे। राज ने 'विजिटर बुक' में लिखा कि दोनों मद्रास से आये हैं। फिर होटल के नौकर द्वारा बताये सुसज्जित कमरे में प्रवेश किया।

पौने दस बजे दोनो ने नाश्ता किया। बाहर कड़ी धूप थी। दूसरी ओर आकाश में घने बादल छाये थे। वातावरण में गर्मी बढ़ गयी थी जो कात्यायनी और राज को असह्य प्रतीत हो रही थी। सिर के ऊपर पूर्ण गति से घूमता पंखा उन्हें राहत न पहुँचा सका। बाहर फैली सूखी पृथ्वी वर्षा की प्रतीक्षा में थी। वर्षा के अभाव में पृथ्वी पर उगी शोभा मुरझाने जा रही थी। मांगना पृथ्वी का स्वभाव नहीं! आकाश के बादल अपने अभिमान में धरती को स्पर्श न कर, संकोच से ऊपर-ही-ऊपर, मँडरा रहे थे। अपने भार को वहन करने की क्षमता उनमें नहीं थी। यह पृथ्वी और बादल का मुख्य अंतर था। पृथ्वी पर भरपूर वर्षा हुई थी। वर्षा रुकने के कुछ दिनों बाद पृथ्वी पुनः आकाश की ओर ताक रही थी। लेकिन अब मँडराने वाले बादल नये थे और एक ही बार जल बन जाने की सामर्थ्य उनमें नहीं थी। फिर भी बादल इतने घने थे कि एकाएक बरस पड़ें तो उस प्रवाह में पृथ्वी का सारा सौंदर्य मिटकर केवल विकार रह जाय। उसमें पूर्वानुभव का अभाव था। वह आश्चर्य, संदेह एवं नई स्थिति के कारण अनजान अपरिचित भय से निष्क्रियावस्था का अनुभव कर रहा था।

सारे जग को दग्ध कर देने वाली गर्मी राज और कात्यायनी के लिए असह्य बन गई। वर्षा नहीं हुई, तो गर्मी कम न होगी। कात्यायनी मूकवत् बैठी थी, राज खिड़की से बाहर देख रहा था। बादल अनिश्चित स्थिति में मँडरा रहे थे। एकाएक बिजली चमकी। बादलों ने शायद

अपने ही प्रकाश में धरती के सौंदर्य को देखा, धरती की तृष्णा को समझा। सारे बादल एकाएक धरती पर टूट पड़े। वर्षा की प्रचण्ड शक्ति से संदेह मानों दूर हो गया। निष्कर्ष ने क्रियाशक्ति बनकर, बादलों ने धरती का आलिंगन किया। बादलों की गड़गड़ाहट, बिजली की चमक और तूफान के झोंकों के बिना ही अपने-आप प्रचण्ड वर्षा प्रारंभ हो गई।

मध्याह्न होते-होते वर्षा थमी। राज-कात्यायनी के भोजन करने तक मौसम की उष्णता घट गई थी। मन को तृप्त कर देने वाली ठण्डक छा गई थी। दूर से बहकर आती हुई हवा गीली मिट्टी की सुगंध फैला रही थी। भोजन करते समय वातावरण इतना प्रसन्न था कि आपस में बात तक न हुई। धरती की हरियाली में एक नई शोभा आ गई थी। भोजन समाप्त होते-होते बादल फिर घिर आये। लेकिन ये नये बादल नहीं थे, पहले के घने हो रहे थे। देखते-देखते बूँदा-बाँदी होने लगी। इनमें किसी तरह की मस्ती न थी, पागलपन न था। शांत धरती इस शांत वर्षा का स्वागत कर रही थी। आकाश में काला आवरण नहीं था। अब बादलों में भी आकाश मंद-मंद प्रकाश से सुशोभित था।

लगभग चार बजे राज और कात्यायनी वहाँ से स्टेशन की ओर चले। वर्षा रुक गई थी। बिस्तर और थैला लिये कुली आगे-आगे चल रहा था। अब प्रकृति अट्टहास कर रही थी। धूप निकल आई थी। बादल ओझल हो चुके थे। वे एक शटल गाड़ी में बैठकर मैसूर पहुँचे तब पाँच बज रहे थे। कात्यायनी नंजनगुडू की ओर जाने वाली तैयार खड़ी ट्रेन में बैठ गई। स्टेशन से बाहर निकलने के पहले राज ने कहा, "कल कालेज में मिलेंगे।" स्वीकृति में कात्यायनी ने सिर हिलाया। उसके मुख से कोई शब्द न निकला।

११

डॉ० राव रोज की तरह पुस्तकालय में बैठकर अपने कार्य में लगे हुए थे। कमरे में अब ग्रंथों की संख्या बढ़ गई थी। आवश्यक ग्रंथ वे वहीं मँगा लेते थे। उन्हें व्यवस्थित रखना या उनका उपयोग हो जाने के बाद लौटाने में वे असमर्थ थे। उस ग्रंथ-राशि में से आवश्यक ग्रंथ ढूँढ निकालना बड़ा मुश्किल होता था।

रत्ने को पत्र लिखे दस-पन्द्रह दिन बीत गये थे। उसका कोई पत्र नहीं आया था। डॉ० राव सोच रहे थे, शायद वह नहीं आयेगी। यह सोचते तो उनका मन रत्ने को और अधिक याद करने लगता। अदम्य उत्कण्ठा से उनका मन कहता, कहीं वह आज ही न आ जाये? एक दिन वे शून्य भाव से आरामकुर्सी पर सिर टिकाकर बैठे थे। कार्य करने का उस दिन कोई उत्साह नहीं था। पंखा धीमी गति से चल रहा था; वे उसे ही एकटक देख रहे थे। चश्मा बायें हाथ में लिये निर्जीव-से पड़े हुए थे। पीछे से धलता द्वार खोलने की आवाज भी सुनाई नहीं पड़ी। द्वार खोलकर बहुत पास आने पर उन्हें लगा कि कोई आया है। उन्होंने आँखें उठाईं—रत्ने थी। वही रत्ने सफेद साड़ी, सफेद ब्लाउज पहने सामने खड़ी थी, जो उनके साथ काम करती थी। हड़बड़ाकर उठते हुए डॉ० राव ने पूछा, "आ गई?"

"हाँ!" इतना ही कहकर एक कुर्सी खींचकर रत्ने उनके पास बैठ गई।

पाँच मिनट तक डॉ० राव समझ न पाये कि क्या बोलना चाहिए। उनका मन खुशी से नाच उठा। अपना हाथ आगे बढ़ाकर डॉ० राव ने उसका दाहिना हाथ पकड़ लिया। रत्ने भी कुछ बोल न सकी,

केवल अपने दोनों हाथों से उनके हाथ को भींच लिया । फिर डॉ० राव ने पूछा, "सामान कहां है ?"

"स्टेशन पर छोड़ आई हूँ ।"

"उठो, लेडीज़ होस्टल में एक कमरे की व्यवस्था करेंगे ।"

"होस्टल मुझे पसन्द नहीं ।"

"यह भी ठीक है ।" कहकर वे चुप हो गये । कुछ समय बाद कहा, "चलो, पहले भोजन कर आयें ।"

दोनों हिन्दू होटल गये । साढ़े बारह बज रहे थे । डॉ० राव घर से खाकर आये थे । फिर भी रत्ने का साथ दिया । खाने के बाद दोनों पुस्तकालय लौटे । थोड़े समय तक देश, घर संबंधी बातचीत के पश्चात् डॉ० राव ने पूछा, "क्या सोचा है ?"

"मेरा कोई विचार नहीं । आपके साथ कार्य करके आत्म-तृप्ति पाना ही मेरा उद्देश्य है । शेष विचार आपका है ।"

"पहले दोनों शादी कर लें !"

आवाज पर नियंत्रण रखते हुए, ओंठ दबाकर रत्ने ने पूछा, "शादी न करें तो कैसा रहेगा ?"

"मेरा भी ऐसा ही विचार था । हम दूसरों की तरह 'दाम्पत्य' के लिए नहीं मिलते । लेकिन कितने दिन ऐसे रहना संभव है ! हमें सारा जीवन साथ-साथ बिताना है । होस्टल में तुम कितने दिन रह सकोगी ? तुम्हारे लिए अगर अलग कमरा लिया जाय तो किसी सामाजिक बंधन के बिना मैं वहां कैसे आ सकूंगा ? तुम दिन-भर यहां अकेली कैसे काम कर सकोगी ? लोग क्या कहेंगे ? विश्वविद्यालय भी हम पर अनैतिकता का आरोप लगाए बिना नहीं रहेगा । अगर शादी कर लेते हैं तो इन सारी झंझटों से मुक्त हो सकते हैं ।"

"लोग यह नहीं कहेंगे कि पत्नी के होते हुए भी ऐसा किया ?"

"केवल चार दिन ! दूसरी शादी लोगों के मुंह के लिए चार दिन का आहार हो सकता है, लेकिन हम पर अनैतिकता का आरोप नहीं मढ़ा जा सकता । हम दोनों साथ-साथ अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता से कार्य कर सकते हैं ।"

वह पूछना चाहती थी कि इस सम्बन्ध में घर बताया या नहीं;

लेकिन यह सोचकर चुप रह गई कि इसे सुलझाना इनका काम है, मैं क्यों अप्रासंगिक स्थिति में डालूं !

दोनों स्टेशन गये। हिन्दू होटल में एक कमरे की व्यवस्था कर रत्ने का सामान रखवाया। "शोधकार्य के सिलसिले में आई है, केवल एक माह के लिए कमरा चाहिए।"—कहकर डॉ० राव ने होटल के मैनेजर के पास पैसे जमा करा दिये। फिर दोनों पुस्तकालय में आये तो शाम के पांच बज रहे थे। कमरे में अव्यवस्थित पड़ी पुस्तकें देखकर रत्ने पूछ बैठी, यह अव्यवस्थित ढेर क्यों ? मैं क्रम से लगाये देती हूं। अब तो आवश्यक ग्रंथ एवं पृष्ठ निकालने के लिए मैं आ ही गई हूं।"

"सफर में थक गई होगी, थोड़ा विश्राम कर लो।"

"इतने दिन काम न होने से मेरी तबीयत बिगड़ गई थी। अब सुधर जायेगी।" कहती हुई वह ग्रंथों को व्यवस्थित करने में लग गई।

डॉ० राव ने उसी दिन निश्चय कर लिया कि अपनी इस इच्छा को घर में तुरन्त बता देना चाहिए। लेकिन पंद्रह दिनों तक ऐसा नहीं कर सके। विषय का प्रारम्भ कैसे करें—कैसे कहा जाय, इससे उत्पन्न प्रतिक्रिया का सामना कैसे किया जा सकता है, आदि सोचने पर उन का मन विचलित हो जाता। वे निश्चित रूप से जानते हैं कि यह जानकर नागलक्ष्मी को बड़ा आघात लगेगा। उनका मन कहता कि इस निर्णय से निरपराधिनी नागलक्ष्मी को बड़ा आघात लगेगा। उनका मन कहता कि इस निर्णय से निरपराधिनी नागलक्ष्मी के प्रति क्रूर अन्याय किया जा रहा है। लेकिन उनके निर्णय में नैतिक सान्त्वना यह थी कि अगर इस निर्णय से पीछे हट जायें तो अपने जीवन की महत्वाकांक्षा रूपी शोध-कार्य अपूर्ण ही रह जायेगा। किन्तु नागलक्ष्मी के निरपराध होते हुए भी उनका विचार इस विषम दाम्पत्य से पूर्णतः अलग रहने का न था। उन्हें रत्ने चाहिए, नागलक्ष्मी नहीं ऐसी बात नहीं। उसे छोड़ देने की बात क्षण-भर के लिए भी उनके मस्तिष्क में नहीं उठती थी।

एक दिन रात में डॉ० राव घर पर अध्ययन-कक्ष में बैठे थे। पढ़

नहीं सके। ग्यारह बजे बत्ती बुझाकर, शयन-कक्ष में जाकर दरवाजा बंद कर लिया। अंदर बड़े पलंग पर नागलक्ष्मी और पृथ्वी सोये थे। बगल में डॉ॰ राव का बिस्तर लगा था। आज वे इस निश्चय से आये थे कि अपना निर्णय बता ही देना चाहिए। उसे नींद आ चुकी थी। बगल में बैठकर, उसकी बाँह को हिलाकर पुकारा 'नागु'। वह जागी। कमरे में मंद प्रकाश था। अधखुली आँखों से पूछा, "क्या समय हुआ?"

"ग्यारह !"

"अच्छा !" कहकर पुनः आँखें मूँदकर पति की बाँहों को अपनी बाँहों में भरकर नागलक्ष्मी ने पूछा, "आज मेरा भाग्य खुला है। कैसे जल्दी सोने आ गये ?"

डॉ॰ राव की समझ में नहीं आया कि आगे क्या बोलें। धीरे से केवल 'नागु' कहा। पति के कृश शरीर को अपनी दोनों भुजाओं में कसकर प्यार से बोली, "पढ़ाई में दिल नहीं लगा क्या ? कितने सालों बाद ग्यारह बजे आकर मुझे 'नागु' कहकर पुकारा है ! मैं समझती हूँ। मैं आपकी पत्नी हूँ न ? सो जाइए।" डॉ॰ राव कुछ नहीं बोले। नागलक्ष्मी अपने पति की चश्माविहीन आँखों में गौर से देखते हुए उन्हें एक बार चूमकर बोली, "मैं एक बात कहती हूँ, सुनेंगे ?"

"क्या ?"

"आपके शरीर में काफी उष्णता है। बुखार-सा लग रहा है। अधिक पढ़ने के कारण आँखें भी धँस-सी गई हैं। आँखें गईं तो फिर क्या होगा? भविष्य में हर रविवार को थोड़ा जल्दी उठिए। पुस्तकालय जाने से पहले मैं एक बाल्टी गरम पानी से स्नान कराऊँगी। रोज भोजन के बाद कुर्सी पर बैठ जाइए, मैं तलवों में तेल मल दिया करूँगी।"

डॉ॰ राव कुछ न बोले। आँखें मूँदकर पत्नी की भुजा पर सिर रख कर लेट गये। "सो गये ?" नागलक्ष्मी ने पूछा, तो उत्तर नहीं दिया। 'सो जाइए !' और पीठ थपथपाने लगी, मानों माँ बच्चे को सुला रही हो। डॉ॰ राव का मन थोड़ा-सा जल रहा था। उनकी बुद्धि काबू में नहीं थी। इच्छा-शक्ति पिघल चुकी थी। मन में निहित महत्वाकांक्षा की विद्युत्शक्ति, पत्नी के स्निग्ध प्रेम से क्षीण हो गई। थोड़ी देर बाद एक दीर्घ निःश्वास ली। "क्यों नींद नहीं आई ?" नागलक्ष्मी ने चेहरे

की ओर देखते हुए पूछा। उनकी आँखों में आँसू दीख पड़े।

"क्या सोच रहे हैं? मुझसे नहीं कहेंगे?" कोई उत्तर नहीं मिला। "आप नहीं चाहते तो मत कहिए। बचपन में ही माता-पिता के गुजर जाने से अच्छी तरह से आपकी देखभाल के लिए कौन था! हमारे यहाँ भी अधिक न रहे। पढ़ने के लिए मैसूर चले आये। माँ को खोकर बच्चों को जीना नहीं चाहिए। लेकिन अब मैं हूँ न! आपको किस बात की चिन्ता है! इस तरह चिंता करना क्या उचित है?" और अपने आँचल से उनके आँसू पोंछने लगी।

"कोई चिन्ता नहीं। तुम्हें नींद आ रही है, सो जा।" कहकर डॉ॰ राव पास के तकिये पर लेट गये। उनके शरीर पर शाल डालकर नागलक्ष्मी भी चुप हो गई। सारी रात डॉ॰ राव को नींद नहीं आई। रात के लगभग दो बजे नागलक्ष्मी को नींद आई। वह पति को अपनी बायीं बाँह से ऐसे लिपटाकर सोयी थी मानों रात के अंधकार से भयभीत बच्चे को माँ ने अपने अंक में छिपा लिया हो। उसकी नींद में बाधा न पड़े, इस ख्याल से डॉ॰ राव अचल लेटे रहे। रात-भर उनके मस्तिष्क में द्वन्द्व रहा। 'इसका कसूर क्या है?' इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता। उनका मन केवल इतनी सान्त्वना दे रहा है कि 'मैं इसे त्याग नहीं रहा हूँ। अपने जीवन की महत्वाकांक्षा पूर्ण करने के लिए ही और एक लड़की को अपना रहा हूँ—बस!'

दूसरे दिन डॉ॰ राव पाँच बजे उठे। इन दिनों राज सुबह जल्दी उठता और स्नान करके टहलने निकल पड़ता था। वह स्नान की तैयारी में था कि डॉ॰ राव ने कहा, "टहलने जाते समय मुझे बता देना, मैं भी चलूँगा।" हँसते हुए राज ने पूछा, "क्या आप भी स्वास्थ्य की ओर ध्यान देने लगे?"

दोनों भाई टहलने निकल पड़े।

"मैं तुमसे एक बात पूछना चाहता था?" डॉ॰ राव ने कहा।

राज जानता था कि अवश्य कोई बात भाई के मन को कुरेद रही है। क्या विषय होगा, इसकी अस्पष्ट कल्पना भी उसके मन में न आई थी। "कौन-सी बात?" राज ने जिज्ञासा प्रकट की। 'कैसे प्रारंभ करूँ' इसी दुविधा में डॉ॰ राव ने कोई उत्तर नहीं दिया। राज ताड़

गया। भाई को उस दुविधा से उवारने के लिए कहा, "सुना है करुण-रत्ने आई हैं ?"

"तुम्हें कैसे मालूम ?"

"लाइब्रेरी में सुना था कि हिन्दू होटल में रहती हैं।"

राज से यह सुनकर डॉ० को आश्चर्य तो हुआ, लेकिन इसे अच्छी भूमिका समझकर उन्होंने कहना आरम्भ किया। अपने ग्रंथ-निर्माण में आनेवाली बाधाओं की बात कही। अपनी आँखों की कमजोरी के बारे में कहने के पश्चात् बोले, "रत्ने के बिना ग्रंथ पूर्ण नहीं होगा। ग्रंथ का काम न बढ़ा तो बिना उसके मैं जिन्दा भी नहीं रह सकूँगा। उसका इस तरह साथ कार्य करते रहना सामाजिक दृष्टि से अनुचित है। अतः सोच रहा हूँ 'सिविल मैरेज' कर लूँ।"

राज कुछ न बोला। कभी-कभी वह भी महसूस करता था कि भविष्य में ऐसा ही कुछ होकर रहेगा। महान् विद्वान् साहित्यकार, अन्य-तम कलाकार, वैज्ञानिक आदि के जीवन में ऐसा होता रहता है। खासकर विषम वैवाहिक जीवन में इसकी अधिक गुंजाइश है। लेकिन यह जानकर वह असमंजस में पड़ गया कि उसका भाई भी ऐसा करने की सोच रहा है। अतः उसने पूछा, "नागु के बारे में क्या सोचा ?"

"उसे समझाना तुम्हारी जिम्मेदारी है, इसीलिए तुम्हें यहाँ ले आया हूँ। करुणरत्ने को अपनाने का मतलब नागु को त्यागना नहीं है।"

"फिर भी क्या वह मान जायेगी ? 'तुझे नहीं छोड़ता, तू भी रह' कहने से क्या कोई भी स्त्री अपने पति को दूसरी शादी की स्वीकृति देती है ? मामाजी ने हम अनाथों की देखभाल की। नागु के साथ आपकी शादी करा दी। वे अब नहीं हैं। मामी भी सिधार गईं। आप ग्रंथ लिखते हैं तो इसमें नागु की क्या गलती है ? शादी के समय उसकी स्वीकृति की अपेक्षा आपकी स्वीकृति मुख्य थी। आपने पसन्द किया था उसे।"

थोड़ी देर सोचकर डॉ० राव ने कहा, "चर्चा से इस प्रश्न को सुलझा नहीं सकते। तुम आक्सफोर्ड-जैसे स्थानों में रहे हो। मैं जानता हूँ कि नागु के प्रति तुम्हारा बड़ा स्नेह है। मैं भी उसे प्यार करता हूँ। अगर

यह ग्रंथ पूर्ण न हुआ तो मैं अशांति से मर जाऊँगा। रहने नहीं, तो क्या तुम मेरी मदद कर सकते हो? मैं घर नहीं छोड़ूँगा। नागु को नहीं त्यागूँगा। मेरा विश्वास है कि तुम समझ सकते हो। तसल्ली दिला सकते हो। क्षण-भर के लिए इस विषय को मेरी दृष्टि से समझने की कोशिश करो।"

राज ने भाई की दृष्टि से विषय को समझने की कोशिश की। अधिक प्रयास किये बिना ही उसे स्फटिक-सा स्पष्ट दिखाई दे रहा था। भाभी के प्रति उसका अगाध प्रेम था। भाई के बौद्धिक प्रयत्न के प्रति अपूर्व गर्व था। कोई 'ये हैं डॉ० सदाशिवराव के भाई' कहकर परिचय कराता तो उसकी छाती फूल उठती। इन दोनों के बीच वह कर भी क्या सकता है! वह जानता था कि उसका भाई इतना आगे बढ़ चुका है, जहाँ से पीछे हटना मुश्किल है। वह उनसे कठोर बातें नहीं कहना चाहता था। उसमें कोई लाभ भी नहीं। यह सोचकर वह चुप रहा। इतना ही कर सकता था कि अधिकतम स्नेहपूर्वक भाभी को समझाकर तसल्ली दिलाये।

डॉ० राव की योजना नागलक्ष्मी के कानों में पड़ी। वह तीन दिन खाना न खा सकी। रात-भर पलकें नहीं मूँदी। वह जानती थी कि पति के लेखन कार्य में वह मदद नहीं कर सकती, लेकिन इसका यह अर्थ तो नहीं कि पति दूसरी शादी कर ले। अपने अध्ययन के हेतु डॉ० राव पत्नी के प्रति बेरुखे ही रहे। फिर भी नागलक्ष्मी ने सब-कुछ सहा। लेकिन उनका दूसरी शादी कर लेना, उसके लिए असह्य था। राज जानता था कि भाभी का मन अनियंत्रित हो गया है। अतः तीन दिन वह कालेज नहीं गया। घर में ही रहा।

डॉ० राव घर आते। रात के भोजन के बाद अध्ययन-कक्ष में चले जाते। नींद आने पर वहीं आरामकुर्सी पर सो जाते। जब नागलक्ष्मी को यह पता लगा, उसी दिन रात को उनके कमरे में जाकर पति से पूछा, "मैंने ऐसा कौन-सा अपराध किया कि आप दूसरी शादी कर रहे हैं?"

डॉ० राव के ओंठ नहीं खुले। "आप जब तक नहीं बोलते, तब तक

मैं इस कमरे से नहीं जाऊँगी ।" कहकर वहीं बैठ गई । एक स्त्री ऐसी परिस्थिति में, लज्जा को सीमित कर, जितना बोल सकती है, उसने कह सुनाया । लेकिन डॉ० राव मूकवत् बैठे रहे । केवल इतना कहा, "राज सब-कुछ बता देगा ।"

तीसरे दिन दोपहर को नागलक्ष्मी निराहार बैठी रही । राज ने कहा, "नागु, तुम ऐसे बैठी रहोगी तो मैं भी कैसे खा सकूँगा ?"

"मुझे अपनी किस्मत पर छोड़ दो, तुम खा लो ।"

"तुम्हारे बिना मैं नहीं खाऊँगा, उठो !" राज ने बहुत मनाया, लेकिन वह न मानी । ऐसी विपत्ति में हर तरह से तसल्ली देनेवाले देवर के प्रति उसके भोजन न करने पर वात्सल्य उमड़ पड़ा ।

"राज, माँ गुजर गईं । पिताजी चले गये । और अब इन्होंने ऐसा करने की ठान ली है । तुम क्यों मेरी चिंता कर रहे हो ?"

"भैया के संबंध में तुम समझी नहीं ! उन्हें अपने ग्रंथ की ही धुन है । रत्ने के बिना ग्रंथ पूर्ण नहीं होगा । इतना निश्चित है कि अगर ग्रंथ पूर्ण न हुआ तो भैया मानसिक रोग से अंतिम साँस लेंगे ! क्या ऐसा मौका आने देना उचित होगा ?"

"इस पागलपन में वे मुझे क्यों छोड़ना चाहते हैं ?"

"तुम्हें छोड़ने का उनका विचार बिल्कुल नहीं है । रत्ने से शादी करने के पश्चात् वह भी यहाँ आयेगी । इस घर के लिए आवश्यक सामान लाना, निगरानी रखना मेरी जिम्मेदारी है और भीतर की जिम्मेदारी तुम्हारी । वह रहना चाहती है तो रहने दो । क्या किया जा सकता है !"

"इन्हें ग्रंथ के लिए विद्वानों की मदद चाहिए, तो तुम भी विद्वान् हो । तुम्हारी मदद क्यों नहीं लेते ?"

"इतनी दूर इसीलिए जाना पड़ा कि यह कार्य मुझसे नहीं हो सकता । "नागु, तुम जितना हठ करोगी, कार्य उतना ही बिगड़ेगा । दूसरी शादी की बात मान लो । वह आकर तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकती । उसे भी रात-दिन अध्ययन करने की धुन है । तुम एक बेटे की माँ हो, मैं भी साथ रहूँगा ही । इस घर में तुम्हें कोई नीचा नहीं दिखा सकता । वह भी बुरी स्त्री नहीं है । भैया भी तुम्हारी उपेक्षा नहीं

करेंगे।"

नागलक्ष्मी ने मन-ही-मन सोचा : 'रत्ले की अपेक्षा वह सुन्दर है। उसके शरीर का सौंदर्य अब भी कायम है। प्रौढ़ भाव ने पहले के लक्षण और बढ़ा दिये हैं। मुझ-जैसी पत्नी को छोड़कर उस काली लड़की से शादी कर लेने की इच्छा तो इनके पागलपन का सबूत है। चार दिनों में ही अक्ल आ जायेगी और अपने-आप रास्ते पर आ जायेंगे।' लेकिन इस दलील ने उसके दुःख को कम नहीं किया। अब भी खाने के लिए नहीं उठी। पृथ्वी स्कूल गया था। फाटक खोलकर किसी के आने की आहट हुई। राज ने द्वार खोला। "आप तीन दिन से कालेज नहीं आ रहे हैं!" मंद स्वर में कहती हुई कात्यायनी भीतर आई। नागलक्ष्मी जानती है कि आजकल कात्यायनी राज से खुलकर बात करने लगी है। लेकिन उसने इस ओर अधिक रुचि नहीं दिखाई। नागलक्ष्मी का चेहरा देखकर कात्यायनी को आश्चर्य नहीं हुआ। लगता था उसे इसका पूर्वाभास हो गया था। फिर भी उसे व्यक्त न कर पूछा, "आपको देखे पाँच-छह दिन हो गये। अरे! आपको यह क्या हो गया? तबीयत अच्छी नहीं है क्या?"

नागलक्ष्मी कुछ न बोली। कात्यायनी रूमाल में वेणी निकालकर उसकी ओर बढ़ाते हुए बोली, "लीजिए।"

वेणी को दाहिने हाथ से परे हटाते हुए बोली, "अब फूलों से मुझे क्या!" और उसके आँसू बह चले।

"नागू, तुम्हें ऐसा नहीं कहना चाहिए। अस्वीकार करने जैसा क्या हो गया है?" राज की बात मानकर उसने वेणी पास रख ली। पाँच मिनट सब मौन रहे। कात्यायनी की नजर राज के चेहरे पर जा पड़ी। तिरछी नजर से राज ने भी देखा। कात्यायनी ने पूछा, "कालेज में एक समाचार सुना था। क्या यह सच है?"

"कैसा समाचार?"

"मालूम नहीं सच है या झूठ। नागलक्ष्मी के आँसू देखकर तो सच लगता है।"

"कहो, बात क्या है?"

"खबर है कि आपके भाई साहब ने रिसर्च स्टूडेंट मिस करुणारत्ले

के साथ कल सिविल मैरेज कर ली है।"

' किसने कहा ?"

' आज लेडीज़ कक्ष में चर्चा का यही विषय रहा। कहते हैं कल दोपहर को सब-रजिस्ट्रार के दफ्तर में शादी हुई है।"

राज ने सोचा न था कि उसके जाने बिना ही यह सब होगा। वह सोच रहा था कि पत्नी की अनुमति पाये बिना ही भाई ने ऐसा क्यों किया। कात्यायनी 'देखिए' कहकर नागलक्ष्मी की ओर लपकी। यह जानकर कि पति की दूसरी शादी हो गई, नागलक्ष्मी चक्कर खाकर नीचे गिर पड़ी और बेहोश हो गई। राज दौड़कर ठंडा पानी लाया। कात्यायनी ने नागलक्ष्मी के सिर पर पानी छिड़का। राज पंखा झलने लगा। पाँच मिनट बीत गये, लेकिन उसे होश न आया। वह न तो पूरी बेहोशी की स्थिति में थी और न होश ही में। अर्धचेतना की स्थिति में नागलक्ष्मी लेटी थी। "मैं जाकर डॉक्टर को बुला लाता हूँ, तुम पंखा झलती रहो।" कहकर राज साइकिल लेकर चल दिया।

उसके जाने के पाँच मिनट बाद नागलक्ष्मी को होश आया। उसने उठने की कोशिश की तो कात्यायनी ने मना कर दिया और सिर के नीचे तकिये का सहारा लगा दिया। कात्यायनी का हाथ पकड़े वह चुपचाप लेटी रही।

दस मिनट में डॉक्टर आया। भाभी को होश में आया देखकर राज को तसल्ली हुई। "ऐसा क्यों हुआ बहन ?" डॉक्टर का प्रश्न था।

"मैं नहीं जानती।" नागलक्ष्मी बोली।

"एक इंजेक्शन देता हूँ।"

"नहीं डॉक्टर !"

आये हैं तो कुछ तो देना ही चाहिए। कुछ गोलियाँ देकर डॉक्टर चला गया।

"नागु, तुम तीन दिन से कुछ नहीं खा रही हो। तुम्हारी हालत क्या हुई जा रही है ? चलो उठो, अबखा लो।" राज ने समझाया।

"मैं नहीं खाती, तुम खा लो।" लेटी-ही-लेटी बोली।

कात्यायनी परिस्थिति भाँप गई। उसने राज को आँखों से संकेत

किया। वह उठकर बाहर चला गया। लगभग एक घण्टे तक कात्यायनी ने किसी तरह समझाकर नागलक्ष्मी को भोजन के लिए मना लिया। उसके 'राज को बुलाओ' कहने पर वह भी आ गया। वह दोनों को भीतर ले गई। कात्यायनी ने ही परोसा। दोनों में से किसी ने एक कौर से ज्यादा नहीं खाया।

शादी के बाद भी रत्ने के कार्यों में किसी तरह का परिवर्तन नहीं हुआ। डॉ० राव ने भी उससे स्वयं यह नहीं पूछा कि भविष्य में किस तरह रहना है। वह हर रोज सुबह नौ बजे पुस्तकालय में पहुँच जाती। शाम को सात बजे तक काम करती और उस दिन के शीघ्रलिपि में लिखे गये नोट लेकर होटल पहुँचती। डॉ० राव का टाइपराइटर उसी के पास है। वह रात के बारह बजे तक नोट टाइप करती। डॉ० राव ने द्वितीय खण्ड का लेखन-कार्य प्रारम्भ नहीं किया था। रत्ने के आने के बाद पढ़े हुए ग्रंथों के नोट भी उसी को लिखाने लगे। उन्हें भी शीघ्रलिपि में लिख, टाइप कर वह व्यवस्थित रख देती थी।

पति के घर आने पर नागलक्ष्मी भोजन परोसती, लेकिन उसने बात करना तो पूर्णतः छोड़ दिया था। राज भी साथ में भोजन के लिए बैठता था। पृथ्वी पिता से कभी खुलकर नहीं मिलता था। रात में अध्ययन के पश्चात् कमरे में जाकर नागलक्ष्मी और पृथ्वी के साथ सोना तो डॉ० राव ने छोड़ ही दिया।

एक दिन डॉ० राव ने रत्ने से कहा, "अब तुम्हें होटल में रहने की क्या आवश्यकता है? घर में आगे करेंगे। तुम भी वहीं आ जाओ।"

"एक बात मैं स्पष्ट कह देना चाहती हूँ, आप मुझे गलत न समझें।"

"कहो।"

"पौरात्य संप्रदाय में पत्नी के साथ रहने के लिए मान जायेंगी, लेकिन मेरा संस्कार भिन्न है। एक छाया के नीचे, एक पति के साथ दो पत्नियों का जीवन बिताना, मेरा संस्कार पसन्द नहीं करता। दूसरे घर में रहने से खर्च थोड़ा अधिक अवश्य होगा।"

"खर्च की दृष्टि से मैं यह नहीं कह रहा हूँ।"

"तो किसलिए ?"

"हम तीनों के मन की शांति की दृष्टि से।"

डॉ० राव का हाथ पकड़कर रत्ने ने कहा, "उसी दृष्टि से मैं विरोध करती हूँ। शांति के साथ रहना कठिन है। मैं अलग रहूँगी। मैं अपना खाना आप पकाऊँगी। आप उन्हीं के साथ भोजन कीजिए। रात को वहीं सोइए, मैं 'ना' नहीं कहती। मुझे कोई एतराज नहीं। हम दोनों के एक होने का उद्देश्य ही अलग है। है न ?"

डॉ० राव उसका मुख निहारने लगे। उसकी आँखें इच्छा-शक्ति से चमक रही थीं। "यह सब कहने की क्या आवश्यकता है ?" और रत्ने के हाथों को धीरे से दबाया।

एक सप्ताह में सरस्वतीपुर में मनपसंद घर मिल गया। किस्मत से रत्ने को एक विश्वसनीय नौकरानी भी मिल गई। उसने डॉ० राव से अपने साथ रहने के लिए नहीं कहा। वे कुछ दिन पत्नी-बच्चे के साथ ही रहे। लेकिन पति-पत्नी के बीच बातचीत बंद थी। राज ने प्रयत्न भी किया कि नागलक्ष्मी अपने पति से बोले, लेकिन वह विफल रहा। रसोईघर में अपना बिस्तर बिछाकर वह पृथ्वी को लेकर सो जाती। एक-दो महीने इसी तरह बीत गये। एक दिन डॉ० राव अपने सारे ग्रंथ एक गाड़ी में लदवाकर रत्ने के घर ले गये। उस समय राज घर पर नहीं था। नागलक्ष्मी चुपचाप पूर्ण उपेक्षा से रसोईघर में ही रही, मानों उसे कुछ मालूम ही न हो।

डॉ० राव के स्थान-परिवर्तन कर लेने पर रत्ने ने कहा, "यह सत्य है कि इससे हमारे अध्ययन में सुविधा होगी; लेकिन मैं कभी यह नहीं कहूँगी कि आप यहीं रहें।"

"उस बात को जाने दो।" डॉ० राव ने कह दिया कि उस विषय पर वे कुछ भी कहना नहीं चाहते।

दूसरे दिन भाई को ढूंढ़ता हुआ राज पुस्तकालय पहुँचा। इससे पहले वह स्वयं कभी वहाँ नहीं गया था। रत्ने समझ गई कि कल की घटना से संबंधित होगा। उसने राज का स्वागत किया। पाँच मिनट बात की, और बाहर निकल गई।

"मैं तुम्हें बुला भेजनेवाला था। बिना बोले कब तक रहा जायेगा! इसके अतिरिक्त यहीं रहने से मेरे अध्ययन में अधिक सुविधा होगी। वहाँ रहने के बारे में रत्ने की कोई अपेक्षा नहीं है। नागु से कहना कि जिस दिन उसका मन शांत हो जाय उस दिन मुझे बुला भेजे। मैं घर आता रहूँगा।"

"उसे बड़ा दुःख है।"

"मैं समझता हूँ।"

"उसके बुलाने की प्रतीक्षा मत कीजिए। आप स्वयं आते रहिए। थोड़े ही दिनों में सब ठीक हो जायेगा।"

"अच्छा!" डॉ० राव ने स्वीकार किया। थोड़ी देर सोचकर फिर कहा, "देखो, इस समय मुझे तुमसे दूना वेतन मिलता है। पुस्तक की रायल्टी भी मिलती है। नागु और पृथ्वी की ओर शुरू से तुम्हीं ने ध्यान दिया है। मैं वहाँ आता रहूँ तो भी जिम्मेदारी तुम्हारी ही है। हर महीने मेरे वेतन के दिन यहाँ आना। खर्चे के लिए थोड़े रुपये दूँगा।"

"उसकी जरूरत नहीं।" राज ने खिन्न होकर कहा, "नागु के खाने का पैसा आप दें! हमारी माँ जिंदा होती तो क्या बड़े बेटे से पैसा लेकर छोटे बेटे के घर खाना खाती? खर्चे के लिए पैसे कम पड़े तो मैं स्वयं आकर कहूँगा। आपको बार-बार शोधकार्य के लिए बाहर जाना पड़ता है, ग्रंथ खरीदने के लिए भी पैसों की जरूरत पड़ती है। पैसों की चिंता न करें।"

राज जाने लगा तो डॉ० राव ने कहा, "यहाँ आकर हमारी भी खबर लेते रहना!"

"अच्छा!" कहकर राज चला गया।

आठ दिन रत्ने ने खाना पकाया। लेकिन वह डॉ० राव को नहीं भाया। इसके अलावा, वे यह नहीं चाहते थे कि वह रसोईघर में समय बर्बाद करे। इसलिए एक नौकर रख लिया और दोनों अपनी उद्देश्य-साधना में रत हो गये।

१२

नवरात्रि की छुट्टियाँ समाप्त हुईं। बड़े दिनों की छुट्टियाँ भी बीत गईं। राज और कात्यायनी रोज कालेज में मिलते। नाटक संघ के कमरे में बैठे दोनों बातें करते। कात्यायनी राज के घर भी हो आती आजकल नागलक्ष्मी किसी से भी नहीं बोलती। खाना पकाकर राज और पृथ्वी को परोसती और चुपचाप रसोईघर के एक कोने में सिमटकर बैठ जाती। राज उसके पास बैठकर, दस बार बात करता तो उत्तर एक ही बार मिलता। पहले भी पृथ्वी पिता के पास नहीं जाता था। उसमें अब भी कोई परिवर्तन दिखाई नहीं पड़ा। वह इतना ही समझ सका कि उसकी माँ पहले पलंग पर सोती थी, आजकल रसोईघर के फर्श पर सोती है। वह पाँच साल पार कर, पड़ोस के बच्चों के साथ स्कूल जाता था। चाचा बाजार जाते तो उसे भी साइकिल पर बैठा ले जाते।

एक दिन राज ने नागलक्ष्मी से पूछा, "नागु इस साल मैं शादी कर लूँ ?"

देवर के मुख से यह सुनकर उसने तुरन्त प्रश्न किया, "मुझसे पूछ रहे हो ?"

"लड़की कौन है, जानती हो ?"

"कात्यायनी !"

"तुम कैसे जानती हो ?" उसने आश्चर्य से पूछा।

"ऐसी बातें स्त्रियों की समझ में जल्दी आ जाती हैं। वह जब घर आती है और तुम दोनों कमरे में बैठकर देर तक बातें करते रहते हो, इससे कोई भी समझ सकता है।"

"तुमने तो कभी नहीं बताया कि तुम जानती हो !"

"तुमने क्यों नहीं बताया कि मैं उससे शादी करने जा रहा हूँ ?"

राज गर्भ में गड गया। नागलक्ष्मी बोली, "उसका भी एक बच्चा है। उसे छोडकर वह कैसे रह सकेगी ?"

"उसे भी ले आयेगी। तुम्हें यह शादी पसन्द है ?"

"मेरी पसन्द की बात क्यों पूछ रहे हो ? सामाजिक रूढ़ियों, धर्म-कर्म के विरुद्ध चलें तो भविष्य में सबका कल्याण कैसे होगा ?"

धर्म-कर्म संबंधी अपने विचार उसने कई बार नागलक्ष्मी को बताये थे। अब पुनः उस सम्बन्ध में भाषण देने लगा, "जो मुझे पसन्द नहीं है, ऐसी किसी लड़की से शादी करके मैं उसके साथ जीवन कैसे बिता सकूँगा ! इसलिए मुझे लगता है कि कात्यायनी ही मेरे लिए उपयुक्त लड़की है। तुम भी इसे पसन्द करोगी न ?"

नागलक्ष्मी को अपना जीवन स्मरण हो आया। अब जीवन को वह निर्लिप्त भाव से देखने की कोशिश कर रही थी। उसने कहा, "तुम ठीक कह रहे हो। वैसा ही होने दो।"

उस दिन दोपहर को कात्यायनी ने आकर कहा, "आप मुझे अपना बना लीजिए।"

नागलक्ष्मी मन-ही-मन कह उठी, "तुम दोनों का कल्याण हो।"

मार्च के तीसरे सप्ताह में कात्यायनी की परीक्षा थी। फरवरी के अन्त में एक दिन राज ने कात्यायनी से कहा, "अब देर नहीं करनी चाहिए। अपने घर से अनुमति ले ला तो हम शादी कर लें। तुम्हें अब कालेज में मिलने वाली लड़की की तरह नहीं रहना चाहिए।"

इसके लिए कात्यायनी भी उत्कंठित थी। घर का सारा विषय बताकर, सास-ससुर की अनुमति लेकर, अपने भावी पति के घर जाने की आतुरता गत तीन महीनों से थी। लेकिन घर में कहे तो कैसे ? वह जानती थी कि उसके इस निर्णय से श्रोत्रिय-परिवार पर वज्रपात-सा होगा। वह अच्छी तरह से जानती थी कि उस परिवार का स्तर, मान-सम्मान, सामाजिक प्रतिष्ठा और परम्परा से प्राप्त उनका विश्वास आदि उसके इस निर्णय से चूर-चूर हो जायेंगे। अब भी वह उसका घर था। पांच साल पहले इस घर की देहली पर चावल से भरे पात्र को बायें पैर से ठोकर मारकर सम्पत्ति का ज्वार आने का संकेत देकर वह उस घर में प्रविष्ट हुई थी। श्रोत्रिय-परिवार के वंश-वृक्ष में उसका

नाम अमिट रूप में लिख गया था। उसे मिटाने के लिए वह तैयार थी, लेकिन वह यह जानती थी कि उस स्वच्छ, विशाल पथ का वह स्थल कलंकपूर्ण दिखाई देगा। और उन सास-ससुर का क्या होगा, जो पुत्र के स्वर्गवास के पश्चात् वंश-वृद्धि के लिए अपने पौत्र का मुंह जोहते जी रहे हैं ?

ये विचार उसके मन में पहले भी उठे थे। जब पहली बार दिल खोलकर उसने राज से बात की थी, उसी दिन यह विचार मन में चक्कर काट रहा था। लेकिन उसके अतृप्त सांसारिक जीवन ने इन विचारों को दबाकर उसे पूर्णतः घेर लिया था। सास-ससुर को अपना निर्णय बताने का दिन आया तो वह विचलित हो गई। राज हर रोज प्रश्न करता, "घर में पूछा ?" और एक दिन क्रोध में कह बैठा, "अगर इतना साहस नहीं था तो मेरे साथ इतनी दूर क्यों चली आईं?" कात्यायनी के मन में यह विचार भी आया कि बिना बताये एक दिन बेटे को लेकर मैसूर चली जाये और पत्र द्वारा अपना निर्णय सास-ससुर को बता दे। लेकिन वह यह सोचकर चुप रह गयी कि यह नीच कार्य होगा। उस पर ससुर का जो विश्वास था, उसे निम्न तरीके से कलंकित करने के लिए उसका मन तैयार न था।

मार्च का पहला सप्ताह बीत गया। अब पन्द्रह दिनों तक कालेज की छुट्टी के कारण, परीक्षा प्रारम्भ होने तक, कात्यायनी मैसूर नहीं जा सकती थी। उस दिन राज ने स्पष्ट कह दिया, "अगर तुम घर में नहीं बताओगी तो मैं पत्र लिखकर बता दूंगा। तुम्हें आज नंजनगुडू जाना ही नहीं चाहिए।"

"आज रात अवश्य कहूंगी। कल क्लास नहीं है, फिर भी मैं आऊंगी। आप भी आइए। नतीजा बता दूंगी।"—यह आश्वासन देकर कात्यायनी शाम की गाड़ी से लौटी। रास्ते-भर वह यही सोचती रही कि पूछूं कैसे। बात प्रारम्भ कैसे की जाय। आखिर कुछ भी न सूझा। ट्रेन नंजनगुडू स्टेशन पर पहुंची तो उसके दिल की धड़कन बढ़ चली। अनजान, अव्यक्त भय से वह कांप रही थी। शरीर पसीने से लथपथ था। चाल असन्तुलित हो गयी थी। किसी तरह वह घर पहुंची।

"क्यों बेटी, इतना पसीना कैसा ? चैत्र मास आ रहा है, कड़ी धूप

है, बाहर पैर रखना भी कठिन है। सरकार शीघ्र ही परीक्षा समाप्त क्यों नहीं कर देती ?" श्रोत्रियजी ने पूछा।

ससुर को बिना उत्तर दिये वह मँजले पर चली गयी। पुस्तकें अलमारी में रखकर नीचे उतरी। हाथ-पैर धोये, कपड़े बदले। चीनी ने पास आकर पूछा, "माँ, इतनी देर क्यों हुई ?" बेटे को अंक में भर लिया। रात के भोजन तक किसी से नहीं बोली। मँजले पर अकेली विचार मग्न बैठी रही। अपनी सारी इच्छा-शक्ति को बटोरा और निश्चय किया कि भोजन के पश्चात् ससुर से बात करनी ही है। भोजन के बाद श्रोत्रियजी दीवानखाने में थे। लेकिन बोलने का साहस नहीं कर सकी। नीचे उतरने के लिए जब उठी, तो पैर इतने अशक्त लगे मानो लुढ़क ही जायेगी। वह वैसे ही बैठ गयी। नीचे सब सो गये थे। ग्यारह बजे के करीब उसे एक बात सूझी, "मुझे जो कुछ भी कहना है, पत्र में लिख दूँ। कल उसे ससुर को सौंपकर मैसूर चली जाऊँगी। शाम को लौटूँगी तो वे स्वयं ही बात छेड़ेंगे। तब बात करना सरल होगा।"

हाथ में कागज-पेंसिल लेकर सोचने लगी कि क्या लिखूँ। लेकिन कुछ नहीं सूझा। पाँच मिनट बाद वह लिखने लगी। सुबह के लगभग तीन बजे तक लिखती रही। पूरे चौदह पन्ने, अपने विचारों से भर दिये। उसने लिखा था कि मनुष्य के मूल स्वभाव को कुचलकर समाज में किस तरह कृत्रिम रीति-रिवाज और रूढ़ियाँ फैलती हैं। इसका भी विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया कि स्त्री-पुरुष के सहज सुखमय जीवन के लिए समाज के आचार-विचार किस तरह बाधक बनते हैं। धर्म के मूल प्रश्न को उठाकर जिज्ञासा व्यक्त की और अन्त में लिखा :

"मेरा नम्र निवेदन है कि आप समाज के अंध-विश्वास के परदे को उठाकर इसे मानवीय दृष्टि से देखें। मेरी जगह अगर आपकी अपनी बेटी ऐसा कदम उठाती तो उसके प्रति जो सहानुभूति आप दिखाते, मैं उसी की अपेक्षा करती हूँ। मैंने आपके विश्वास के प्रति कभी द्रोह नहीं किया। आपकी अनुमति लेकर, आपका पवित्र आशीर्वाद पाकर ही अपने नये जीवन का प्रारम्भ करने जा रही हूँ। आपको सारी बातें कह सुनाना कठिन है, अतः पत्र लिखना पड़ा। आपके चरणों में मस्तक

नवाकर प्रार्थना करती हूँ कि जब मैं शाम को लौटूं तो मुझे आशीर्वाद दें।"

लिखे कागजों में वह पिन लगाने लगी तो वह बाँकी हो गयी। तब छेद करके उन्हें धागे से बाँध दिया और एक बड़े लिफाफे में बंद कर सो गयी। एक तरह से तसल्ली मिली और उसे नींद आ गयी। आँख खुली तो सुबह के साढ़े सात बजे थे। जल्दी-जल्दी स्नान किया। भोजन के पश्चात् टिफिन और पुस्तकें उठाईं। लिफाफा उठाने लगी तो हाथ काँपने लगा। फिर भी मनोबल दृढ़ कर नीचे उतरी। भगवान् की पूजा कर, श्रोत्रियजी बाहर निकल ही रहे थे कि कात्यायनी ने आवेश के साथ उनके चरणों को स्पर्श किया।

"आज क्या विशेष बात है बेटी? परीक्षा के अभी पन्द्रह दिन बाकी हैं।"

'कोई विशेष बात नहीं, इस पत्र को देख लीजिए।"—कहकर लिफाफेको उनके हाथ में थमाकर फुर्ती से घर से निकल पड़ी। विस्मित होकर श्रोत्रियजी कुछ देर उसे देखते रहे। बाद में लिफाफे की याद आई।

घर से निकलने पर कात्यायनी उद्विग्न थी। किसी तरह ट्रेन में चढ़ी। चामराजपुर में राज दिखाई पड़ा। वह भी भावोद्विग्न था। बातें करते हुए दोनों घर की ओर चल पड़े। पत्र के बारे में बताकर कात्यायनी बोली, "मैं कल उत्तर दे दूंगी।" राज ने कहा, "अब तुम्हारा आ जाना ही मेरे लिए अन्तिम उत्तर है।"

शाम को घर लौटते समय कात्यायनी संकोचवश दबी जा रही थी। घर पहुँचते ही ससुरजी क्या पूछेंगे, मैं क्या उत्तर दूंगी; अनेक कल्पित प्रश्न उसके मस्तिष्क में उठ रहे थे। एक अव्यक्त भय भी था। फिर भी आज उसके धीरज, इच्छा-शक्ति की परीक्षा का दिन था। अपना समस्त साहस बटोरकर घर में प्रवेश किया। श्रोत्रियजी एक किसान से बातें कर रहे थे। वह मँजले पर चली गई। रोज की भाँति सास के पास जाने की आज हिम्मत नहीं हुई। वह जानती है कि श्वसुर किसी भी हालत में नाराज नहीं होते। लेकिन सास की बात अलग है। स्वभाव

से शांत होते हुए भी उन्हें क्रोध आ जाता है। कभी-कभी अपने पति पर भी बिगड़ उठती हैं। कात्यायनी की कल्पना थी कि श्रोत्रियजी ने पत्र की सारी बातें पत्नी से कही होंगी, घर में बड़ी उथल-पुथल मचेगी। कात्यायनी ने इसके लिए मानसिक तैयारी कर रखी थी। लेकिन सास को पता ही न लगा कि वह लौट आई है। वे रसोईघर में चीनी से बातें कर रही थीं। कात्यायनी नीचे नहीं उतरी।

साढ़े आठ बजे, पूजाकर श्रोत्रियजी ने उसे खाने के लिए पुकारा। साहसपूर्वक वह नीचे उतरी। श्रोत्रियजी और चीनी खाने के लिए साथ बैठे। भागीरतम्मा परोस रही थी। कात्यायनी चर्चा की प्रतीक्षा में थी, लेकिन वातावरण बिलकुल खामोश था। श्रोत्रियजी सिर झुकाये चुपचाप भोजन करते रहे। चीनी को दादी लाड़-प्यार से परोस रही थी। खाने के पश्चात् कात्यायनी ऊपर चली गई। उसे सीढ़ियाँ चढ़ते श्रोत्रियजी ने देखा, लेकिन वे कुछ न बोले। यह मौन कात्यायनी को असह्य लगा। असम्मति की प्रतीक्षा में वह वाद-विवाद के लिए भी तैयार थी। लेकिन यह मौन— शायद उपेक्षा-रूपी मौन—उसकी सहन-शीलता के लिए अपरिमित था। बेचैनी से वह छटपटाती रही। अंत में साहस कर नीचे आई। श्रोत्रियजी दीवानखाने में बैठे थे। उनके हाथ में कुछ पत्र थे। लगता था किसी विचार में डूबे हुए और कहीं देख रहे हैं। कात्यायनी ने पास जाकर पूछा, "पिताजी, जरा ऊपर आ सकेंगे?"

"आता हूँ, चलो।"

वह ऊपर गई। दो मिनट बाद श्रोत्रियजी ऊपर आये और अपने कमरे में प्रवेश करते हुए कात्यायनी को बुलाया। उसके प्रवेश करने से पहले वे खिड़की के पास बिछे व्याघ्र-चर्म पर बैठ गये। वह खम्भे के पास खड़ी हो गई। ससुर ने "आओ, पास बैठो" कहा तो कुछ निकट सरक कर चादर पर बैठ गई। कुछ समय तक दोनों कुछ नहीं बोले।

पाँच मिनट बाद नीरवता भंग करते हुए कात्यायनी ने पूछा, "आपने पत्र पढ़ लिया होगा?"

"हाँ!"

"अनुमति दीजिए।"

एक मिनट मौन रहकर, अपने शांत सामान्य स्वर में श्रोत्रियजी ने

कहा, "मेरी अनुमति लेने का प्रश्न ही नहीं है। अपनी बुद्धि के अनुसार निर्णय करने की तुम्हें स्वतंत्रता है।"

श्रोत्रियजी की बात में भर्त्सना नहीं थी। अत्यंत शांत स्वर में ही उन्होंने यह कहा था। फिर भी कात्यायनी को खटका। "आप ऐसा कहेंगे, तो फिर क्या होगा ? आप घर के प्रमुख हैं। आपकी अनुमति के बिना मैं कुछ नहीं कर सकती।"

"तुम अब भी मान रही हो कि मैं घर का प्रमुख हूं ? तुम भी इस परिवार की एक सदस्या हो। जब तक तुम्हारे मन में यह भाव रहेगा, तब तक तुम्हारे कामकाज पर मेरा अधिकार रहना स्वाभाविक है। लेकिन जिस क्षण तुम्हारे मन में अलग मार्ग पर चलने का विचार उठा, उस क्षण से वह अधिकार मैं खो बैठा। ठीक है न?"

कात्यायनी न जाने किन-किन तर्कों के लिए तैयार होकर आई थी। अपने निश्चय के औचित्य को सिद्ध करने के लिए सैकड़ों तर्क उसके मस्तिष्क में घूम रहे थे। लेकिन वह सब भूल गई। उसका मस्तिष्क शून्य में भटकता रहा। फिर भी उसने कहा, "इस समाज में अगर स्त्री के जीवन में कोई दुर्घटना घटी तो उसे पुनः सुधारने की संभावना नहीं है। विधुर पुरुष दस बार विवाह कर ले तो कोई आपत्ति नहीं। स्त्री के अंतःकरण को समझने की सहानुभूति का प्रारम्भ से ही अभाव है। और..."

उसे बीच ही में टोकते हुए श्रोत्रियजी ने कहा, "अब समाज या दुनिया के व्यवहार की चर्चा नहीं करनी है। यह तुम अकेली का प्रश्न है। तुम्हारे निर्णय में मैं बाधक नहीं बना, और न बनूंगा। अपनी इच्छानुसार चलने की तुम्हें स्वतंत्रता है। लेकिन हमारा निर्णय, संकल्प आदि हमारे अपने-अपने धर्म, जिम्मेदारी आदि के अनुसार होना चाहिए न ?"

"क्या योग्य समय पर विवाहित होना मानव का सहज धर्म नहीं है ?"

"जिसे सहज धर्म कहते हैं, वह धर्म ही नहीं है।" इस स्थिति में भी वे हँसकर बोले, "विवाहित जीवन का सुख पाना ही जीवन का परम लक्ष्य नहीं है। गृहस्थ जीवन है वंशोत्पत्ति के लिए। वंश बढ़ जाने पर

अगर अचानक घर मिट जाय तो फिर उसी में लौटना धर्म नहीं।"

कात्यायनी समझ न पाई कि आगे क्या बोले। श्रोत्रियजी भी मौन रहे। दस मिनट दोनों मूकवत् बैठे रहे। फिर श्रोत्रियजी बोले, "वाद-विवाद से ऐसे विषयों का निपटारा नहीं किया जा सकता। व्यक्तिगत सुख के लिए संकुचित विचारों से ऊपर उठकर देखने पर ही धर्माधर्म स्पष्ट गोचर होते हैं। तुमने कहा कि पुरुष की दस शादियाँ भी हो सकती हैं। मैंने अभी-अभी कहा कि दुनिया की बात नहीं करती। कुछ साल पहले मेरे जीवन में भी शादी की बात आई थी। मैंने मार्ग में ही धर्म को अपनाया। नहीं, कहना तो यह चाहिए कि धर्म ने पथ दिखाकर मेरी रक्षा की। जो व्यक्ति अपने-आपको धर्म के हाथों सौंप देता है, उसे धर्म सदा हाथ पकड़कर चलाता है। शायद तुम्हारे पति ने इस बारे में कहा होगा। नहीं तो, अब भी नीचे जाकर तुम अपनी सास या लक्ष्मी से पूछ लो। अब बहुत देर हो गई है, सो जाओ।"

श्रोत्रियजी उठे। कमरे के द्वार पर रुककर बोले, "इस विषय में पूर्ण आजादी है तुम्हें। मुझे भी विश्वास है कि व्यक्ति पर बाह्य जगत द्वारा जबर्दस्ती लादी जाने वाली रूढ़ियाँ धर्म का पूर्ण रूप नहीं हैं।

वे धीरे-धीरे सीढ़ियाँ उतरकर, सोने के लिए दीवानखाने में चले गये। कात्यायनी को याद आया कि उसने आज साम, ससुर, चीनी, किसी का बिस्तर नहीं लगाया तो उसे दु:ख हुआ। वह उठकर अपने सोने के कमरे में गई। उसकी शक्ति शिथिल हो गई थी। उसे लगा मानो प्रचण्ड रूप में उमड़ती हुई उसकी सहज-चेतना अब सूख गई है। कोसों उड़कर थकने पर पंख सिकोड़कर जिस तरह पक्षी एक किनारे जा बैठता है, उसी तरह कात्यायनी अपने बिस्तर पर सिमटकर पड़ गई।

कात्यायनी का पति नंजुंड श्रोत्रिय अपने पिता के बारे में अभिमान से बोलता था। श्रीनिवास श्रोत्रिय के जीवन में भी ऐसी ही एक कठिन समस्या उठ खड़ी हुई थी। धर्म-पथ पर चलकर, परीक्षा में सफल होकर वे आगे बढ़े थे। धीरे-धीरे वे सारी बातें विस्तारपूर्वक कात्यायनी को याद आने लगीं।

१३

श्रीनिवास श्रोत्रिय की माँ का जब स्वर्गवास हुआ तो वे पन्द्रह साल के थे। वे अपने माता-पिता के इकलौते पुत्र थे और मैसूर की संस्कृत शाला में पढ़ते थे। मृत्यु के समय माँ लगभग पचास वर्ष की थी। पचपन वर्ष के वृद्ध पिता ने पुत्र को मैसूर से बुला लिया और फिर स्कूल नहीं भेजा। घर में पिता-पुत्र ही थे। घर के पीछे एक कुटिया थी, जिसमें उन्हीं के भरोसे जीने वाला घर का नौकर माचा अपनी बेटी लक्ष्मी के साथ रहता था। बेटी को जन्म देकर पत्नी के मरने के बाद माचा ने दूसरी शादी नहीं की। तीन साल की बच्ची को अपने संबंधियों के घर छोड़ दिया और जब वह बड़ी हो गई तब अपने पास ले आया। मालिक के घर में बाप-बेटी दोनों काम करते, खाते-पीते और वहीं रहते। छोटी उम्र से ही लक्ष्मी उस घर का काम करने लगी थी।

पत्नी की मृत्यु के बाद, घर में और कोई स्त्री न होने के कारण वृद्ध नंजुंड श्रोत्रियजी को भोजन बनाना पड़ता था। पुत्र श्रीनिवास भी मदद करता। पिछवाड़े की कुटिया में माचा अपने एवं बेटी के लिए अलग बनाता था। अब लक्ष्मी दस साल की थी। श्रीनिवास से पाँच साल छोटी। नंजुंड श्रोत्रिय रोज रसोई करते-करते ऊब गये थे। पुत्र का मन पढ़ाई में ही रमा हुआ था। मैसूर की पढ़ाई रुक जाने पर भी वह यंकप्पा शास्त्री के घर जाकर न्याय, वैशेषिक आदि दर्शन सीखता था। अपनी छह वर्ष की उम्र में ही श्रीनिवास को अमर-कोश कण्ठस्थ हो गया था। उसने मैसूर में संस्कृत साहित्य, रामायण, महाभारत आदि का अध्ययन किया था। संस्कृत ही उस शाला में

पढ़ाई का माध्यम थी। अतः भाषा-सौंदर्य के प्रति अधिक रुचि के कारण वह उसमें प्रभुत्व पाने का प्रयत्न करता था।

पुत्र की विद्या-पिपासा में पिता बाधक नहीं बने। फिर भी विद्या के लिए धन खर्च करने को नंजुड तैयार न थे। अब श्रीनिवास श्रोत्रिय जितनी जायदाद का मालिक है, उस समय भी उतनी थी। पूजागृह और रसोईघर के बीच वाले कमरे में गड्ढा खोदकर एक बड़े पात्र में चाँदी के रुपये एवं सोना-चाँदी गाड़ रखी थी। नंजुड श्रोत्रिय रोज उस पर बिस्तर बिछाकर सोते। पिता की कंजूसी और पुत्र की ज्ञान-पिपासा को यंकप्पा शास्त्री जानते थे। अत. बिना किसी प्रतिफल की अपेक्षा किये ही वे श्रीनिवास को पढ़ाते थे। लेकिन अध्ययन के लिए आवश्यक ग्रंथ लेने की शक्ति उनमें न थी। इस प्रकार श्रीनिवास का अध्ययन लड़खड़ाता हुआ चल रहा था।

रोज भोजन बनाने से छुटकारा पाने के लिए, पत्नी की मृत्यु की वार्षिक तिथि होते ही, नंजुड श्रोत्रिय ने पुत्र का विवाह करना चाहा। यद्यपि यह सर्वविदित था कि वे बड़े ही कंजूस हैं, हर कौड़ी को धोकर भगवान् के डिब्बे में डालते हैं फिर भी उनकी स्थिति देखकर लड़की देने के लिए लोगों में होड़ लग गयी। श्रीनिवास सुन्दर था। पिता की तरह काला कुबड़ा-सा शरीर नहीं था। गौर वर्ण, हँस-मुख, भरा-पूरा शरीर, बड़ी-बड़ी चमकीली आँखें, चौड़ा ललाट, दोनों कानों में वजनदार लाल पत्थर जड़ी बालियाँ पहनता था। इस लड़के को दामाद बनाने के लिए नंजनगूड़ के भी कई लोग आगे आये, लेकिन उसी गाँव की लड़की लेना श्रोत्रियजी को पसन्द न था। दूर प्रदेश हासन की एक कन्या से शादी तय की। लड़की अच्छे घराने की थी। साथ ही, वर-वधू की जन्म-कुंडलियाँ जैसी मिलीं वैसी बिरली ही मिलती हैं! शादी से पहले, उस जमाने में वर द्वारा कन्या को देखने की पद्धति न थी। लड़की छोटी उम्र की थी, लेकिन श्रोत्रियजी ने यह सोचकर उसे पसंद किया कि रोज रसोई के काम से तो छुटकारा मिलेगा ही। ग्यारह साल की भागीरतम्मा काली होते हुए भी सुलक्षणा थी। लेकिन कद की दृष्टि से बहुत छोटी थी। शादी के दिन कुछ लोगों ने इस पर व्यंग्य भी कसा था। वरोपचार के रूप में एक चाँदी का रुपया, ताँबे का पंच-

पात्र, धोती, चप्पल, छाता आदि देकर लड़की के पिता ने सुचारु रूप से आठ दिन की शादी की।

बहू के हाथों पकाया भोजन श्रोत्रियजी के भाग्य में न था। शादी के छह महीने बाद ही वे पेचिश से चल बसे। कुछ लोगों ने कहा, शायद बहू का नक्षत्र ससुर से नहीं मिला। मरने से पहले उन्होंने पुत्र को पास बुलाकर जमीन में छिपा हुआ धन बताया। पिता के श्राद्ध के पश्चात् एक रात जब उस स्थान को खोदा गया तो चांदी के छह हजार सिक्कों के अलावा सोना-चांदी इतनी कि श्रीनिवास अकेला न उठा सका। वह जानता था कि गहनों में अधिकांश तो उन लोगों के गिरवी रखे हुए हैं जो छुड़ाने में असमर्थ थे। यह सारी सम्पत्ति और घर का सारा अधिकार अपने हाथ में आते ही पूरे घर का स्वरूप ही बदल गया। वे विद्या-गुरु यंकप्पा शास्त्री की बेटी की शादी में एक हजार रुपये देकर गुरु-ऋण से मुक्त हुए। गुरु के बताये ग्रंथों में से उपलब्ध ग्रंथों को खरीदा और इनसे मँजले का अध्ययन-कक्ष सजाया।

नौकर माचा की बेटी लक्ष्मी तब बारह साल की थी। माचा ऊँचा-पूरा आदमी था। कहते हैं पहले उसने नीलगिरि के चाय-बगान में काम करते हुए एक सुन्दर विधवा बाला से प्यार किया और उसे भगाकर ले आया। नंजुंड श्रोत्रिय ने दम्पति को आश्रय दिया था। उन्हें भी अपनी जायदाद और धन-सम्पत्ति की रखवाली के लिए माचा-जैसे हृष्ट-पुष्ट एवं विश्वस्त व्यक्ति की आवश्यकता थी। लक्ष्मी ने अपनी माँ का गौर-वर्ण और सुन्दरता, हँसमुख स्वभाव और पिता का-सा कद पाया था। लोग कहते थे माचा की पत्नी पति से दो वर्ष छोटी थी। लेकिन रूप ने उसकी उम्र को ढँक दिया था। चार साल पति के साथ रहकर वह लक्ष्मी को जन्म देकर चल बसी। बारह वर्ष की अवस्था में ही लक्ष्मी इतनी सुन्दर थी कि जिसे चाहे, आकर्षित कर सकती थी। बचपन से ही साथ पले श्रीनिवास को वह शीनप्प कहकर पुकारती। इसी घर में पली होने के कारण वह शुद्ध भाषा बोलती। शादी के दिन अपनी पत्नी को देखकर श्रीनिवास ने एक बार सोचा था—'काश, यह लक्ष्मी ही मेरी पत्नी होती !'

लक्ष्मी के रूपवती होते हुए भी उसकी शादी के लिए उसके पिता

के पास पैसे नहीं थे। कुछ लोगों ने लक्ष्मी का हाथ माँगा भी, लेकिन उनकी हालत अच्छी नहीं थी। एक दिन श्रीनिवास श्रोत्रिय ने माचा से कहा, "किसी अच्छे घराने का योग्य लड़का ढूँढकर शादी कर दो। मैं एक हजार रुपये दूँगा।" माचा ने दौड़-धूप शुरू की और मद्रास के सीमा-प्रदेश कोडियल के एक युवक को चुना। लक्ष्मी की शादी धूम-धाम से की।

एक साल बाद, बड़ी होकर भागीरतम्मा के आने पर श्रीनिवास का घर फिर से सज गया। पत्नी के आने के बाद भी उनका अध्ययन जारी रहा। बार-बार मैसूर जाते और उपलब्ध ग्रंथ खरीद लाते थे। जब कभी कोई विषय समझ में न आता, तब वे संस्कृत के विद्वानों से पूछ लिया करते थे। वेंकण्णा शास्त्री ने हर्षपूर्वक उन सब विषयों को शिष्य को समझाया जो वे जानते थे। श्रीनिवास श्रोत्रिय का जीवन जब सुख से बीत रहा था तो एक दिन नंजनगुडू में प्लेग फैल गया। मृतकों में माचा भी एक था। लक्ष्मी को बुलाया, लेकिन उसके आने से पहले ही माचा के प्राण-पखेरू उड़ चुके थे। वह शव संस्कार के दूसरे दिन आई। वह वापस जाने लगी तो श्रोत्रियजी ने उसे सान्त्वना दी और सौ रुपये हाथ में रखते हुए कहा, "माचा का श्राद्ध अपने गाँव में ही करा दे। यहाँ भी आती रहा कर। तू भी इसी घर की लड़की है।"

शीनप्प का औदार्य देखकर लक्ष्मी अवाक् रह गयी। उनके चरण छूकर वह चली गयी।

श्रोत्रियजी का अध्ययन चलता ही रहा। नये दाम्पत्य के नये दिन उत्साहपूर्ण थे। तीन वर्ष बीत गये, लेकिन भागीरतम्मा गर्भवती नहीं हुई। इन दिनों श्रोत्रियजी ने धर्मशास्त्र, वेद, उपनिषद्, दर्शन आदि विषयों का काफी ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वे रोज रामायण का पारायण करते थे। ये ग्रंथ श्रोत्रियजी के जीवन पर गहरा व अमिट प्रभाव डालते थे। मानव-जीवन का लक्ष्य क्या है? गृहस्थाश्रम से क्या तात्पर्य है? गृहस्थ के क्या कर्त्तव्य हैं आदि विषयों पर वे विस्तारपूर्वक चिंतन-मनन करते थे। विवाह के तीन साल बाद भी संतान न होने से वे व्याकुल थे। उनका विश्वास था कि वंश वृद्धि के लिए संतान प्राप्ति ही विवाह का प्रथम उद्देश्य है। लेकिन अब भी समय था।

एक दिन शाम के छह बजे लक्ष्मी घर आई। आते ही श्रीनप्प के पैर पकड़कर जोर-जोर से रोने लगी। अनेक तरह से समझाकर, उन्होंने बात बताने को कहा। बात यह थी कि माचा धोखा खा गया था। लक्ष्मी का पति जुआरी था। हमेशा अंगुली में सोने की अँगूठी और गले में 'चेन' पहने लड़के को सुन्दर एवं योग्य समझकर माचा ने लड़की दी थी। बीस दिन पहले जुए में उसने दूसरों के सारे पैसे जीत लिये थे। रात के दो बजे हारे हुए लोग उसका खून करके भाग गये। अब तीन दिन पहले वे खूनी, पुलिस के हाथ लगे। असहाय लक्ष्मी ने यहाँ आकर आश्रय माँगा।

श्रोत्रियजी ने "सब मानव के कर्मानुसार होता है। तू चिंता न कर लक्ष्मी। तुझे इस घर में खाना नहीं मिलेगा क्या," आदि सान्त्वना के शब्द कहे। भागीरतम्मा को भी लक्ष्मी का सहयोग अपेक्षित था। इसके पश्चात् इस हत्या के मामले में पूछताछ के सिलसिले में लक्ष्मी को दो-तीन बार मैसूर कार्ट में जाना पड़ा। उसे श्रोत्रियजी ही लिवा ले गये थे। अपराधियों को आजीवन सजा मिली।

और दो साल बीत गये। भागीरतम्मा गर्भवती नहीं हुई। श्रोत्रियजी अब चौबीस वर्ष के थे और भागीरतम्मा उन्नीस की। श्रोत्रियजी चिंतित हो उठे। रामायण-महाभारत में आये निःसन्तान राजाओं मे जो व्याकुलता थी, वही श्रोत्रियजी भी अनुभव कर रहे थे। लेकिन एक दिन भी पत्नी को उन्होने खरी-खोटी नहीं सुनाई। उसके सम्मुख अपना दुखड़ा नहीं कहा। किन्तु भागीरतम्मा पति की व्याकुलता ताड़ गयी थी। उसे भी यह चिन्ता सता रही थी कि अब तक वह माँ न बन सकी। पति के प्रति उसका अगाध प्रेम-विश्वास था; उनके सौम्य स्वभाव के प्रति अभिमान था। दम्पति ने सैकड़ों देवी-देवताओं की मनौती की। श्रोत्रियजी ने नंजुंडेश्वर को सुवर्णपाद चढ़ाने का संकल्प लिया। एक वर्ष में भागीरतम्मा ने गर्भ धारण किया। प्रसव के लिए उसे लेने उसके पिता आये, लेकिन श्रोत्रियजी ने उसका यहीं रहना उचित समझा। प्रसव के तीन महीने पहले भागीरतम्मा की माँ नंजनगुडू आ गयी। प्रसव के दिनों में भागीरतम्मा का स्वास्थ्य अच्छा रहा। लेकिन प्रसव-वेदना प्रारम्भ हुए तीन दिन बीतने पर भी प्रसव नहीं

हुआ। वैद्य को बुलाया। उन्होंने मैसूर जाने के लिए कहा। फोन किया। मोटर आयी। पीड़ा से कराहती भागीरतम्मा के साथ सब बैठ गये। मोटर मैसूर के बड़े अस्पताल की ओर तेजी से भगायी। श्रोत्रिय-जी परेशान थे। थैली में चाँदी के रुपये लिये अस्पताल के बाहर खड़े थे। मन बेचैन था। पास खड़ी लक्ष्मी धीरज बँधा रही थी। चार-पाँच घंटे बाद डॉक्टर ने आकर कहा, "आपरेशन करना पड़ेगा, अन्यथा प्राण-हानि की संभावना है।"

डॉक्टर ने फार्म पर हस्ताक्षर करने के लिए कहा। श्रोत्रियजी ने हस्ताक्षर कर दिये। श्रोत्रियजी, उनकी सास और लक्ष्मी—तीनों बाहर बैठ गये। नंजनगूडु के कुछ और लोग उनसे मिलने आ गये। श्रोत्रियजी बैठे-बैठे मन-ही-मन निम्न श्लोक गुनगुना रहे थे—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

लगभग तीन घण्टे बाद भीतर से खबर आई, "आपरेशन हो गया है। बालक स्वस्थ है। माँ को भी किसी प्रकार का भय नहीं है।"

सबने सन्तोष की साँस ली। लेकिन श्रोत्रियजी का "दुःखेष्वनुद्विग्न-मनाः सुखेषु विगतस्पृहः—" पठन चलता रहा।

भागीरतम्मा एक महीना अस्पताल में रही। माँ और लक्ष्मी उसके पास रहीं। श्रोत्रियजी रोज देखने जाते। अस्पताल से लौटने के दिन श्रोत्रियजी को अलग बुलाकर डॉक्टर ने कहा, "बच्चा माँ के गर्भकोश के आकार से बड़ा था। दैहिक दृष्टि से यह विषम दाम्पत्य है। इस बार आपरेशन के कारण बच गयी। अगर पुनः गर्भवती हुई तो मृत्यु निश्चित है। अब दैहिक संबंध को रोकना ही पड़ेगा।"

श्रोत्रियजी का भरा ऊँचा शरीर और चेहरे पर चमकती कांति देख-कर डॉक्टर को शायद खेद हुआ होगा! उनसे डॉक्टर ने जो बात कही थी, वही नर्स ने भागीरतम्मा से कही।

शीनप्प ने बच्चे का नाम अपने पिता नंजुंड श्रोत्रिय के नाम पर रखा। बच्चा उन्हीं का प्रतिरूप था। आठ महीने बेटी की देखभाल कर भागीरतम्मा की माँ हासन लौट गयी।

घर आने के वाद माँ-वेटे नीचे के कमरे में सोते थे और श्रोत्रियजी ऊपर अपने अध्ययन-कक्ष में। भागीरतम्मा की माँ के रहने तक श्रोत्रियजी का मन कावू में रहा, लेकिन सास के जाने के वाद उनका मन पत्नी के लिए विचलित हो उठा। घर में और कोई नहीं था। लक्ष्मी दिन-भर गाय-वछड़ों के साथ वाहर रहती। घर में सिर्फ पत्नी थी। लेकिन डॉक्टर ने कहा था न कि 'दैहिक दृष्टि से यह विषम दाम्पत्य है। इस वार आपरेशन के कारण वच गयी। अगर पुनः गर्भवती हुई तो मृत्यु निश्चित है। अव दैहिक सम्वन्ध रोकना ही पड़ेगा।'

डॉक्टर की चेतावनी श्रोत्रियजी के कानों में सदा गूंजती रही। वच्चे को स्तन-पान कराते समय वे कभी-कभी पत्नी को देखते। भरा शरीर, हृष्टपुष्ट हँस-मुख वालक माँ की गोद में लेटा दूध पीता। वच्चे के शरीर को देखते हुए भागीरतम्मा लड़की-सी दीखती। पत्नी को देखकर पति के मन में सहानुभूति जाग उठती थी। "आइए, वैठिए"—वह बुलाती तो भी वे वहाँ न ठहरते। घर से खिसक जाते। इस तरह दो महीने वीत गये। चंचल चित्त उनके वश में न रहा। अध्ययन के समय भी मन कावू में न रहता। पूजा के समय भी मन अपने शांत स्वभाव को त्याग, हवा में जलते दीप की तरह काँप उठता। "अनमने भाव से पूजा करने से क्या लाभ"—यह सोचकर वे वीच ही में उठ जाते।

भागीरतम्मा यह ताड़ गयी थी, लेकिन विवश थी। नर्स की वात ने उसे भी डरा दिया था। उसे इस वात का पूर्ण विश्वास था कि पति जवर्दस्ती नहीं करेंगे, लेकिन वह उनके मन में उठ रहे स्वाभाविक विकार को समझ रही थी। दैहिक सुख देने में असमर्थ होने के कारण वह पहले से अधिक पति की सेवा करने लगी। एक-दो महीने वीत गये। श्रोत्रियजी ने दूध पीना छोड़ दिया, घी खाना भी वंद कर दिया। हर रोज उठने के पश्चात् घर के पिछवाड़े के वड़े वगीचे को खोदकर, उद्यान वनाने लगे। इस शारीरिक परिश्रम और पौष्टिक आहार के त्याग से रात को लेटते ही आँख लग जाती। सुवह तक गहरी नींद लेते। लेकिन एक-दो महीने में वे दुवले हो गये। पहले का-सा शरीर न रहा, चेहरे की चमक जाती रही। "इस तरह घी-दूध छोड़ने से क्या होगा"—कहकर भागीरतम्मा घी-दूध परोसने लगती तो श्रोत्रियजी कहते, "मानव-मन को

निरंतर में रखने के लिए इन सबको त्यागना ही पड़ेगा।"

भागीरतम्मा को पति से अपार प्रेम था। उनकी सुंदर काया के प्रति अभिमान था। दिन-प्रतिदिन पति का दुर्बल होना, उसके लिए असह्य हो उठा था। उसके मन में एक विचार आया, 'गाँव में उसकी बारह साल की एक अविवाहित बहन है। उसे बुलाकर पति से शादी कर दी जाय तो समस्या सुलझ जायेगी। वह मेरी बहन होने एवं स्वयं उससे बड़ी होने के कारण घर में मान-सम्मान में भी किसी तरह का अन्तर नहीं पड़ेगा। लेकिन डर था कि माता-पिता मानेंगे या नहीं।' एक महीने में श्रोत्रियजी और लट गये। भागीरतम्मा का निर्णय पुष्ट होने लगा। नर्स की चेतावनी से लेकर पति के स्वास्थ्य तक की हर बात बताते हुए, सलाह के साथ अपनी माँ को पत्र लिखवाया। उसकी बहन दीदी की तरह नहीं थी। सुन्दर व गठे बदन की थी। एक सप्ताह बाद श्रोत्रियजी के ससुर नंजनगुड़ आये। दूसरे दिन दामाद को लेकर बाहर निकले। दोनों नदी पारकर एक निर्जन स्थान पर बैठ गये। ससुर ने बात शुरू की, "मैं सारी बातें जानता हूँ। सब प्रभु की लीला है। भागू भी मान गयी है। घर में सबकी स्वीकृति है। कावेरी से तुम शादी कर लो। दोनों बहनें साथ-साथ रहेंगी।"

श्रोत्रियजी को आश्चर्य हुआ। पूछा, "क्या इसीलिए आप आये हैं?"

"हाँ, भागू ने पत्र लिखवाया था। तुम्हें देखकर तरस आता है। तुम्हारे शरीर की क्या हालत हो गयी है? मैं सब समझ सकता हूँ।" श्रोत्रियजी के ससुर रसिक थे। हासन में उनकी तीन रखैलें थीं, यह दामाद भी जानता था।

श्रोत्रियजी मौन रहे। उसे उनकी सम्मति समझकर ससुर ने उठते हुए कहा, "जन्म-कुंडलियाँ भी मिलती हैं। मैं दिखाकर आया हूँ।"

रोज की तरह उस रात श्रोत्रियजी अपने अध्ययन-कक्ष में सो गये। गमले पत्तीन ग्रंथ उनकी स्मृति में छा रहे थे। प्रतिदिन पारायण की हुई पोथियाँ, उनकी आँखों के सम्मुख आ गयीं। मन में तीव्र संघर्ष शुरू हो गया। यह सब आधी रात तक चलता रहा। दूसरे दिन सन्ध्या-वंदन, देवार्चना की और ससुर का उपचार कर, श्रोत्रियजी उन्हें लेकर बाहर निकले। दनायाची पुल के पास निर्जन नदी-तट की एक शिला पर

बैठते हुए श्रोत्रियजी ने कहा, "मैंने कल रात सब सोच लिया। विवाह गृहस्थ धर्म निभाने और वंशोद्धार के निमित्त ही होता है। वंशोद्धार के लिए पुत्र ने जन्म लिया है। गृहस्थ जीवन के लिए भागू है ही। पुनः विवाह करना अधर्म है। मुझे नहीं चाहिए।"

दामाद के विचार सुनकर ससुर को आश्चर्य हुआ। इन आदर्शों को वे जानते थे। वे भी संस्कृत के ज्ञाता थे, शास्त्रों का अध्ययन भी कुछ हद तक किया था। वे बोले, "फिर भी हम शरीर को निर्लक्ष्य नहीं कर सकते। अपनी तन्दुरुस्ती की ओर ध्यान दो। शरीर है तो जीवन है। वह क्षीण होगा, तो क्या होगा? तुम्हारी यही स्थिति रही तो भागू का क्या होगा?"

ससुर की बातें श्रोत्रियजी को प्रभावित नहीं कर सकीं। दोनों घर लौटे। उस रात पत्नी और ससुर दोनों ने श्रोत्रियजी को फिर व्यावहारिक बातें बतायीं। लेकिन व्यर्थ। ससुर दो दिन वहाँ रहे। उन्होंने दामाद के घर की स्थिति का अध्ययन किया। घर में काम करने वाली लक्ष्मी की ओर भी उनकी दृष्टि पड़ी। बेटी को अपने अनुभव की अत्युत्तम सलाह दी। दामाद ने उन्हें एकांगुल किनारे वाली धोती दी। उन्होंने पौत्र के हाथ में एक तोले का सुवर्ण-सिक्का दिया। बेटी और दामाद ने पैर छुए और वे अपने गाँव को रवाना हो गये।

श्रोत्रियजी के मस्तिष्क में अपने जीवन-आदर्शों एवं प्रकृति-गुणों में सदा परस्पर संघर्ष चलता रहता। अध्ययन के फलस्वरूप वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि प्रकृति की पकड़ से मुक्त हुए बिना मनुष्य स्वतंत्र नहीं है। इस अनुभव को वर्तमान वास्तविक जीवन के अनुरूप ढालकर उन्हें प्रकृति-प्रभाव पर विजय प्राप्त करनी है। इसलिए अपनी समस्त शक्ति से वे उसका सामना कर रहे थे। वे दिन का अधिकांश समय शारीरिक परिश्रम में बिताते। शेष समय अध्ययन में लगाते। मन शांत हो जाने पर अपनी जीत पर मुस्कराते। लेकिन एक-दो घण्टे बाद फिर मन में खलबली मच जाती। देखी हुई सुन्दर स्त्रियों के मुख उनकी आँखों में नाच उठते। लगता, वे उन स्त्रियों से बातें कर रहे हैं। कभी

यह भी कल्पना करते कि किसी निर्वस्त्र सुन्दरी ने उनका हाथ पकड़ रखा है। उनकी प्रज्ञा ऐसी कल्पनाओं को रोकने का प्रयत्न करती, लेकिन अतृप्त आशाएँ एवं जवानी की अभीप्सित इच्छाएँ मिलकर प्रज्ञा के दुर्बल तार तोड़कर अपनी भीम-शक्ति से आगे बढ़ती। जब कल्पना प्रवाह रुककर मन शांत होता तो वे उन विचारों पर पछताते। उनका शरीर दिनों-दिन टूटता जा रहा था।

गाँव लौटने से पहले पिता ने जो सलाह दी थी, वह भागीरतम्मा को नहीं रुची। लेकिन उनके पुनर्विवाह को अस्वीकार कर देने और उनकी बिगड़ती तन्दुरस्ती को देखकर वह डर गई। उसके पिता व्यावहारिक जीवन के अनुभवी थे। उनकी सलाह भी व्यावहारिक ही थी। भागीरतम्मा ने लक्ष्मी के बारे में सोचा, "उसके भी माता-पिता नहीं हैं। पति के साथ चार साल जीवन बिताया ही है। उसे संतान की आशा न होगी क्या? वह अगर मेरे पति के साथ किसी तरह का संबंध रखे तो समाज को पता ही नहीं चलेगा। इसके प्रति सजग रहना चाहिए। अनायास कुछ विपरीत लक्षण दिखाई पड़े तो चुपचाप औषधि लेनी पड़ेगी। अत्यंत आवश्यकता पड़ी तो उसी के पिता की एक परिचित स्त्री ही औषधि जानती है" भागीरतम्मा की कल्पना निरन्तर बह रही थी। रखैलियों को रखना, पुरुषों के लिए नई बात नहीं है। उनके पिता, प्रपिता, चाचा इस तरह बाहरी गृहस्थी चला चुके हैं। पिता की अब भी बाहरी गृहस्थी है। फिर भी घर में उसकी माँ बच्चों के साथ सुखी है।

भागीरतम्मा और लक्ष्मी दोनों साथ सोती थीं। रात में कभी बच्चा हठ करने लगता, तो लक्ष्मी उठकर उसे खिलाती-पिलाती। एक दिन रात को भागीरतम्मा ने लक्ष्मी से पूछा, "वे सूखते जा रहे हैं, तू कारण जानती है?"

"मैं क्या जानूँ, बहन!"

"सच कह?" भागीरतम्मा उसका चेहरा गौर से देखने लगी।

"नर्स ने जो-कुछ कहा था, वह आपने ही बताया था और अब अपने पिताजी के आने का कारण भी आपने ही बताया।"

"ओह! मैं भूल ही गई थी।"

बात वहीं रुक गई। भागीरतम्मा पुनः बोली, "एक बात है!"

"कहो बहन!"

"मैंने सब सोच लिया है। उन्हें जीवित रहना ही पड़ेगा। तू भी यह चाहती है न?"

"क्या कहती हैं बहन! शीनप्प अगर मर गये तो क्या मैं जिन्दा रहूँगी?"

"बाहर किसी को पता नहीं लगेगा। तू उनके साथ संबंध बना ले। पत्नी होकर भी इस तरह रहना मेरे भाग्य में लिखा है"—कहकर आँसू बहाने लगी। "एक दिन दोपहर में तू घर में नहीं थी। बच्चा सोया था। उनके चेहरे से मैं समझ गई थी। मैंने उनसे कहा कि डॉक्टर की बात झूठ भी हो सकती है और एक दिन में होता भी क्या है। लेकिन वे यह कहकर बगीचे की ओर निकल गये कि डॉक्टर का हमसे कोई द्वेष थोड़े ही है जो वह झूठ बोलेगा। भाग्य खोटा है। एक दिन में भी अनहोनी हो सकती है। डॉक्टर के मना करने पर भी मैं तेरे प्राण कैसे ले सकता हूँ। आखिर मैं भी तो मनुष्य हूँ।"

भागीरतम्मा की सलाह ने लक्ष्मी को आश्चर्य में डाल दिया। उसने सोचा, कौन पत्नी स्वेच्छा से ऐसा चाहेगी! बचपन से ही उसने शीनप्प को देखा है। उनके महान गुणों के प्रति उसके मन में श्रद्धा और अभिमान है। उसका पति जब कभी जुआ खेलने जाता, तब उसे शीनप्प की याद आ जाती थी। कई बार उसने चाहा था, "कहीं! मेरा पति शीनप्प-जैसा ही होता!" पति की हत्या के बाद जब वह श्रोत्रियजी के घर आई, तब भ्रमित थी। लेकिन, शीनप्प के स्नेहमय व्यवहार और भागीरतम्मा की सहनशीलता से कुछ ही दिनों में वह सँभल गई थी। यौवन की वासना उसे भी सता रही थी। पति जुआरी क्यों न रहा हो, उसके बिना जीवन उसे असह्य लग रहा था। वह जब गाय-बछड़ों को चराने बाहर जाती, तो अनेक युवक अर्थ-गर्भित नजरों से उसे देखते। लेकिन उसका मन सदा झिझकता। शीनप्पा के प्रति उसमें एक मधुर एवं सूक्ष्म आकर्षण अवश्य था, लेकिन निरी विषय-वासना नहीं थी।

उसे भागीरतम्मा की बात स्वीकार न थी। भागीरतम्मा करीब पंद्रह दिन उन्हीं बातों को दुहराती रही, तो एक दिन बोल पड़ी, "उन्हें

स्वीकार है तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।" इसके बाद दो-तीन दिन सिर उठाकर वह शीनप्पा को देख न सकी। तब तक शीनप्पा से एकवचन में बोलती थी और शीनप्पा को भी यह पसन्द था, लेकिन अब दो दिन से वह बहुवचन का प्रयोग करने लगी तो उन्हें आश्चर्य हुआ। फिर भी उन्होंने उस ओर ध्यान न दिया। एक दिन रात के भोजन के पश्चात् पति का हाथ पकड़कर भागीरतम्मा बोली, "एक बात है। आपको स्वीकार करनी होगी।"

"पहले बताओ।"

"आपको स्वीकार करना ही पड़ेगा।"

"शादी की बात है न? तू पगली है। मुझे क्या हुआ है जो ऐसा कहना चाहती है!"

"शादी की बात नहीं!" कहकर पति को पास बैठाकर अपनी सलाह बतायी। हड़बड़ाकर श्रोत्रियजी ने पूछा, "लक्ष्मी को तू क्या समझ बैठी है?"

"उसने मान लिया है। उसे भी पसंद है।"

श्रोत्रियजी स्तब्ध रह गये, पत्नी का मुख देखने लगे। भागीरतम्मा ने कहा, "मैं तो आपकी सेवा नहीं कर सकती। दूसरे भी तो ऐसा करते हैं। मेरी माँ के रहते हुए भी पिताजी की तीन रखैल हैं। कुछ गड़बड़ी हुई तो उपाय भी है। आपको पहले की तरह हृष्ट-पुष्ट रहना चाहिए। कहा गया है न कि चिन्ता ही आदमी की चिता है।" श्रोत्रियजी सुनते जा रहे थे। "आज लक्ष्मी ऊपर मंजिले पर सोयेगी! मैंने कह दिया है। आप ऊपर जाइए।"

श्रोत्रियजी कुछ न बोले। उनका मन मोह में फँस गया था। अपने आंतरिक द्वन्द्व के दिनों में भी उन्होंने इस दृष्टि से लक्ष्मी की कल्पना नहीं की थी। उसके प्रति उनमें स्नेह था, सहानुभूति थी। वह उसी घर में पली और घर के सुख-दुःख से पूर्णत. परिचित थी। उनकी मदद से ही उसका विवाह हुआ था। पुन. उसी घर में आश्रय लेने आई थी। अब उसने भी इस प्रस्ताव को मान लिया है। यह योजना पत्नी की है, लक्ष्मी को भी उसी ने मना लिया है। मुख खोलकर उनको 'हाँ' करने की भी जरूरत नहीं; केवल ऊपर जाना ही काफी है। अपने लिए

अनुपलब्ध, मानव जीवन के लिए अपेक्षित, अत्यंत सुखानुभव अब अपने-आप उनके पास पहुँचा दिया है। उसे ठुकराना क्या पागलपन नहीं होगा?"

बाहर ठंडी हवा बह रही थी। यद्यपि शरीर को वह अच्छी लग रही थी, फिर भी कभी-कभी जोर का झोंका आ जाता था।

श्रोत्रियजी के अध्ययन-कक्ष, जिसमें वे सोते थे, के बगल वाले कमरे में ही लक्ष्मी सोयी थी। श्रोत्रियजी बिस्तर पर बैठे थे। उनका चित्त विचलित था। प्रकृति की समस्त मूल शक्तियाँ पागल होकर आज उनके मस्तिष्क में नाच रही थीं। अपूर्व भाव से आज वे, लक्ष्मी के रूप की कल्पना कर रहे थे। लक्ष्मी नीलगिरि-सीमा की माँ के गर्भ से जन्मी और पूरे शरीर वाले माचा की बेटी है। माँ सुन्दर थी। तेईस वर्ष की लक्ष्मी ऊँची और गठे हुए बदन की थी। श्रोत्रियजी के समान ही ऊँचा शरीर था। कुर्ग की नारंगी के समान उसके शरीर का रंग था। अंग सुपुष्ट थे। बाहर जाते समय आँचल से मुँह ढँक लेने पर भी उसका सुन्दर रूप किसी को भी लुभा सकता था। वह बगल के कमरे में शायद श्रोत्रियजी की प्रतीक्षा में सोयी थी। बाह्य जगत की आपत्ति के बिना वे उसका उपभोग कर सकते हैं। उसका मन काँप उठा। मन उन्माद के प्रवाह में वह चला और साँस की गति बढ़ गयी।

पति के स्वर्गवास के चार वर्ष बाद, आज लक्ष्मी पुनः गृहस्थानुभव पाने की प्रतीक्षा में लेटी है। वह सोचती, 'शीनप्पा यहाँ आयेंगे। आयें तो क्या बोलना चाहिए? किस तरह व्यवहार करना चाहिए? बचपन से ही शांत-गम्भीर स्वभाव के हैं, लेकिन स्नेहमय घर-मालिक हैं; उसकी शादी के समय बड़ी मदद की थी: अब पत्नी-सुख के अभाव में दुःखी हैं; आज से हम दोनों का संबंध आजीवन चलता रहेगा।' लक्ष्मी को पाप-पुण्य दिखाई नहीं पड़ा। अपने होने वाले संबंध को पति-पत्नी के रूप में देख रही थी। शीनप्पा के कमरे में आवाज हुई। शायद वे अब बिस्तर से उठे होंगे! पैरों की आहट हुई। अब आ रहे होंगे! उसका शरीर काँप रहा था। वह सिर झुकाए बैठ गई।

श्रोत्रियजी उठ खड़े हुए। लक्ष्मी के कमरे की प्र हुई। वह रही ठंडी हवा में भी शरीर से पसीना छूटने लगा।। सारी धोती पसीने से तर-बतर हो गई। छाती और पीठ घनी बूँदें दिखाई पडी। धोती से मुख पोछकर खिडकी हो गये। बाहर अंधेरा था। लेकिन अंधकारमय आकाश में रहे थे। वे अनादिकाल से इसी तरह चमकते आये हैं—उ प्रकाश में किसी तरह की कमी नही हुई है। कमरे के दूसरे द्वार से श्रोत्रियजी बरामदे मे आये। द्वार पर सप्तर्षि मंडल चमक रहा था। अरुंधति नक्षत्र भी चमक रहा था। उत्तर की ओर दृष्टि दौड़ाई। अटल, शात ध्रुव नक्षत्र अब भी प्रकाश दे रहा है। सप्तर्षि, अरुंधति और ध्रुव नक्षत्रों का काल गिनने का प्रयत्न किया लेकिन अपना पागलपन समझ, विचार बदल दिया। उनका विश्वास कह रहा था, ये सब अनादि, अनन्त ज्योति-पुंज हैं। उनका मन शात हो रहा था। लगभग आधे घण्टे तक बरामदे में ही खड़े रहे। पैर दुखने लगे तो धीरे-धीरे अपने कमरे मे आकर बिस्तर पर लेट गये।

दस मिनट में पुनः चित-विकार प्रारंभ हो उठा। लक्ष्मी की मूर्ति मानस-पटल पर छा गई। उसके निर्वस्त्र अंग-अग की कल्पना हो आई। कल्पना में ही उन्होने वासना-तृप्ति की। लगभग दस मिनट तक श्रोत्रियजी अपना विवेक खो चुके थे। वे पसीने से तर हो गये। धीरे से उठे, लक्ष्मी के कमरे की ओर पग बढाया।

प्रतीक्षा मे लक्ष्मी बेसब्र हुई जा रही थी। धमनियो मे रक्त-प्रवाह बढ चला था। श्रीनप्पा कमरे मे चहलकदमी कर रहे थे। उनका बरामदे में जाना, भीतर जाकर लेटना, फिर उठकर टहलना—लक्ष्मी को सब गति-विधियाँ मालूम होती रही थी। उसने सोचा, शायद श्रीनप्पा संकोच कर रहे हैं, मैं ही उनके पास क्यो न चली जाऊँ! उसके रोमांचित सर्वांग, शात होना चाह रहे थे। लेकिन स्वयं-शक्ति से उनका शात होना प्रकृति के विरुद्ध था। पुरुष के सपर्क से आनन्द पाकर ही अपनी आन्तरिक चेतना शात हो सकती थी।

भागीरतम्मा चीनी के साथ नीचे सोयी थी। उसे नींद नही आ रही थी। पति को ऊपर गये डेढ घटा हो रहा था। पति और लक्ष्मी अब

एक हो गये होंगे ! इस चित्र की कल्पना वह न कर सकी । उसकी आँखें भर आईं और सिसक-सिसककर रो पड़ी । साड़ी का पल्ला गोलकर मुंह में ठूंस लिया, ताकि सिसकियाँ उन्हें सुनाई न पड़ें । पति की तरह उसकी भी भोग की इच्छा थी । डॉक्टर ने गर्भवती न होने की चेतावनी अवश्य दी थी, लेकिन उसकी संभोग-प्रवृत्ति लुप्त नहीं हुई थी । एक बच्चे की माँ बनकर ही अपनी वासना दबा सकने में सफल हुई थी । हृष्ट-पुष्ट पति का यौवन-सुख उसे नहीं मिला, लेकिन मन निराश नहीं था । उसके जीवन में वह अत्यंत दुःखमय रात थी । लेकिन इसका कारण वह स्वयं थी । पति की घटती काया, क्षीण होती तन्दुरुस्ती उसे स्मरण हो आई । हो सकता है कि कुछ दिनों में वे मनोरोग की वलि हो जायें । दूसरी शादी की अस्वीकृति उसके प्रति अधिक प्यार का कारण था । उसे अपने पिता की उप-पत्नियों की याद आई । माँ का चित्र भी एक वार घूम गया । उसने अपने को तसल्ली दिलाने का प्रयत्न किया और बच्चे को आहिस्ते से उठाकर उसका मुख चूम लिया ।

श्रोत्रियजी ने पसीना पोंछा । ओढ़े हुए शाल की ओट में दियासलाई से कमरे की लालटेन जलाई । लक्ष्मी को प्रकाश दिखाई पड़ा । अब वे आते ही होंगे या मुझे ही वहाँ बुलायेंगे ! उसके हृदय की धड़कन बढ़ चली । चेहरा रक्त-रंजित हो उठा । उन्मादित आँखें अर्धनिमीलित हो गईं ।

एक वार श्रोत्रियजी के मन में आया कि लक्ष्मी को बुला लिया जाय, लेकिन जीभ निर्जीव-सी निश्चेष्ट थी । स्वयं उसके पास जाने के उद्देश्य से पग बढ़ाये, लेकिन अचानक इतने लज्जित हो गये कि अपने-आपको भी न देख सके । सुपुप्त लज्जा को छिपाने के लिए उन्होंने कमरे में जलती लालटेन बुझा दी । लक्ष्मी समझ गई । सोचा, लज्जा से ऐसा किया, तो मैं ही उठकर वहाँ क्यों न चली जाऊँ ! बगल के कमरे में पैरों की आहट सुनाई पड़ी । सोचा, उनके पैरों के पास जाकर बैठ जाऊं । धीरे-धीरे पग बढ़ाये । द्वार तक पहुँची तो उद्वेलित हो उठी । आगे बढ़ने की शक्ति न रही—वह द्वार पर ही बैठ गई ।

बाहर जोरों की हवा बह रही थी । उसकी आवाज भीतर आने

लगी। दो बार कमरे की खिड़की जोर से खुली और बन्द हुई। श्रीनप्पा ने खिड़की बंद करने से पहले दीप जलाने के लिए दियासलाई जलाई। उस प्रकाश में उन्होंने लक्ष्मी को देख लिया। लेकिन हवा के झोंके से दियासलाई बुझ गई। लालटेन नहीं जली। अनुभव किया, मानों मानव की समस्त काम-शक्तियाँ उन्हें खींच रही हैं। अँधेरे में वे लक्ष्मी की ओर बढ़े कि अज्ञात भय ने उनके अन्तर को झकझोरा। वे वहीं जमीन पर बैठ गये। आगे बढ़ने की शक्ति नहीं रही। आधे घंटे से भी अधिक वहीं बैठे रहे। लक्ष्मी दरवाजे के पास थी। वे धीरे-धीरे उठे और दूसरे द्वार से बरामदे में चले गये।

लगभग एक घण्टा वहीं खड़े रहे। भीतर गये तो लक्ष्मी द्वार के पास नहीं थी। चुपके से द्वार के पास आकर उन्होंने द्वार बंद किया। भीतर आये। खिड़की बंद की। दीप जलाया। 'सांख्यकारिका' ग्रंथ निकाला और व्याघ्रचर्म पर बैठकर पढ़ने लगे।

वे प्रकृति-पुरुष से संबंधित अंतिम भाग पढ़ रहे थे—

रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥

अर्थात्, नर्तकी या वेश्या नाट्यशाला में उपस्थित दर्शकों को अपना नृत्य दिखाकर जिस तरह नृत्य से निवृत्त होती है, उसी तरह प्रकृति पुरुष को अपना स्वरूप दिखाकर निवृत्त होती है।

श्रोत्रियजी का मन इसी प्रश्न में मग्न था कि प्रकृति का उद्देश्य क्या है? इसका अन्त क्या है? एक और श्लोक था—

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किंचिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य॥

अर्थात्, प्रकृति सुकोमल है, अत्यंत लज्जामय है। यह जानकर कि पुरुष उसे अपने से भिन्न समझता है, वह पुनः उसकी दृष्टि में नहीं पड़ती। तात्पर्य यह कि विवेक-ज्ञान पाने तक ही प्रकृति का प्रभुत्व हम पर रहता है। वह ज्ञानोदय मुझे कब होगा? श्रोत्रियजी जानते हैं कि वह केवल बुद्धि से कल्पित ज्ञान नहीं है। वे चिंतन-मनन करने लगे कि प्रकृति के मोहक जाल से मुक्ति पाना ही इस ज्ञान का संकेत है या ज्ञानोदय होने पर ही यह बंधन द्रवित होता है?

प्रतीक्षा करते-करते लक्ष्मी ऊब गई। वह नीचे उतरी, स्नान-घर में गई। फिर ऊपर आई। उसके सीढ़ियाँ चढ़ने की आवाज भागीरतम्मा लेटे-लेटे सुन रही थी। एक स्त्री होने के नाते वह समझ गई थी कि लक्ष्मी स्नानघर में क्यों गई। उसे पुनः प्रयत्नातीत पीड़ा होने लगी। असहाय हो, उसने सोने की चेष्टा की; लेकिन नींद नहीं आई।

प्रतीक्षा से परेशान हो लक्ष्मी बिस्तर पर पड़ गई। श्रीनप्पा के स्वभाव को पहले से ही जानती थी। वह समझ गई कि धर्म-कर्म के विचार ने श्रीनप्पा को ऐसा करने से रोक दिया है। उस दिन दोनों में जो संबंध होना चाहिए था, लक्ष्मी की दृष्टि से उसमें किसी तरह की अनैतिकता का प्रश्न ही नहीं था। वे दोनों मानते हैं। पत्नी को भी स्वीकार है, डॉक्टर ने पति-पत्नी को अलग रहने की सलाह दी है तो यह लोकाचार है। श्रीनप्पा के विचार उसे विचित्र लगते थे। अब उसके मन का आवेग घटने लगा। उन्माद, शरीर-कंप सामान्य स्थिति में आने लगा। आँखें मूंदकर वह लेट गई। फिर भी आशा की एक मद्धिम किरण उसे दिखाई दे रही थी। उसे ओझल कर, मन सोने के लिए तैयार न था।

श्रोत्रियजी ढाई बजे तक पढ़ते रहे। मन शान्त हुआ, नियंत्रित हुआ। केवल नींद उड़ गयी थी। ग्रंथ रखा। दीप वैसा ही जलता छोड़, सीढ़ियाँ उतरे और नदी की ओर चल दिये। कपिला शांत बह रही थी। कुछ समय पानी में पैर डाले पत्थर पर बैठे रहे। अब तक चाँदनी थी। कृष्णपक्ष की दशमी का चाँद आँवले के आकार-सा आकाश में चढ़ आया था। श्रोत्रियजी ने धोती पहने ही नदी में डुबकी लगाई और गीली धोती में ही घर लौटे। भागीरतम्मा अब तक सो चुकी थी। श्रोत्रियजी ने पूजागृह का दरवाजा भीतर से बन्द किया। माथे पर भभूत लगाई। संध्या-वंदन प्रारम्भ किया। एक हजार आठ गायत्री मंत्र जपा। तत्पश्चात् चंदन घिसा। बगीचे से फूल लाकर पूजागृह में पुनः आ गये। बड़ी देर तक नींद न आने के कारण अंतिम बार साष्टांग प्रणाम करते समय श्रोत्रियजी कह रहे थे—'धर्मो रक्षति रक्षितः।'

पूजागृह से निकलने तक श्रोत्रियजी की धोती शरीर पर ही सूख गयी थी। भागीरतम्मा उठी। स्नानादि से निपटकर रसोईघर में गयी। पूजागृह का द्वार खुलने की आवाज सुनी। भागीरतम्मा बाहर आई। "क्षण-भर वैसे ही खड़े रहिए"—कहकर अनजान खड़े पति के चरण छुए आँखों-से-आँखें डालते हुए उसने कहा, "लक्ष्मी ने मुझे सब बता दिया है। मैंने कभी नहीं सोचा था कि आप इतने महान् हैं।"

श्रोत्रियजी पूजा की धुन में ही थे। कुछ नहीं बोले। उनका मन एक अव्यक्त और वर्णनातीत शान्ति से भरा था। चुपचाप बगीचे में गये और पौधों की क्यारियों में पानी सींचने लगे।

दोपहर में भोजन के लिए बैठे तो उन्होंने कहा, "मैंने संकल्प किया है कि पौष्टिक आहार का सेवन करके भी मन वश में रखना चाहिए। मुझे पूरा विश्वास है कि मेरी विजय होगी। आज से घी भी परोसो, पीने के लिए दूध भी दो।"

दही-भात खाते समय उन्होंने पूछा, "यह विचार तुझे कैसे आया?"

"पिताजी ने जाने से पहले कहा था कि बेटी, पुरुष के आरोग्य के बारे में तू नहीं जानती। जैसा मैं कहता हूँ, वैसा कर।"

श्रोत्रियजी भीतर-ही-भीतर मुस्कराये। कुछ बोले नहीं। उस दिन से वे पौष्टिक आहार लेने लगे। मैसूर के विद्यार्थी-जीवन में जिस तरह सुबह उठकर आसन लगाया करते थे, पुनः वैसा ही करना प्रारम्भ कर दिया। अध्ययन में पहले से अधिक समय लगाने लगे। ग्रंथालय बढ़ता जा रहा था। इस तरह अपने मन को वश में रखने में वे समर्थ हुए।

लक्ष्मी कमजोर होने लगी। उस रात के बाद से वह भागीरतम्मा के साथ सोने लगी। लेकिन खाने-पीने की रुचि घटने लगी। पतिगृह से लौटने के पश्चात् जो चित्त-शांति बनी हुई थी, वह खत्म हो गयी। उठते-बैठते उसकी आँखों के सामने श्रीनप्पा का चित्र आने लगा। मन सदा कल्पना-सुख में मग्न रहता। स्नान करते समय अपने शरीर के सौष्ठव को देखकर स्वयं मोहित हो उठती। लेकिन श्रीनप्पा के विचित्र स्वभाव से मन-ही-मन क्रुद्ध हो जाती। उसने उनसे बोलना भी छोड़

दिया। सदा उनसे आँखें बचाती रहती। इस पर उनका ध्यान अवश्य गया था, फिर भी उन्होंने बात करने का प्रयत्न नहीं किया।

लगभग एक महीने में लक्ष्मी बहुत छीज गयी—वर्षा ऋतु की गाय-सी। भरे चेहरे की हड्डियाँ स्पष्ट दिखाई दे रही थीं। चाल में पहले की-सी स्थिरता न थी। उसे अपने जीवन का कोई उद्देश्य दिखाई नहीं पड़ा। मन में भयानक भ्रम उत्पन्न हो गया। आँखें धँस गयीं—कांति नष्ट हो गयी। ये सारे परिवर्तन श्रोत्रियजी की समझ में नहीं आये। वह उनके सम्मुख आती ही न थी। भागीरतम्मा ने पूछा, "तुझे क्या हो गया है लक्ष्मी ? किसी ने कुछ खिला तो नहीं दिया ?" लक्ष्मी ने कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। भागीरतम्मा समझ न सकी कि आखिर लक्ष्मी का मन प्रचण्ड संघर्ष का रंगमंच कैसे बन गया !

एक रात लक्ष्मी को बुखार आ गया। भागीरतम्मा ने श्रोत्रियजी को बताया। उन्होंने लक्ष्मी की नाड़ी और चेहरा देखा। वे सब-कुछ समझ गये। डेढ़ माह पूर्व उनका चेहरा भी ऐसा ही हो गया था। चंदन-अक्षत लगाते समय आईने में वे अपना मुख देखा करते थे। उस समय वे कुछ नहीं बोले। वैद्य को लाये। लक्ष्मी सन्निपात में इक्कीस दिन तक बिस्तर पर पड़ी रही। उस अवधि में श्रोत्रियजी लक्ष्मी को छोड़कर कहीं नहीं गये। वैद्य के परामर्श पर सतर्कतापूर्वक उसकी सेवा-शुश्रूषा की। उन दिनों वे नियमित सन्ध्या-वंदन, देवार्चना न कर सके। मन-ही-मन कुछ मंत्र जपते रहे। भागीरतम्मा को भी मासिक धर्म हो गया। अब भोजन बनाना भी श्रोत्रियजी के जिम्मे आ गया। लक्ष्मी की साड़ी से पसीने की बदबू आती तो वे उसकी साड़ी बदलते। कभी-कभी अर्द्ध बेहोशी में लक्ष्मी कहती, "शीनप्पा, अगर तुम छोड़ दोगे तो और कौन मेरा हाथ थामेगा ? गृहस्थ जीवन की आशा मुझे नहीं है। तुमने ऐसा क्यों किया ?"

इक्कीसवें दिन उसका बुखार उतरा। होश आने पर अपने पास शीनप्पा को बैठे देखकर लक्ष्मी को संकोच हुआ। उसके संकोच को देखकर भी वे मुक्त होकर बोलते थे। दो सप्ताह में लक्ष्मी बिस्तर से उठ बैठी। श्रोत्रियजी ने पत्नी से कहा, "अब लक्ष्मी को थोड़ा समझाना पड़ेगा, तू वहाँ न आना।" लक्ष्मी के पास बैठकर उसका दाहिना हाथ

पकड़ा। लक्ष्मी ने सिर झुका लिया। हाथ पकड़े हुए ही उन्होंने कहा, "मनुष्य का गिरना आसान है, उठना बहुत कठिन। सबको अपने कर्म का उपभोग करना पड़ेगा। गृहस्थ जीवन भी वैसा ही है। पत्नी के रहते हुए भी, मेरा धर्म-संकल्प है कि मैं ऐसा ही रहूँ। विधवा-जीवन बिताना तेरा कर्म है। तू अब तेईस या चौबीस की होगी। मैं अट्ठाईस का हूँ। अब दस बीस वर्षों के सुख के लिए नीचे गिरना, दोनों की धर्म-च्युति है। कठिन साध्य होते हुए भी सहना पड़ेगा। तूने भी सुना है न कि जो धर्म का उल्लंघन करते हैं, उनकी सात पीढ़ी के पितृ रौरव नरक में गिरते हैं। क्या इस कारण अपने पितरों को कष्ट देना उचित है ?"

लक्ष्मी चुप रही। वह श्रोत्रियजी की बातें सोच रही थी। श्रोत्रिय-जी ने पुनः कहा, "किसी भी हालत में मैं तेरा हाथ नहीं छोड़ूँगा। इसीलिए हाथ पकड़कर कह रहा हूँ। आज से सुबह उठते ही तू भी स्नान कर। पूजा के बाद तीर्थ-प्रसाद दूँगा। श्रद्धा से स्वीकार कर। मन को शांति मिलेगी। रोज पूजा के लिए फूल लाना तेरा काम होगा। प्रातः उठकर गाय की पूजा कर।"

लक्ष्मी कुछ दिनों में चलने-फिरने लगी। वह शीनप्पा से एकवचन में ही निःसंकोच बात करती। एक दिन उसके हाथ में एक पत्र देकर श्रोत्रिय जी ने कहा, "लक्ष्मी, किसी का भी जीवन शाश्वत नहीं है। जब तक मैं जिन्दा हूँ, तेरा हाथ नहीं छोड़ूँगा। अचानक कुछ हो गया तो तुझ पर मुसीबत नहीं आये, इसलिए तेरे नाम दो एकड़ जमीन लिख दी है। पत्र को अपने संदूक में रख ले। सरकारी दफ्तर में इसका उल्लेख करा दिया है। यदि अचानक यह पत्र कहीं खो भी गया तो भी हिसाब सर-कार के पास रहेगा।"

लक्ष्मी की आँखें डबडबा आईं। "शीनप्पा, यह सब क्यों किया ? एक कौर अन्न खाकर, रोज तुझे आँख-भर देख लेना ही मेरे लिए काफी था !"

"तू ठीक कह रही है, लक्ष्मी ! फिर भी व्यवहार की दुनिया में ऐसा ही करना उचित है !" शीनप्पा ने कहा।

१४

कात्यायनी को पति की कही हर बात, मध्य रात्रि बीत जाने पर भी याद आ रही थी। उसकी सास भागीरतम्मा ने भी एक दिन बहू को यह सब बताया था। कात्यायनी में कल्पना-शक्ति थी। वह उन बातों को स्मरण करती तो घटनाएँ सजीव होकर उसके सम्मुख आ जातीं। अभी तक लक्ष्मी और उसके ससुर परस्पर स्नेह से जीवन बिता रहे हैं। श्रोत्रियजी के भोजन किये बिना लक्ष्मी भोजन नहीं करती। सुबह उठते ही स्नान के पश्चात्, वह सबसे पहले उसके द्वारा दिया गया तीर्थजल ग्रहण करती है। अभी तक नियमित रूप से वह गो-पूजा करती है। इस परिवार में उसका अपना एक स्थान है। हर मुख्य कार्य में उसकी राय को महत्व दिया जाता है।

कात्यायनी जानती है कि इस घर में लक्ष्मी की अपेक्षा उसका महत्व अधिक है। आये दिन श्रोत्रियजी लेन-देन भी कात्यायनी को बताकर ही करते हैं। चार वर्ष पूर्व डॉ० राव को एक हजार रुपये देते समय भी उन्होंने बहू से पूछ लिया था। रुपयों से भरे लिफाफे को एक थाली में पान-सुपारी के ऊपर रखा और उस पर केला रखकर सास के हाथों एक चम्मच पानी डलवाकर श्रोत्रियजी ने पैसे दिये थे। कात्यायनी के मन में कई बार प्रश्न उठता था कि घर में मुझे जो मान-सम्मान मिल रहा है, जो अपार विश्वास है, क्या उन सब को पाने की योग्यता मुझ में है? उसकी नींद लगी, तब तीन बज चुके थे।

सुबह आठ बजे उठी। स्नान किया। आज मैसूर जाकर राजाराव को घर के बारे में बताना ही पड़ेगा। लेकिन कहूँगी क्या? ससुरजी ने इस विषय में पूरी स्वतंत्रता दे दी है। मैं जब तक किसी एक निष्कर्ष

पर पहुँचकर चलने की शक्ति नहीं रखती, तब तक मैसूर जाकर क्या कहूँगी ? किसी निष्कर्ष पर पहुँचने में मैं असमर्थ हूँ। इन विचारों में ही उसने शीघ्र स्नान कर लिया। भोजन भी जल्दी किया। एक नोटबुक और टिफिन लिया। मानों अभ्यास के लिए ही जा रही है। स्टेशन पहुँची। मन में अनिर्दिष्ट, अनिश्चित विचारों का द्वन्द्व चलता रहा। राज को अपना निष्कर्ष बताये पाँच महीने बीत गये थे। उसे हर तरह से पति मानकर ही वह चल रही थी। अनुभव-संस्कार कात्यायनी को राज से कभी किंचित् भी विमुख नहीं होने देता था। रेल-प्रवास में किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए उसका मन छटपटाने लगा। पाँच महीने पहले जिस निष्कर्ष पर पहुँची थी, कल रात वह शिथिल पड़ गया था, लेकिन पूर्णतः समाप्त नहीं हुआ था। हो सकता है, वे आज स्टेशन आये हों ! आतंकित होकर सोच रही थी कि गाड़ी से उतरते ही क्या कहूँगी ?

गाड़ी धीमी गति से चल रही थी। खिड़की से चामुण्डी हिल दिखाई दे रहा था। गाड़ी कडकोल पहुँची। गर्मी के अंतिम दिन थे, पहाड़ी के पेड़-पौधे सूखकर, काले-काले पत्थर-से दिखाई दे रहे थे। पूर्व का सूरज पहाड़ी के पृष्ठभाग में आ चुका था। पहाड़ी की छाया दिखाई दे रही थी। अनायास उसे अपने ससुर की याद हो आई। उनकी देहाकृति भी पहाड़ी-सी भव्य है। उसने सोचा, साठ की इस उम्र में भी उनकी ऊँचाई, गठा बदन, चलते समय पड़ते स्थिर कदम, पूजा के समय आँखें मूँदकर बैठने की भंगिमा इन सब की तुलना इस पहाड़ी से ही सकती है। इस पहाड़ी और श्रोत्रियजी की मनःनिग्रह-शक्ति, संयम और जीवन की समस्याओं का सामना करने का साहस आदि में उसे साम्य दिखाई पड़ा। उसका पति जब सिधारा तो सभी रो रहे थे, लेकिन श्रोत्रियजी इकलौते पुत्र को खोकर भी पहाड़ी-से स्थिर समस्त दुःखों का घूँट पीकर शांत दिखाई दे रहे थे। मन-ही-मन वह ससुर के उच्च व्यक्तित्व और इच्छा-शक्ति की प्रशंसा कर रही थी।

इन्हीं विचारों में डूबी थी कि चामराजपुर स्टेशन आ गया। हड़बड़ाकर खिड़की के बाहर देखा। राज नहीं आया था। वह गाड़ी से उतरकर स्टेशन के बाहर आई। पहाड़ी अब भी दीख रही थी। दस बज चुके

थे। धूप की गर्मी बढ़ रही थी। लेकिन पहाड़ी का आकर्षण कायम था। आज उस पर चढ़ने की अकारण इच्छा जागी। वह सीधी चल पड़ी। कृष्णमूर्तिपुर से होती हुई चामुंडीपुर पारकर, बगीचों के बीच से आगे बढ़ी। रास्ते-भर धूल थी। हवा का एक झोंका आया और शरीर पर धूल जम गयी।

कात्यायनी इससे पहले भी एक-दो बार इस पहाड़ी पर गयी थी। एक बार पति के साथ गयी थी। सीढ़ियों से ऊपर पहुँचने वाले मार्ग से वह परिचित थी। प्रखर सूर्य सिर पर आ गया था, लेकिन उसकी चिंता किये बिना उसने नीलगिरि मार्ग पार किया। पहाड़ी के चरण में पहुँची ही थी कि दायीं ओर बड़ी अग्नि-ज्वाला दिखाई पड़ी। ठहरकर उस ओर देखा। ज्वालाएँ काफी ऊपर तक उठ रही थीं। कुछ लोग उसे घेरकर देख रहे थे। एक व्यक्ति के हाथ में एक लंबा बाँस था। उसने मैसूर का श्मशान देखा नहीं था, लेकिन सुना था कि मृत शरीर पहाड़ी के पास ले जाते हैं। समझ गयी की शव का दाह-संस्कार हो रहा है। और कोई समय होता तो वह भयभीत हो जाती। लेकिन आज वह आकर्षक लगा। थोड़ी देर में चिता के बीच से जोर की टप-सी आवाज हुई। जिसके हाथ में लम्बा बाँस था, वह अधजले शव को पुनः आग में धकेल रहा था। पगड़ी पहने भट खड़े-खड़े मंत्र पढ़ रहे थे। संस्कार पूर्ण कर वे सब बिना पीछे देखे लौट पड़े।

चिता अभी तक जल रही थी। कात्यायनी कुछ पास जाकर, उसे एकटक देखती रही। शव पूर्णतः भस्म हो चुका था। हमारी आशा-आकांक्षाएँ, सुखाभिलाषाएँ सबकी-सब जलकर खाक हो जाती हैं। ये विचार उसके मन में व्याप्त हो गये। फिर उसने एक निःश्वास छोड़ा। थोड़ी दूर पर और एक शव आता दिखाई पड़ा। शव बाँस की बनी अर्थी पर था। चार व्यक्ति उसे कंधा दिये हुए थे। कोई आगे-आगे भारी कदमों से बढ़ा जा रहा था। उसके हाथ में आग थी। शव के पीछे और दो युवक सिर झुकाये आ रहे थे। उनके पास ही लाल शाल ओढ़े पुरोहित निर्विकार भाव से हाथ में दर्भ समूह लिये हुए थे। वे पास आये। अर्थी को एक जगह रखा। कात्यायनी के पास आकर पुरोहित

जी ने कहा, 'यहाँ औरतों का क्या काम? आपका यहाँ आना उचित नहीं है। इस स्थान पर आपको नहीं आना चाहिए। चली जाइए।" कात्यायनी धीरे चलने लगी और पहाड़ी के चरण तल में पहुँची। सामने की ओर सीढ़ियाँ चढ़ने लगी। थोड़ी चढ़ाई के बाद वह थक गयी। साँस फूलने लगी थी, पसीना छूट रहा था। फिर भी वह बढ़ती ही गयी। लगभग आधी ऊँचाई तक चढ़ते-चढ़ते वह बिलकुल थक गई। चक्कर-सा आने लगा। वह एक पत्थर पर बैठ गयी। नीचे मैसूर नगर विस्तीर्ण रूप में फैला हुआ दीख रहा था। उसके ऊँचे-ऊँचे मकान, शान से खड़ा राजप्रासाद, बड़े-बड़े महल आदि सभी यहाँ से बहुत छोटे-छोटे दिखाई पड़ रहे थे।

नगर की पश्चिम दिशा में चमकने तालाब के इस ओर दिखाई दे रहा कालेज उसने पहचान लिया। तुरंत उसे राज की याद हो आयी। सोचा, शायद वे कालेज में मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। अचानक प्रबल इच्छा हुई कि सीधे कालेज जाकर उनसे मिलना चाहिए, लेकिन विचार बदल दिया और पहाड़ी पर चढ़ने लगी।

चढ़ना कठिन हो रहा था। अब तक हवा नाम-मात्र के लिए ही थी। अब ठंडी हवा लगी। थोड़ा सुख हुआ। हवा का ठंडापन बढ़ने लगा। एक निष्कर्ष पर पहुँचने का मन में हठ था। पहाड़ी के एक ओर मैसूर, दूसरी ओर लगभग दस मील की दूरी पर नजनगूडु-इन दोनों के बीच झूलता हुआ उसका मन मानों एक तूफान ही बन गया था। पाँच मिनट बाद आँधी चल पड़ी। सूखे पत्ते, कागज के टुकड़े आदि हवा के भँवर में तीव्र गति से चक्कर काट रहे थे। सारा वातावरण लाल धूल से भर गया। जो मैसूर नगर केवल दस मिनट पहले साफ दिखाई दे रहा था, अब अदृश्य हो गया। वेगवती हवा का एक भँवर पत्थरों से आवृत्त नदी की भँवर की भाँति उसके आसपास चक्कर काट रहा था। कात्यायनी डर गयी। कहीं वह भँवर में न फँस जाय। वहीं पास की एक चट्टान को पकड़कर बैठ गयी। धूप से बचने के लिए आँखें मूँद लीं, क्षणार्ध में तूफान थमा। आँखें खोलीं। आकाश में बादल देखकर आश्चर्य हुआ। एक बादल ने उसके सिर पर आकर धूप रोक दी थी। वह उठी और फिर चढ़ने लगी। गर्मी के

कारण पसीने से भीगे उसके कपड़े शरीर से चिपक रहे थे। ऐसी गर्मी का उसे कभी एहसास नहीं हुआ था। मन गरम तवे की तरह था। श्मशान में धधकती आग उसे अब भी दीख रही थी। चित्त थककर मुरझा गया था। ससुर और राजाराव दोनों स्मृति-पटल से ओझल हो गये थे। कात्यायनी भीतरी गर्मी में उलझी थी।

दस मिनट बाद वर्षा की बूंदें पड़ने लगीं। कात्यायनी ने सिर उठाकर देखा, काले बादल सिर के ऊपर जमे थे। मूसलाधार वर्षा होने लगी। दौड़कर किसी पेड़ के नीचे नहीं गयी, वर्षा झट तेज हो गयी। वह बैठकर वर्षा का आनन्द लेने लगी। करीब पंद्रह मिनट पानी बरसता रहा। पहले का तूफान, लाल धूल, वातावरण को कलुषित करने वाले कूड़ा-कर्कट आदि अब नहीं थे। चारों ओर शांत वातावरण था। नये प्रकाश में मैसूर नगर नया-सा दिखाई दे रहा था। दूर से लघु आकार में दृष्टिगोचर होने वाला कालेज भी नवीनता लिये खड़ा प्रतीत होता था। बादल छंट गये। सूर्य पुनः सिर पर चमकने लगा। लेकिन उसमें न पहले सी तीक्ष्णता थी, न गर्मी ही। अजीब वर्षा है। अचानक आई और उतने ही आकस्मिक रूप से चली भी गयी।

भीगी साड़ी को हवा-धूप में फैलाकर कात्यायनी ऊपर चढ़ने लगी। अब चढ़ना कठिन न था, उसमें एक तरह का आनन्द था। उसे ससुर का स्मरण हो आया। इस तरह के आनन्द को वे जीवन-भर अनुभव करते होंगे, लक्ष्मी को भी इसी तरह के आनन्द का मार्गदर्शन कराया होगा, उनकी सुख-शांति का मूल इसी चढ़ाई में होगा! इसी संबंध में सोचती हुई वह आगे बढ़ती गयी। पांच मिनट में पहाड़ी की चोटी पर पहुँच गयी। वहाँ से मंदिर में गयी। श्रद्धापूर्ण नमस्कार कर बाहर आई और एक पेड़ के नीचे बैठ गयी। उस ऊंचाई पर उसका मन उल्लसित था। मन में कोई द्वन्द्व न था; पाषाण रहित रेतीले समतल में बहती नदी के समान शान्त था। उस शांति में वह एक निष्कर्ष पर पहुंची।

भूख लगने लगी। मंदिर के पास नल से पानी पिया। फिर उसी पेड़ के नीचे बैठ गयी और टिफिन की सामग्री खाने लगी। अब तक

साड़ी सूख गयी थी। नोटबुक पूरी तरह नहीं सूखी थी। पहाड़ी से उतरने में थकावट नहीं आई। श्मशान में जो लोग दूसरा शव लाये थे, वे जा चुके थे। मैसूर नगर की गलियों में धूल नहीं थी। पैर दुःख रहे थे, फिर भी दोपहर बाद चार बजे कालेज पहुँची। राज को अपना निश्चयं सुनाने ही कात्यायनी आई थी यहाँ। नाटक-मंडली का कमरा बंद था। गाड़ी के लिए और एक घण्टे का समय था। कालेज के मँजले पर जाकर सामने के बरामदे में खड़ी हो गयी। पहाड़ी ने पुनः उसे आकर्षित किया। उसे निहारती रही। न जाने कितनी देर इसी तरह खड़ी रही। नीचे देखा तो राजाराव साइकिल लिये खड़ा, कात्यायनी की तरफ देख रहा था। उसके चेहरे पर गंभीरता थी। उसने कहा, "नीचे आओ।"

कात्यायनी राज की ओर न देखकर, पहाड़ी को देखने लगी। दो मिनट चुप रहने के बाद बोली, "आप ऊपर आइए।"

सुबह से प्रतीक्षा करते-करते राज परेशान हो चुका था। उसने इसे उपेक्षा समझा। क्रोध में साइकिल पर सवार हुआ। साइकिल उतार पर अनायास आगे बढ़ती चली गयी।

कात्यायनी की नजर अब भी पहाड़ी पर ही लगी हुई थी।

शाम को घर पहुँची। कपड़े बदलने के बाद उसने ससुर को ऊपर बुलाया। श्रोत्रियजी पूजा के लिए तैयार हो रहे थे, फिर भी वे ऊपर गये। उनके चरण छूकर कहा, "किसी अशुभ घड़ी में मैंने कुछ निर्णय किया था, अब महसूस कर रही हूँ कि वह गलत था। मुझे क्षमा करें।"

"प्रायः सभी के मन में कभी-कभी गलत बात आ ही जाती है। उसके लिए पछताने की जरूरत नहीं। अभ्यास में मन लगाओ।" उन्होंने शांत स्वर में कहा।

वे नीचे उतर रहे थे कि कात्यायनी ने पुनः आवाज दी और सकोच से पूछा, "कल रात की हमारी बातचीत और उस पत्र के बारे में आप ने सासजी को बताया है क्या?"

"नहीं। और बताऊँगा भी नहीं। वह पत्र दीवानखाने में है। जाओ, अपने हाथों से फाड़ दो।" कहकर वे उतर गये।

कात्यायनी सुबह दस बजे से प्रतीक्षा करा रही थी। शाम को चार बजे मिली भी तो उपेक्षा की दृष्टि से। राज को उस पर बड़ा गुस्सा आया। उसने सोचा, शायद अनुमति नहीं मिली होगी! वह जानता था कि जिस सम्प्रदायनिष्ठ समाज में माता-पिता ही ऐसे संबंध के लिए राजी न हों, वहाँ सास-ससुर से स्वीकृति की अपेक्षा रखना मूर्खता है। यह विवाह तब तक संभव नहीं जब तक कात्यायनी स्वयं उन्हें छोड़कर बाहर नहीं निकलती। उसने कल उपेक्षा क्यों की होगी? क्या वह यह कहना चाहती थी कि मैं उसे भुला दूं!

दूसरे दिन भी वह कालेज में कात्यायनी की प्रतीक्षा करता रहा लेकिन वह नहीं आई। दो-तीन दिन स्टेशन तक आकर निराश लौट गया। एक बार सोचा, पत्र लिखा जाय। लेकिन अनुचित समझा। दस दिन बाद उसकी परीक्षा होने वाली है। उसके लिए तो अवश्य आयेगी—इस विचार से मन को तसल्ली देने का प्रयत्न किया। घर में भी समय बिताना कठिन था। कई बार उसने बात करने का प्रयत्न किया लेकिन उसका मन ऐसा जड़ हो गया था कि केवल 'हूँ' कहने के लिए भी हिलता नहीं था। नियमित रूप से भोजन बनाने के अलावा और किसी बात में उसकी रुचि नहीं थी।

एक दिन खाना परोसते हुए नागलक्ष्मी ने पूछा, "पड़ोस में एक ज्योतिषी आये थे। कहते थे श्रीराम-नाम लिखने से अगला जन्म अच्छा होगा। मरने से पहले मैं एक करोड़ श्रीराम-नाम लिखना चाहती हूँ उसके लिए कागज और स्याही आदि ला दो।"

उस दिन शाम को बाजार गया तो वह एक नोटबुक और पैन ले आया। पैन को देखकर कहा, "मैं इससे नहीं लिख सकती। मुझे होल्डर ही ला दो।" दूसरे दिन वह होल्डर लाया। स्याही तैयार की गयी। स्याही की बोतल, होल्डर, नोटबुक तीनों भगवान के सामने रखकर हल्दी-कुंकुम, फूलों से पूजा की। पुस्तक उठाकर श्रद्धापूर्वक आँखों से लगाई। तत्पश्चात् बाहर आकर राज से बोली, "एक पंक्ति में कितनी बार श्रीराम लिखूँ और इस पुस्तक में कुल कितने नाम होंगे?

एक करोड नाम लिखने मे इस तरह की कितनी किताबें लगेंगी ? हिसाब लगाकर बता दो।"

नोटबुक के पन्ने की पक्तियाँ गिनने के बाद राज ने कहा, "एक पंक्ति मे दस बार श्रीराम लिखा जाये तो एक पन्ने मे दो सौ नाम होंगे। दो सौ पन्ने की इस पुस्तक में कुल चालीस हजार नाम होंगे । इस प्रकार ढाई सौ पुस्तकें पूर्ण करोगी तो एक करोड नाम होगें।"

"ठीक है ! जैसे-जैसे मैं समाप्त करती जाऊँ, नयी कापी और स्याही ला दोगे न?"

"अवश्य ला दूँगा। केवल नाम लिखोगी तो क्या मिलने वाला है ?"

"केवल नाम कौन लिख रहा है ? श्रद्धा से लिखूँगी।"

उसकी श्रद्धा को देखकर राज को मन-ही-मन हँसी आ गई, लेकिन प्रकट नही होने दी । नागलक्ष्मी ने श्रीराम-सेवा प्रारंभ की। पुस्तक की हर पंक्ति मे दस बार 'श्रीराम-श्रीराम-श्रीराम' लिखती रही । हर पृष्ठ के अन्त मे 'श्रीराम जयराम जय-जय राम सीताराम' लिखकर समाप्त करती। माध्यमिक शाला मे पढ़ते समय वह लिखती थी। राज जब विदेश में था, उसे वही पत्र लिखती थी। इन दिनों लिखने की आदत ही छूट गयी थी। अतः पहले-पहल लिखते समय अँगुलियों मे दर्द होता था। लिखावट में गति भी नही थी। उसे अपनी मृत्यु तक, करोड़ों नाम लिख डालने थे । इसी विचार से वह धीमी गति से लिखती जा रही थी। पहले अवकाश के समय अन्यमनस्क नागलक्ष्मी को अब समय बिताने का एक आधार मिल गया।

राज परीक्षा के दिनों की प्रतीक्षा मे था। उसे भी निरीक्षक का काम सौंपा गया था। परीक्षा प्रारंभ होने से आधा घंटा पहले उसे आफिस पहुँच जाना चाहिए था, और परीक्षा समाप्त होने तक वही रहना पड़ता था। अतः छह दिन से कात्यायनी से भेंट ही न हो सकी । सातवें दिन सौभाग्य से राज उसी कमरे मे निरीक्षक बना जिसमे कात्यायनी परीक्षा दे रही थी। राज को अन्दर प्रवेश करते देख वह भ्रमित हो गयी। उस दिन वह ठीक-ठीक उत्तर न दे सकी। बीच में एक बार मौका देखकर, उसके पास झुककर राज ने धीरे से कहा,

"परीक्षा के वाद मुझ से मिलना।"

विह्वलता भरा उत्तर मिला, "हूँ।"

परीक्षा के वाद वह मिली। दोनों कालेज के पश्चिम में एक पेड़ के पास आये तो कात्यायनी ने कहा, "आप मुझे भूल जाइए।" आवाज भारी थी।

"ऐसा क्यों कहती हो?"

"कुछ न पूछिए! आपने एक अयोग्य स्त्री से प्यार किया है। किसी अन्य लड़की से शादी करके सुख से रहिए। मैं उम्र में आपसे वड़ी लगती हूँ।" उसकी आँखें भर आई थीं।

"अव हममें से कोई अधिक न वोले। भविष्य में हम दोनों का मिलना असम्भव है।" कहकर वह जल्दी-जल्दी वहाँ से चल पड़ी। राज अवाक्-सा उसकी ओर देखता रहा।

दूसरे दिन प्रधान निरीक्षक से निवेदन करके उसने कमरा वदल लिया। उसका मस्तिष्क शांत हो उठा था। गत छह महीने से राज के जीवन को नया मोड़ देने वाली, कात्यायनी वोलने का अवसर न देकर, इस प्रकार का उत्तर देकर चली गयी थी। उसके दिल, दिमाग और भावनाओं को नयी जिंदगी देने वाली युवती को वह कैसे भूल सकता है? इस जन्म में तो असंभव है। उसे पाने का मार्ग भी राज को दिखाई नहीं दे रहा था। उसकी आँखें डवडवा आयीं। उसने अपने अध्ययन के सिलसिले में पढ़ा था कि अपार दुःख में ही मानव अपने अस्तित्व को पहचानने लगता है। उसने मन-ही-मन सोचा कि ऐसा अनुभव और किसी को न मिले। मन की व्याकुलता को रोकने में असमर्थ होकर एक दिन वह नागलक्ष्मी को हाल सुनाने लगा तो वह वोली, "यह दुनिया ही ऐसी है। तुम भी राम-नाम लिखो। मन को शांति मिलती है। फिर किसी अन्य लड़की से शादी कर लो।"

"तुम यह वात समझ नहीं सकतीं", कहकर वह वाहर चला गया।

अगर अंत में यही उत्तर देना था तो प्रारंभ में उसने मेरे प्रति आत्मीयता क्यों दिखाई? इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिला। केवल तेईस पार करने वाली सुघड़ सुंदर युवती के मुख से 'मैं उम्र में आपसे वड़ी

लगती हूँ' सुनकर राज की ग्रहण-शक्ति भ्रमित हुई जा रही थी। अपने आपको कैसी मिथ्या कल्पना से आबद्ध किया है! उसे आश्चर्य हुआ। उसके साथ बिताये हुए दिनों की याद में ही उसका मन पिघल गया।

जिस दिन परीक्षा समाप्त हुई, कात्यायनी का मन राज को देखने के लिए मचल उठा। लेकिन उसी ने राज को अपने से दूर कर दिया था। एक बार सोचा, मित्रता के नाते गुरु के पास जाकर कृतज्ञता व्यक्त करनी चाहिए। लेकिन इस विचार को त्याग, नंजनगूडु की गाड़ी पकड़-कर घर पहुँची। सास से कहा, "आज से रोज मैसूर जाने से मुक्ति मिली।"

"हाँ री, इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुई तो उसका नाम रहेगा।" भागीरतम्मा ने अपने स्वर्गीय पुत्र का स्मरण किया।

अब कात्यायनी अपने बेटे के साथ पहले की अपेक्षा अधिक समय बिताने लगी थी। चीनी पाँच साल का हो गया। इस साल उसे स्कूल भेजना पड़ेगा। इस बार चैत्र-वैशाख में शुभ मुहूर्त देखकर उसका मुंडन-संस्कार करा, चाँदी के सिक्के से शहद चटाकर, चावल से भरी थाली पर श्री ओ३म् लिखवाने का कार्य नियमित रूप से होना चाहिए। भागीरतम्मा पोते के मुंडन-संस्कार पर लड्डू आदि खाने की चीजों की तैयारी बड़े पैमाने पर करने की सोच रही थी। उन कर्मों पर श्रोत्रिय-जी का विश्वास था। तीसरे वर्ष में ही बालक का मुंडन-संस्कार होना चाहिए था। एक तरह की उदासीनता के कारण उस समय उन्होंने वैसा नहीं किया था। यह कार्यक्रम यद्यपि धूमधाम से मनाने की उत्सुकता उनमें नहीं थी, फिर भी अगर उससे घर के सदस्यों को खुशी होती है तो उन्हें कोई एतराज नहीं था।

चीनी की बातों का कोई अंत नहीं होता था। जिस किसी चीज को देखता, तो 'क्या है यह? क्यों है? कहाँ से आई है? यह यहाँ क्यों है?'—सैकड़ों प्रश्न पूछता। और उसके प्रश्नों का उत्तर देते-देते दादा-दादी थक जाते। वह अब लक्ष्मी के साथ गायों के पीछे-पीछे भी जाता। कई दिनों से हठ कर उसी के पास सोने भी लगा।

परीक्षा के बाद कुछ दिनों तक कात्यायनी उदास रही। फिर सोचा, धीरे-धीरे अपने-आप ठीक हो जायेगा—घर के कामों में अधिक समय बिताने की कोशिश करने लगी। स्वयं ही कुछ काम ढूंढ़ निकालती। दोपहर के समय भगवद्गीता भी पढ़ने लगी। सुबह स्नान के पश्चात् पूजा का तीर्थप्रसाद लेती। एक महीना बीत गया। लेकिन उसकी उदासी दूर नहीं हुई। अपितु चित्त की अशांति बढ़ती गई। रात को ऊपरी मँजले से उतरकर वह नीचे सास के पास सोने लगी। प्रारंभ से ही अभ्यस्त होने के कारण चीनी दादी के पास ही सोता था। कात्यायनी को रात में नींद न आती। सदा राज की याद आती। "वे अब क्या करते होंगे? क्या मुझे इसी तरह याद करते होंगे? उस दिन की मेरी उन बातों से क्रुद्ध तो न हुए होंगे? या दूसरी किसी लड़की से शादी कर लेने का निर्णय न कर लिया होगा?" यह कल्पना भी उसके लिए असह्य थी कि राज किसी और लड़की से शादी कर रहा है।

मन कल्पना के जाल बुनने लगता तो वह भगवद्गीता उठा लेती। श्लोकों को एक-एक कर पढ़ती, उनके अर्थ समझने का प्रयत्न करती। उसकी बुद्धि तो उन्हें समझ लेती, लेकिन मन ग्रहण न करता। भगवद्-गीता के श्लोकों में निहित विचार को लाँघकर उसका अपना विचार-प्रवाह आगे बह जाता। स्व-निर्मित सुन्दर नाव में राज के साथ बैठकर उसका मन विहार करने निकल जाता। जैसे-जैसे दिन बीतते गये, वैसे-वैसे कात्यायनी की उदासी भी बढ़ती गई। जीवन का उद्देश्य समझ में न आया। खाने-पीने में रुचि नहीं। सदा आशा-निहित उसकी काया अग्निज्वाला में फँसी कोमल लता-सी मुरझाती जाती थी। शारीरिक शक्ति घट रही थी। शारीरिक शक्ति जितनी घटती गई, आशा-शक्ति उतनी ही प्रबल होती गई। ज्ञान, प्रकृति इन दोनों के संघर्ष में प्रकृति की जीत होती और जीवन निराशा के अंधकार में छिप जाता। आठों पहर खाते-पीते, उठते-बैठते राज ही आँखों के सम्मुख आता। उसके साथ टहलने जाना, शरीर-से-शरीर सटाकर बैठना, वृंदावन का प्रवास, प्यार की बातें हँसी-मजाक—सब स्मरण होने लगते। जो अनुभव कुछ दिन पहले चाँदनी-से शीतल थे, वे स्मृतियाँ अब श्मशान की अग्नि-सी जलाने लगीं। एक दिन सुबह एक कौर भी खा न सकी। दोपहर के

विश्राम में आँखें न लगीं। रात के भोजन के पश्चात् हाथ धोते-धोते उलटी हो गई। रात सोई तो शरीर तपने लगा। बुखार आ गया था। रात-भर करवटें बदलती रहीं। सोचा, शायद नहीं जिऊँगी। रात के लगभग दो बजे एक विचार आया, "ससुर से कहकर कल ही मैसूर चली जाऊँ। लेकिन उनसे कैसे कहा जाय? उनके सम्मुख खड़े होकर बोलने की कल्पना से ही वह डर जाया करती थी। साँप को देखने पर जो भय होता है, वैसा भय नहीं; अपितु अपराधी को भगवान के स्मरण से जो भय होता है, वैसा भय। उन्हें बताये बिना कैसे जाय? अगर ऐसे ही चली गई तो क्या उनके विश्वास को आघात नहीं लगेगा? प्रश्न प्रबल होते गये, लेकिन मन कह रहा था कि उन्होंने ही तो कहा था कि किसी भी कार्य में उसे पूरी आजादी है।" विवेक ने प्रश्न किया, "फिर भी बिना बताये जाना क्या आजादी का लक्षण है?"

मन के तीव्र प्रवाह के सम्मुख औचित्य-अनौचित्य का विचार टिक न सका। अपने भावी नये पात्र के संबंध में निश्चय कर लिया। उस पात्र को स्वीकारना होगा अथवा उसी के लिए जीवन बिताना पड़ेगा। मरने के लिए वह तैयार न थी।

दूसरे दिन उठते ही उसने सास से कहा "भूल गई थी। आज हमारी 'मैडम' की शादी है। मुझे भोजन के लिए बुलाया है। आज तीन तारीख है। मैं मैसूर हो आती हूँ।"

श्रोत्रियजी पूजा में थे। भागीरतम्मा ने कहा, "हो आओ।"

सफेद साड़ी पहनकर कात्यायनी बाहर निकली। चीनी ने पूछा, "माँ, कहाँ जा रही हो?" उसे बेटे की याद आ गई। यह सोचकर कि जब तक वह स्वयं नहीं जाती, बच्चे को कैसे ले जाय। चीनी के पास जाकर उसके दोनों गालों को चूम लिया। चीनी "माँ, मैं भी चलूँगा"—कहकर रोने लगा, तो "तू बाद में आना बेटा" कहकर जल्दी-जल्दी वहाँ से चल दी। उस गली से घूमते समय उसने एक बार मुड़कर देखा तो उसकी आँखों में आँसू थे। रोज की गाड़ी मिली। मैसूर पहुँचने तक उसकी छाती की धड़कन बढ़ती जा रही थी।

राज के घर पहुँची। द्वार खटखटाया। पृथ्वी ने द्वार खोला। "चाचा कहाँ हैं?" पूछने पर उसने कमरे की ओर संकेत किया। वह अंदर

प्रविष्ट हुई। राज को देखकर उसे विश्वास न हुआ। वह इतना दुबला हो चुका था कि केवल अस्थि-पंजर ही दीख रहे थे। दाढ़ी बढ़ गई थी। पहने हुए कपड़े मैले हो गये थे। उसने कात्यायनी को शंका की दृष्टि से देखा। कात्यायनी ने द्वार बंद किये। राज के पास जाकर उसके सीने पर अपना सिर रख दिया। फिर कहने लगी, "विश्वास कीजिए, मैं अब वहाँ नहीं जाऊँगी। चलिए, समाज के सम्मुख आज ही हम पति-पत्नी बन जायें।"

कात्यायनी की बात पर राज ने तुरन्त विश्वास नहीं किया। विस्मयपूर्ण आँखों से वह कात्यायनी को निहारने लगा। कात्यायनी ने कहा, "मुझे देखिए, पहनी हुई साड़ी में ही निकल आई हूँ। जैसे आप चाहेंगे, शादी कर लेंगे—सिविल मैरेज, मंदिर में अथवा कहीं और। मुझे सब स्वीकार है। यदि आप यों ही अपने पास रखना चाहें तो वह भी मुझे स्वीकार है। कुछ भी हो, आप मेरे पति हैं।" कहकर अपनी बाँहों में भर लिया। राज को उसकी बातों पर विश्वास हुआ। उसने भी कात्यायनी को बाँहों में कस लिया। दोनों के मन का संघर्ष शांत हुआ। छाती की धड़कन थमी और आनन्द-विभोर हो कात्यायनी अपने-आपको भूल गई।

१५

शाम को छह बजे तक कात्यायनी नहीं लौटी, तो घरवालों ने सोचा शायद रात को दस बजे की गाड़ी से आयेगी। कालेज की गर्मी की छुट्टियाँ होने के कारण रात को अकेली लौटेगी, इस विचार से श्रोत्रियजी स्टेशन तक गये। गाड़ी आई, लेकिन कात्यायनी नहीं। थोड़ी देर तक प्लेटफार्म की बेंच पर बैठकर राह देखी, बहू के न आने के बारे

में सोचने लगे। उन्होंने ताड़ लिया था कि गत एक-दो सप्ताह से बहू का मन बेचैन है। लेकिन उस सम्बन्ध में सोचना अनुचित समझा। वह पाँच वर्ष के लड़के की माँ है। घर के व्यवहार में लगी हुई है। इस साल बी० ए० भी कर लेगी। अपनी जिम्मेदारी, धर्म-कर्म वह जानती है। यह सोचकर उसकी असामान्य मनोदशा को पुनः छेड़ना नाजुक विषय है—उन्होंने उस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। एक बार उन्होंने सोचा, शायद राज के पास गयी होगी, लेकिन इस तरह की शंका करना उचित न समझा। घर लौटकर उन्होंने कहा—"इस गाड़ी से भी नहीं आई। दादी में गई है। वहीं रहने के लिए आग्रह किया होगा। कल आ जायेगी।"

उस रात चीनी भी नहीं सोया। नींद आने से पहले एक-दो बार माँ की पूछताछ की। दादी ने जब 'कल आने' की सान्त्वना दी तो सो गया। रात बीती। 'कल' आया। मैसूर से आनेवाली सुबह की गाड़ी भी चली गयी। सब भूलकर श्रोत्रियजी पूजा में लग गये थे। लगभग नौ बजे पूजा समाप्त कर, भागीरतम्मा, लक्ष्मी, चीनी को तीर्थ देने के पश्चात भागीरतम्मा ने उनके हाथ में एक लिफाफा थमा दिया। डाक द्वारा आया था। उस पर लिखे पते से ही श्रोत्रियजी समझ गये कि कात्यायनी का पत्र है। उनका अंतःकरण तुरन्त सारी बातें समझ गया था। लिफाफा तुरन्त न खोलकर, एक-दो मिनट बाद मनःस्थिति कुछ स्थिर होने के पश्चात्, दीवानखाने में गये। पाँच मिनट बाद उसे खोला। पूरे चार पन्नों का उनकी बहू का ही पत्र था। उनकी कल्पना सच निकली। गत बार उनसे अनुमति लेते समय की मनोदशा, अपने पूर्व निर्णय से विमुख होना, अन्तर्वेदना आदि का विवरण देकर उसने लिखा था—"आपके उत्तुंग व्यक्तित्व की प्रेरणा से मैंने संयम साधने का प्रयास किया, लेकिन असफल रही। हर व्यक्ति का अपना वैशिष्ट्य, शक्ति और सीमाएँ हैं। जाने से पहले सारी बातें बताना चाहती थी, लेकिन आपके सम्मुख खड़े होने की हिम्मत न कर सकी। दो-तीन दिनों में, एक सामाजिक समारोह में, मेरा विवाह होगा। उस अवसर पर आपको आमन्त्रित करने की धृष्टता नहीं कर सकती। लेकिन आपके चरणों में नमस्तक हो निवेदन करती हूँ कि मेरे नूतन विवाहित जीवन

की सुख-शांति के लिए हार्दिक आशीर्वाद दें।"

श्रोत्रियजी मूकवत् बैठे रह गये। उसकी मनोदशा की कल्पना न कर सके। फिर भी, उसके प्रति क्रोध प्रकट नहीं किया। प्रकृति के आकर्षण से अपने-आपको न बचा पाने वाली एक अभागिन का चित्र उनकी आँखों में घूम गया। मन सहानुभूति से भर गया। जिस दिन से वह बहू बनकर घर आई थी, उसके आचार-विचार का उन्होंने स्मरण किया। उसने कभी अपने सास-ससुर के सम्मुख खड़े होकर आघात पहुँचाने वाली बातें न की थीं। उनकी सेवा इस तरह करती रही थी मानों वे ही उसके माता-पिता हों। पति के जीवन-काल में वह प्यारी पत्नी रही। उस घराने के लिए श्रोत्रियजी द्वारा अपेक्षित सारे गुण उसमें निहित थे। अंत में इस तरह घर से निकल खड़ी हुई।

उन्हें अपने घराने की याद आ गई। श्रोत्रिय-वंश में ऐसा कभी नहीं हुआ था। घर में श्रोत्रिय-वंशावली थी। उसमें लगभग गत बारह पीढ़ियों का विवरण था। इन बारह पीढ़ियों से पहले की जड़ इतनी गहरी थी कि वह दृष्टिगोचर नहीं हो रही थी। उनका विश्वास था कि वह गहराई में छिपी ऐसी जड़ है जो सजीव और पवित्र है। उनके घर में लिखित वंशावली में अकाल मृत्यु को प्राप्त लोगों के नाम हैं एक पत्नी के रहते हुए दूसरी शादी कर लेनेवालों का भी उल्लेख है, विधवाओं के नाम भी हैं, लेकिन उन्होंने कभी कात्यायनी की तरह नहीं किया था। दूसरे वंश से कन्यादान के रूप में प्राप्त हुई एवं इस वंश में स्वीकारी हुई तथा इसी वंश में अंतिम साँस लेने वाली स्त्रियों के नाम भी मिलते हैं। जिस तरह महानदी में विलीन होती सहायक नदियों को अपना निजत्व बचाना असाध्य है, उसी तरह इस वंश में आई कन्या का दूसरे वंश से सम्बन्ध जोड़ना असम्भव था। कात्यायनी के इस कदम से इ वंश के इतिहास पर अमिट कलंक लगा है। भविष्य में वह जिस वंश व होकर जीना चाहती है, क्या उसकी पवित्रता बच सकती है? उसे र अपनाना चाहते हैं, क्या उन्हें अपने वंश की पूर्ण जानकारी होगी द्वितीय प्रश्न उनके प्रथम प्रश्न का उत्तर था।

वे विचार में डूबे हुए थे कि घड़ी ने बारह के घंटे बजाये। दीव खाने में भागीरतम्मा आकर कहने लगी, "ऐसे कैसे बैठ गये? भो

के लिए उठिए। वह अभी तक नहीं आई। यह पत्र कैसा है ?"

"किसी व्यवहार से संबंधित है ।"—कहकर श्रोत्रियजी भोजन के लिए उठे। दादा के साथ चीनी रोज की तरह बैठा। मनपसंद माँग-माँगकर भर पेट खाया। श्रोत्रियजी खा नहीं सके। प्रयत्न करने पर भी मुँह का कौर गले से नीचे न उतार पाये।

"आज क्या हो गया है आपको ? तबीयत ठीक नहीं है क्या ?" भागीरतम्मा ने पूछा।

"तुम लोग खा लो। न जाने क्यों नहीं आ रहा है।" वे उठ गये। लक्ष्मी और भागीरतम्मा के भोजन के पश्चात् दोनों को भीतर कमरे में बुलाकर बिठाया। कात्यायनी-संबंधी समाचार पढ़ सुनाया।

भागीरतम्मा स्तब्ध रह गयीं। पूछने लगी, "तो क्या पहले भी उसने आपसे बात की थी ?"

"हाँ !"

"हमें क्यों नहीं बताया ?"

"उसने न बताने का अनुरोध किया था। साथ ही, स्वयं सोच-समझकर उसी ने कहा कि यह विचारधारा गलत थी।"

"अब ऐसा कर लिया न ! उसे अपनाने वाला कौन है ?"

"डॉ० सदाशिवराव को जानती हो न ? उनका छोटा भाई राजाराव !"

"अच्छा ! भागीरतम्मा के क्रोध का पारा चढ़ गया। हमारे घर का नमक खाकर डॉ० राव के भाई ने यह कार्य किया ?"

"भाई ने किया तो वे क्या करें ?"

"छोटे भाई को समझाने के लिए बड़े भाई की जबान नहीं है ?"

"शायद बड़ा भाई यह नहीं जानता। वे अब दूसरी पत्नी के साथ रहते हैं।" श्रोत्रियजी ने, डॉ० राव की दूसरी शादी के बारे में जितना वे जानते थे, वह सुनाया।

"आपसे किसने कहा ?"

"कात्यायनी ने ही कहा था।"

"उसने सब-कुछ बताया था। हमें आपने कुछ नहीं बताया। पापिन ! कुलटा ! भोली-भाली बनकर जिस घर में आई, उसी घर

कलंक लगा गयी। अच्छा होता वह मर जाती......!" भागीरतम्मा बहू, राजाराव और उसके भाई डॉ० सदाशिवराव—तीनों को अभिशाप देने लगी।

"ऐसी बातें तुम्हारे मुख से नहीं निकलनी चाहिए। इस उम्र में भी तुम्हें सहन नहीं होता?" श्रोत्रियजी ने शांत करना चाहा, लेकिन व्यर्थ।

"आप चुप रहिए। इतनी उम्र होने पर भी आपको अनुभव नहीं आया। उस कुलटा को कालेज भेजने को मैंने मना किया था, लेकिन आपने मेरी एक न चलने दी। पति का नाम रखने के लिए कालेज गयी और पति के वंश पर कलंक लगा दिया। पति के मरते ही सिर मुंडाकर, लाल साड़ी पहना देनी चाहिए थी। स्वर्गीय पुत्र के स्थान पर "मेरी बहू-मेरी बहू" कह, लाड़-प्यार से आपने ही उसे सिर पर चढ़ा रखा था। उसने आपके योग्य ही कार्य किया। कहिए, अब भी मेरी बात सुनेंगे या नहीं? इज्जत तो बचानी चाहिए।"

"क्या कहना चाहती हो? शांति से कहो।"

"आपकी सहनशक्ति आपको मुबारक हो। मैं जैसा कहती हूँ, वैसा कीजिए। लिखा है न कि शादी दो-तीन दिन में हो जायेगी। चलिए, मैं भी चलती हूँ। उसके होने वाले पति की मंगलारती उतारकर, बहू की खोपड़ी में चार जमाकर उसके केश पकड़कर घसीट लायें।"

श्रोत्रियजी चुपचाप पत्नी की सलाह पर सोच रहे थे। भागीरतम्मा ने फिर पूछा—"चुपचाप क्यों बैठे हैं?"

"हमारे मैसूर जाने से कोई लाभ नहीं। वह अब अबोध बच्ची नहीं है। उसके मन में भी कम द्वन्द्व नहीं चला था। जबर्दस्ती करें तो भी अधिक दिन टिकने वाली नहीं है। सब अपने पूर्वजन्म के कर्म के अनुसार चलते हैं।"

"आप हमेशा वेदांत ही बघारते हैं! आप धर्मराज हैं? घर में बैठे रहिए! मैं लक्ष्मी को ले जाकर घसीटकर लाती हूँ।"

अब तक चुपचाप सारी बातें सुन रही लक्ष्मी बोली—"शीनप्पा का कहना ठीक है। जबर्दस्ती ले आने से कोई लाभ नहीं। वह भी उसका कर्म है।"

"तू मुझे वेदांत पढ़ा रही है।" भागीरतम्मा कह रही थी कि "लक्ष्मी

इसे समझाओ" कहकर श्रोत्रियजी वहाँ से उठकर अपने अध्ययन-कक्ष में चले गये। उनका मन भी विचलित हो चुका था

'श्री प्रकाश भोजन और वसतिगृह हॉल' में बीस-तीस मित्रों की उपस्थिति में राज और कात्यायनी ने एक-दूसरे को पुष्पमाला पहनाई। पुरोहित ने वर के हाथों वधू को मंगलसूत्र पहनवाया। इस एक घंटे के पौरोहित्य कार्य के लिए पंडित ने पचास रुपये लिये थे। उपस्थित मित्रों ने अक्षतों द्वारा आशीर्वाद दिया, उपहार दिये और वैयक्तिक रूप से वर-वधू का अभिनन्दन किया। सभी राज के मित्र थे। गर्मी की छुट्टियाँ थीं, दो ही दिनों में विवाह भी होना था, इस कारण अधिक लोग नहीं आ सके थे। घर से बाहर निकलने का उत्साह न होते हुए नागलक्ष्मी भी होटल में चली आई थी। दोनों पक्षों से कन्यादान देने या लेनेवाला कोई बुजुर्ग न था। कलकत्ता विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में उपलब्ध कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथों के अध्ययनार्थ डॉ० राव, रत्ने के साथ कलकत्ता गये हुए थे। अतः इस बारे में वे कुछ नहीं जानते थे। राज और कात्यायनी के प्यार के बारे में उन्हें कुछ भी मालूम नहीं था।

विवाह-कार्यक्रम समाप्त हुआ। वे उसी होटल के एक कमरे में गये और द्वार बंद किया। लक्ष्मी के चरण छूकर कात्यायनी बोली, "दीदी, मैं नहीं जानती कि मैंने जो कुछ किया, उससे आप सहमत हैं या नहीं। आप घर की मालकिन हैं। ज्योतिषीजी ने यद्यपि कन्यादान-विधि नहीं निभाई, तो भी आपने मुझे अपना लिया है। मुझे मार्गदर्शन दें।"

निरासक्त भाव से नागलक्ष्मी ने कहा—"राज की पत्नी हो, अतः तुम हमारे घर की हो हो। मैं सीख गई हूँ कि गृहस्थी में रहकर कैसे उससे अछूता रहा जा सकता है। भविष्य में हम सबको चलाने की जिम्मेदारी तुम्हारी है।"

बाहर भोजन की सारी व्यवस्था हो चुकी थी। पत्तलें बिछ गयीं थीं। उपस्थित मित्रों के आग्रह के अनुसार नवदम्पति साथ ही खाने बैठे। मीठा, नमकीन, तीखी चीजें, फल, दही, छाछ आदि परोसे गये। खाते-खाते मित्र परस्पर बोल रहे थे: एक ने कहा, "राजाराव बड़ा

लक्की है, चान्स मार दिया। लड़की विधवा है तो क्या हुआ, बड़ी डीसेंट है। इतनी लवली है कि चार बार विधवा हुई हो तो भी शादी हो सकती है।" दूसरा तुरन्त बोल उठा, "इस विचार से अगर तुमने उससे शादी कर ली तो वह बेचारी पांचवी बार विधवा हो जायेगी, सावधान रहना।" "बड़े भाई की तरह ही छोटा भाई भी रोमांटिक है। शायद खानदानी परम्परा है।"—दूसरे दो-तीन मित्रों ने कहा। "अरे हाँ, डॉ० राव तो कहीं दिखाई नहीं दे रहे हैं? तो दूसरा बोला, "पाणिग्रहण के समय पीले रंग की साड़ी पहने जो महिला राजा-राव के पास बैठी थी, वह डॉ० राव की पहली पत्नी है।" तीसरे ने समझाने की कोशिश करते हुए कहा, "नो-नो, यू हैव मिस्टेकन। वे शोध-कार्य के लिए कलकत्ते गये हुए हैं। इस बारे में वे कुछ नहीं जानते। डॉ० राव को रोमांटिक नहीं कहना चाहिए। वे अपने-आपको भूलकर शोध-कार्य में लगे रहने वाले विद्वान् हैं।" चौथे ने जो अब तक चुप था, और जिसने कभी राज के नाटक में एक बार अभिनय किया था, कहा—"महोदय, भोजन बढ़िया बना है! उसे छोड़कर खिलानेवालों पर ही 'कमेंट' करने चले हैं।" सब लोग खाने में लग गये। भोजन परोसते समय संस्कृत के प्रवक्ता ने सस्वर दो श्लोक सुनाये। एक ने 'शांताकारं भुजगशयनं' सुनाया। गत वर्ष अन्तर्कालिज गायन स्पर्धा में जिसने पुरस्कार पाया और इस वर्ष एम० ए० का विद्यार्थी है, उसने गाया—"भृंगद बेन्नेरिवंतु कल्पना विलास...।" इस गीत की समाप्ति के पश्चात् सबके बायें हाथ से जांघ पर ताल देने तक ताक-भात समाप्त हो गया था। तांबूल लिया। वैयक्तिक रूप से सब पुनः वर-वधू का अभिनन्दन कर चले गये। राज ने होटल का बिल चुकाया और राज, कात्यायनी, नागलक्ष्मी और पृथ्वी के साथ तांगे में घर लौटे।

विवाह के बाद लगभग पन्द्रह दिन तक नवदम्पति संसार को भूले रहे। नागलक्ष्मी ने नित्य की भाँति खाना पकाया। पृथ्वी पास-पड़ोस के बच्चों के साथ खेलने खिसक जाता। राज-कात्यायनी कमरे में घुसे रहते। बाहर नहीं निकलते थे। उन्हें सिनेमा-नाटक किसी में रुचि नहीं थी। वे परस्पर अपना वह विरह-अनुभव सुना रहे थे, जब उन दोनों को एक-दूसरे से अलग रहना पड़ा था। दोनों परस्पर अपने मिलन में छिपे

अद्वैत अनुभव को अनंत बताते। राज उस अनुभव को अनंत, अमर, सत्य, निरन्तर आदि शब्दों में वर्णन करता। वह अब अमरत्व की बात मानने लगा है। कात्यायनी के अनन्य सौंदर्य की वह प्रशंसा करता तो वह राज के आकर्षक मुख-मंडल का वर्णन करती। रात को दिन में और दिन को रात में बदलकर, प्रकृति-पुरुष के सम्मिलन में समय अपना नियम खो चुका था।

पहली हुई साड़ी में ही आई हुई कात्यायनी के लिए राज ने नये-नये डिज़ाइन की साड़ियाँ खरीदीं। उन्हें पहनकर, सिर में फूल खोंसकर माथे पर सिंदूर लगाकर आईने में अपने को देखती तो कात्यायनी को लगता कि उसका स्त्रीत्व सार्थक हो रहा है। राज उसे अपनी बाँहों में भर लेता, उसके अंग-सौष्ठव की प्रशंसा करता तो वह सार्थकतापूर्ण भावों में विभोर हो जाती। अपने पति को सिर नवाकर चुपचाप अपने आपको उसकी बाँहों में सौंप देती। इस भाव से आनन्द उमड़ पड़ता कि उनका अस्तित्व परस्पर एक-दूसरे के लिए ही है।

कुछ दिनों के बाद कात्यायनी नागलक्ष्मी के काम में हाथ बँटाने लगी। वह आती तो नागलक्ष्मी 'ना' नहीं कहती, और नहीं आती तो बुरा नहीं मानती। उसे अपना काम करना ही है। काम से निपटने के पश्चात् 'श्री रामनाम' लिखने में खो जाती। कात्यायनी कभी बात करने का प्रयत्न करती तो वह उत्साह नहीं दिखाती। इस स्थायी परिवर्तन को समझकर कात्यायनी भी उससे अधिक बात करने का प्रयास नहीं करती थी। हो सका तो भोजन बनाने में हाथ बँटा देती।

पृथ्वी पहले से ही कात्यायनी को जानता था। वह यह भी जानता था कि उसकी शादी उसके चाचा के साथ हुई। रास्ते में खेलते समय अन्य लड़कों ने कहा था, "तेरे चाचा ने विधवा के साथ शादी कर ली है।" वह इसका अर्थ भी जानता था। सात साल के पृथ्वी की बुद्धि विलक्षण थी। राज के कहने पर वह उसे 'चाची' कहकर पुकारता। चाचा पृथ्वी को पहले की तरह ही प्यार करता था। कभी-कभी उसे साइकिल पर बिठाकर ले जाता। कात्यायनी उसे पास खींचकर उसके सिर पर हाथ फेरती। चाची के साथ सुनकर रहने में वह झिझकता और वहाँ से भागने की कोशिश करता। लेकिन चाची बुरा न मान जाय,

इस ख्याल से वहीं खड़ा रहता। कभी 'आप' संबोधन करता तो कात्यायनी कहती, "नहीं, जिस तरह अपने चाचा को 'तुम' कहते हो, उसी तरह मुझे भी 'तुम' कहा करो। "राज ने भी यही कहा। उसके बाद वह कहता, "चाची यहाँ आओ, यह देखो।" कभी-कभी उसके लिखे पाठ देखकर, गलतियाँ सुधारती।

पृथ्वी को देखते ही कात्यायनी को चीनी का स्मरण हो आता। उसी के गर्भ का मांस-पिंड है चीनी। घर से निकलते समय उसने 'माँ, मैं भी चलूँगा" कहा था तो "तू बाद में आना बेटा" कहकर आई थी। अब उसे बच्चे की याद सताने लगी। पहले पृथ्वी को देखने से चीनी की याद आती थी, लेकिन अब उठते-बैठते खाते-पीते हर क्षण चीनी का चेहरा उसकी आँखों के सामने घूमता रहता। अतः उसने निश्चय किया कि बच्चे को ले आना ही ठीक होगा। कभी-कभार सास-ससुर की भी याद आ जाती। कभी यह भी सोचती कि बच्चे को ले आऊँ तो उनको कौन सहारा देगा। उनके बुढ़ापे के बारे में सोचती तो उनके प्रति सहानुभूति जाग पड़ती। उसकी अंतरात्मा की गहराई से एक मद्धिम ध्वनि निकलकर कहती, उन्हें छोड़कर शायद उचित नहीं किया। लेकिन उसका मन उसे छिपाता रहा—बच्चे को वहाँ छोड़ने की कल्पना उसके लिए असह्य थी।

एक दिन रात को लेटे-लेटे कात्यायनी ने राज से पूछा—"चीनी को ले आने के बारे में आपका क्या विचार है?" राज मौन रहा। कात्यायनी ने पुनः पूछा—"क्यों, चुप क्यों हैं?"

"कुछ नहीं!" कुछ स्मरण करते हुए उसने कहा, "मैंने तो पहले ही कहा था कि ले आओ। वह भी तो हमारा ही बच्चा है।"

इस उत्तर से कात्यायनी को अपार आनन्द हुआ। अपनी दोनों भुजाओं में पति को कसकर कहा, "आप कितने अच्छे हैं! उसे लिवा लाने के लिए क्या मेरे साथ नहीं चलेंगे?"

"मेरा चलना ठीक नहीं, तुम्हीं हो आओ।"

"उनके सम्मुख जाकर 'बच्चे को ले जा रही हूँ' कहने की हिम्मत मुझ अकेली में नहीं है। आप होंगे तो बोल सकूँगी।"

कुछ सोचकर राज ने सलाह दी—"सबसे पहले पत्र द्वारा उन्हें

पूर्व-सूचना दे दो कि अमुक दिन आ रही हूँ। बच्चे को साथ भेजने की बात लिख दो। उसी दिन वहाँ पहुँच जाओ। तब बात प्रारंभ करना कठिन नहीं होगा।"

दूसरे ही दिन वह पत्र लिखने बैठी। लेकिन लिखते समय कुछ सूझता ही नहीं था। हाथ कांप रहा था। आखिर, मनोबल दृढ़ किया और पाँच पन्ने का लंबा पत्र लिखा। अपने विवाह का उल्लेख कर, सास-ससुर का आशीर्वाद पाने की बात लिखी। किस तरह माँ-बच्चों का संबंध इस संसार के समस्त संबंधों का मूल है, संतान की याद में माँ की ममता में निहित वेदना को स्मरण कर लिखा, "अपनी बेटी की वेदना समझना आपके लिए कठिन नहीं होगा! मैं चार दिन में अर्थात् बीस तारीख को दोपहर बारह बजे की गाड़ी से आ रही हूँ। कृपया बच्चे को मेरे साथ भेज दें। पूज्या माताजी एवं लक्ष्मी को साष्टांग नमस्कार।"

लिफाफे पर अतिरिक्त टिकट लगाकर, राज डाक-पेटी में डाल आया।

बीस तारीख आई। सुबह भोजन के पश्चात् कात्यायनी निकल पड़ी। स्टेशन तक राज भी गया। ज्येष्ठ मास की वर्षा प्रारंभ हो गयी थी। पहाड़ी-सीमा के वर्षा-जल से नदियाँ कुछ हद तक भरी हुई थीं। एक ही क्षण में दोनों स्टेशन आये। कात्यायनी गाड़ी में चढ़ गई. लेकिन मन भयभीत था। शाम को छह बजे अपना स्टेशन आने का राज कह ही रहा था कि गाड़ी चलने लगी। लगभग डेढ़ महीने के बाद वह नंजनगूड़ जा रही है। शायद यह अंतिम सफर है। आकाश में सूर्य का पता लगाना मुश्किल था। नंजनगूड़ पहुँचने तक बारिश होती रही। कंबलीमठ पारकर गाड़ी जब धीमी गति से पुल पर से गुजर रही थी—मधभरी कपिला साफ-साफ दिखाई दे रही थी। दूर कतार में दीख रहे स्नान-घाट, मंदिर, नदी की दायीं ओर दूर-दूर तक ऊँचे-ऊँचे पेड़ों का झुंड—सभी चिर परिचित दृश्य। अनायास उसे याद आया—ऐसी ही ज्येष्ठ मास की बारिश में कपिला ने मेरे पति को आत्मसात् कर

लिया था। उस दिन कितने आंसू बहाये थे। उन दिनों की मानसिक वेदना को स्मरण कर रही थी कि स्टेशन आ गया।

गाड़ी से उतरते-उतरते कात्यायनी का दिल जोर-जोर से धड़कने लगा। रास्ते में कोई पहचान ले तो? नये जीवन के विषय में सारा नगर जानता है। यह सोचकर कि मैं किसी से क्यों डरूं—वह घर की ओर चलने लगी। अब तक पत्र उन्हें मिल गया होगा। घर के सदस्य अब तक किसी निष्कर्ष पर पहुंच गये होंगे! अगर वे बच्चे को सौंपने से इन्कार कर दें तो? सास जरूर आग-बबूला होंगी, लेकिन ससुर सारासार का विचार करेंगे ही। सारी बातें तो पत्र में लिख दी हैं। बोलने की आवश्यकता ही नहीं है। इन्हीं विचारों में खोई, कदम बढ़ा रही थी। द्वार पर पहुंची। द्वार आधा खुला था। भीतर दीवान-खाने में प्रवेश किया। वहां से भीतरी प्रांगण के बगल में रसोईघर, भोजनगृह और पूजाघर हैं। सीधे भीतर जाने का साहस नहीं हुआ। दीवानखाने में कुर्सी पर बैठ गई। भीतर से मंत्रोच्चार की सस्वर ध्वनि आ रही थी—

काश्यपगोत्रोत्पन्नस्य मम पितुः नंजुंडशर्मणः
वसुरूपस्य प्रातिसांवत्सरिक श्राद्ध निमित्तं प्राचीनावीति...

ऐसा लगा कि घर में कोई वैदिक कार्य चल रहा है। एक बार मुड़कर द्वार की ओर देखा। दीवानखाने के फर्श पर दृष्टि पड़ी। सारा घर साफ किया गया था, लेकिन रांगोली नहीं मांड़ी गई थी। आभास हुआ कि पुण्य-तिथि मनाई जा रही है। आज किसकी पुण्य-तिथि है? अचानक उसे याद आया कि इसी ज्येष्ठ मास में उसका पति स्वर्ग सिधारा था, हर साल इस दिन पुण्य-तिथि मनाई जाती है। "ओह! किस दिन मैं यहां आई हूं! बिन सोचे स्वयं कार्यक्रम बनाकर आज ही आना था! क्यों न लौट चलूं! और किसी दिन आऊं!" सोचती हुई द्वार तक पहुंची ही थी कि लक्ष्मी सामने आ गई। सिर झुकाये खड़ी कात्यायनी से लक्ष्मी बोली—"अभी आई क्या? लौट क्यों रही है? आ बैठ।"

"नहीं लक्ष्मी, आज पुण्य-तिथि है।"

"हां, नंजुंड की पुण्य-तिथि है। तुझे याद नहीं? चल, बैठ।

तेरा पत्र आया था।"

अब क्या किया जा सकता था! कुछ कहना व्यर्थ था। दीवानखाने में बैठ गई। लक्ष्मी कुछ देर वहीं बैठी। लेकिन किसी को समझ नहीं पड़ रहा था कि क्या बोला जाय। कात्यायनी सिर झुकाये बैठी थी। लक्ष्मी उठकर बगीचे में चली गई। भीतर मंत्र-जाप चल रहा था। ऐसे ही विशेष कार्यों में उपस्थित रहने वाला पुरोहित-वर्ग आज भी उपस्थित था। मंत्रोच्चार स्पष्ट सुनाई नहीं दे रहा था। कोई बीच-बीच में प्रश्न कर रहा था। श्रोत्रियजी धीमी आवाज में उत्तर दे रहे थे। करीब पंद्रह मिनट में भोजन-कार्य समाप्त हुआ। शास्त्रीजी कह रहे थे, "अन्नां च पायसं भक्ष—पहले अन्न, उसके बाद खीर और तत्पश्चात् भक्ष्य परोसिये।" और एक ध्वनि आई—"बड़े परिश्रम से प्राप्त ऐसा भोजन ब्राह्मणजन इतना खायें कि रात को न खाना पड़े।" दोनों ब्राह्मणों ने 'अस्तु' कहा। गंगाजली की आवाज हुई। मंत्र पढ़ना खत्म हुआ। भोजन प्रारम्भ हुआ। आवाज से ही कात्यायनी सब-कुछ समझ रही थी। भागीरतम्मा परोस रही थी।

कुछ देर शांति रही। फिर एक ने पूछा—"देव-कार्य और पितृ-कार्य में मुख्य अंतर क्या है?"

कात्यायनी को आश्चर्य हुआ। वह समझ गई कि प्रश्नकर्ता उसके पिता श्रीकंठय्याजी हैं। वे आज क्यों आये? दामाद की मृत्यु के बाद कुछ दिनों के लिए बेटी को अपने घर ले गये थे। बस, उसके बाद कभी नहीं आये। एक पत्र तक नहीं लिखा था। पहले उसे बहुत प्यार करते थे, लेकिन अपने दूसरे विवाह के पश्चात् वह प्यार किसी और के हिस्से में चला गया था। पौत्र के बारे में बातचीत करने के लिए आज शायद श्रोत्रियजी ने ही बुलाया होगा!

भीतर श्रोत्रियजी प्रश्न का उत्तर दे रहे थे—"देवकार्य में यज्ञोपवीत बायीं भुजा से दाहिने बगल के नीचे रहना चाहिए। दाहिनी ओर मुड़कर प्रदक्षिणा करनी चाहिए। तर्पण करते समय 'स्वाहा' और 'वषट्' कहना चाहिए। पितृ-कार्य में यज्ञोपवीत बायीं ओर आना चाहिए। दक्षिण की ओर मुख हो। तर्पण करते समय 'स्वाहा' कहना चाहिए। देवकार्य में काटे गये दर्भ का उपयोग किया जाता है और पितृ-

कार्य के लिए जड़ सहित उखाड़े गये दर्भ चाहिए...।"

उनकी बातें एक विषय से दूसरे विषय पर चलती रहीं। श्रीकंठय्यजी वकील थे, अतः उन्होंने कानून-संबंधी प्रश्न पूछा—"पुत्र का अर्थ क्या है ? पुत्र का अर्थ केवल उसके माता-पिता तक ही सीमित है अथवा भावी पीढ़ी तक उसकी अर्थ-व्याप्ति होती है ?"

श्रोत्रियजी कह रहे थे—"इसका भी उत्तर मिलता है। 'अर्थ एव पुत्र पदं प्रपौत्र पर्यंतरं तत्पर्यंतानमेव पार्वण विधिना पिंडदानोपकारकत्वस्या विशेषात्।' पुत्र भावी तीन पीढ़ियों तक में समाया है। कारण, वे तीनों पार्वण पुण्य-तिथि मनाने के अधिकारी हैं। उनके द्वारा अर्जित पिंड से पितृ एक समान संतुष्ट होते हैं।" उनकी बातें पुण्य-तिथि से पुरखों की जायदाद पर आ टिकीं—"पिता की जायदाद न मिलने पर भी पिता का कर्ज मयब्याज अदा करना पुत्र का कर्त्तव्य है। पौत्र केवल मूलधन अदा करेगा। प्रपिता के यदि पुत्र-संतान ही न हो तो उस कर्ज को कौन अदा करेगा ?"

"क्या ये जानते हैं कि मैं यहां अकेली हूं"—कात्यायनी सोचने लगी। इतने में चीनी बाहर आया। वह भी, अपने पिता की पुण्य-तिथि में भाग ले रहा था। पांच वर्ष का बालक एक गीली लँगोटी पहने था। दीवानखाने में बैठी कात्यायनी को उसने देख लिया। पहले तो अन्य कोई महिला समझ पास नहीं आया, लेकिन कुछ देर बाद पहचानकर बोला, "मां, इतने दिन कहां गई थी ?" भीतर के लोग भी उसकी आवाज सुन सकते थे। कात्यायनी ने हाथ के संकेत से उसे पास बुलाया। वह आगे बढ़ा और दीवानखाने के द्वार के पास रुक गया।

"मेरे पास आओ चीनी"—धीरे से कात्यायनी ने कहा।

"मां, आज पिताजी की पुण्य-तिथि है, तुम नहीं जानतीं ? मैं शुद्धाचार में हूं। तुम मुझे छू नहीं सकतीं !" और भीतर दौड़ा। कात्यायनी दुविधा में पड़ गई। लेकिन पांच मिनट बाद वह फिर सीधा मां के पास आया और उसकी जांघों पर अपना हाथ टेककर पूछने लगा, "इतने दिन तक तुम कहां गई थीं मां ?"

"मैसूर गई थी, बेटे।"

"अब कभी न जाना" बालक ने कहा। कात्यायनी उसका सिर

अपनी छाती से लगाने के लिए आगे झुकी, लेकिन "पिताजी की पुण्य-तिथि का कार्य समाप्त होने पर आऊँगा। दादीजी प्रसाद देनेवाली हैं। तुम्हें भी लाकर दूँगा।"—कहकर भाग गया। द्वार के पास रुककर, "वहाँ क्यों बैठी हो, अंदर आओ।"—कहता हुआ भीतर दौड़ा।

ब्राह्मणों का भोज हुआ। पुनः मंत्र-जाप प्रारम्भ हुआ। आधे घण्टे के बाद पुण्यतिथि का कार्यक्रम समाप्त हुआ। दस मिनट बाद पुरोहित जी रसोईघर में गये और भागीरतम्मा से बातें करने लगे। आखिर में यह कहकर कि "अब हम चलते हैं, आपको भोजन करना है", निकल पड़े। दीवानखाने से निकले तो कात्यायनी को देखा। दूसरे आगन्तुकों की नजर भी उस पर पड़ी। कात्यायनी को मानो शूल चुभ रहे थे। वह दीवार को ही देखती रही। कभी नजर उठाकर न देखनेवाले इन ब्राह्मणों का व्यवहार उसे असह्य लगा। लेकिन विवश थी।

थोड़ी देर बाद श्रोत्रियजी भी वहाँ आये। "पत्तल बिछी है, उठ भोजन कर ले बेटी।" पहले जैसा ही ममतापूर्ण व्यवहार और मधुर ध्वनि सुनकर उसे तसल्ली हुई। "मेरा भोजन हो चुका है। आप कर लीजिए।" "कोई बात नहीं, अब तक पच गया होगा।"—कहकर वहीं खड़े रहे। बिना अधिक बोले वह भोजन के लिए उठी। श्रोत्रियजी, श्रीकंठय्या और चीनी एक पंक्ति में बैठे थे। कात्यायनी के लिए अलग पत्तल बिछायी गयी थी। खाते समय सभी मौन थे। भागीरतम्मा परोस रही थी। खीर, बड़ा, बोंडा, चिक्की, लड्डू, आम, केले आदि से पत्तल भर गयी थी। कात्यायनी ने दो ही कौर दाल-भात निगला। अधिक खाने के लिए किसी ने विवश नहीं किया। दही-भात आने तक चीनी ऊँघने लगा था। आज, जबकि साल में एक बार स्वर्गीय पिता को भोजन कराने के उपलक्ष्य में सुबह से उसे उपवास करना पड़ा था, दो कौर पेट में पहुँचा तो झपकी आने लगी। श्रोत्रियजी के आचमन करने के पश्चात् श्रीकंठय्यजी भी उठे।

हाथ धोकर कात्यायनी दीवानखाने में वहीं आकर बैठ गई, जहाँ पहले बैठी थी। आधे घंटे तक कोई नहीं आया। हर क्षण यातना देने लगा। श्रोत्रियजी आये और पास ही मंच पर बैठ गये। कात्यायनी की समझ में नहीं आ रहा था कि किस तरह बात प्रारम्भ की जाय। पाँच

मिनट बाद श्रोत्रियजी बोले—"तेरा पत्र मिला है।"

"उसमें मैंने सब-कुछ लिख दिया था।" साहस बटोरकर कात्यायनी बोली। इस बीच भीतर से भागीरतम्मा आई और एक ही साँस में उबल पड़ी, 'न लिखती तो और क्या करती? तूने तो अपने कर्म से अपने माता-पिता, सगे-संबंधियों की प्रतिष्ठा बढ़ाई है न? अब बच्चे को ले जाकर क्या अपनी तरह ही कुकर्म कराना चाहती है? इस घर को खाली करना चाहती है?" श्रीकंठय्याजी भी आकर श्रोत्रियजी की बगल में बैठ गये। वे ऊँचे, स्थूल शरीर के पूर्ण व्यवहार-कुशल व्यक्ति थे। उतने ही कट्टर सनातनी भी थे। भागीरतम्मा फिर बोली—"इन लज्जाजनक कार्यों से तेरा जी नहीं भरा? अब बच्चे का अपने नये पति से परिचय कराने कि 'चीनी, ये ही तेरे पिताजी हैं' के लिए ले जाने आई है? तुझमें कोई लाज-शर्म बची भी है? तेरे पिताजी भी यहाँ बैठे हैं। वे तेरे आचार-विचार को उचित मानें तो कहें। अन्य बातें बाद में होंगी। क्या हमने तुझे खाने-पीने के लिए नहीं दिया? गालियाँ दी? कपड़े-लत्तों की कमी थी? उनसे ही कह।"

श्रीकंठय्यजी ने एक बार खाँसकर मानों कात्यायनी से यह कहना चाहा कि वह उनकी ओर देखकर बोले। वातावरण शांत हुआ। वे पुनः खाँसे। कात्यायनी कुछ न बोली। तीसरी बार पहले की अपेक्षा जोर से खाँसना भी बेकार गया। वे अंग्रेजी में बोलने लगे। उन्हें कोर्ट में बोलने की आदत थी। यद्यपि भागीरतम्मा भाषा नहीं समझ सकी, लेकिन बात का गांभीर्य समझ गई थी। श्रोत्रियजी को विवरण समझ में नहीं आया, लेकिन बात के ढंग से भाव समझ गये। धर्मशास्त्र पर आधे घण्टे का भाषण देकर, कानून का अंश बताते हुए कहा—"इंग्लैंड में भी बच्चे पर पिता के वंश का अधिकार है। माँ विधवा बनकर दूसरी शादी कर लेती है तो भी उन बच्चों के वंश का नाम पिता के वंश के साथ चलता है।" अंत में बेटी के कारण अपने वंश में लगे कलंक का उल्लेख कर धिक्कारा—"यू आर ए डिस्ग्रेस टु द फेमिली। बेटर इफ सच एन अनवर्दी डाटर इज नाट बार्न..." (कुटुंब के लिए तू कलंक है। ऐसी अयोग्य बेटी जन्म न लेती तो ही अच्छा था!)। वे बोलते जा रहे थे। श्रोत्रियजी समझ गये। उठकर श्रीकंठय्यजी से

कहा—"जो होना था, हो चुका। अब डाँटने से क्या लाभ ! हमारे मुख से अपशब्द नहीं निकलने चाहिए। आप दोनों भीतर जाइए। मैं उससे बात करता हूँ।"

श्रीकंठय्यजी की बातों में भागीरतम्मा का विश्वास था। पति की बात न मानकर वहीं खड़ी होकर बोलने लगी—"आप क्या जानते हैं-यमराज? वे वकील हैं। आप चुप रहिए, उन्हें बोलने दीजिए।" कात्यायनी का दुःख उमड़ पड़ा। उसके पिता यहाँ कभी नहीं आते थे। कभी यह नहीं पूछा कि बेटी जिंदी है या नहीं। वे ही आज उसे ऐसे डाँट रहे हैं, जैसे कोई पुलिस का सिपाही चोर को। उसे लगा—"मेरी माँ होती..." मन ने प्रश्न किया, 'मेरी माँ के मरने के पश्चात् इन्होंने दूसरी शादी नहीं कर ली थी?' अपनी इस अन्तर्पीड़ा से वह सिसक-सिसककर रो पड़ी।

श्रोत्रियजी ने पुनः कहा—"आप दोनों भीतर जाइए।"

"मैं नहीं जाऊँगी। वह आपका ही नहीं, मेरा भी पोता है। बेटे का लालन-पालन मैंने किया है। मेरे संताप को आप क्या जानें? यह मेरे बेटे की वंश-बेल है। पालन-पोषण मैंने किया है।" भागीरतम्मा जोर-जोर से रोने लगी।

"आप बुजुर्ग रोयेंगे तो किसी का भला नहीं होगा। धीरज धरिए।" —कहकर श्रीकंठय्यजी भागीरतम्मा को समझाने लगे। "सारी बातें मुझ पर छोड़ दीजिए।" अधिकारपूर्ण वाणी में कहकर श्रोत्रियजी उठे और दोनों को एक-एक हाथ से पकड़कर दरवाजे के बाहर ले गये। भागीरतम्मा अभी रो ही रही थी। श्रोत्रियजी ने अंदर से कुंडी लगा दी। अब दीवानखाने में केवल श्रोत्रियजी और कात्यायनी थे।

कात्यायनी अब भी सिसक रही थी। श्रोत्रियजी एक कुर्सी खींचकर उसके पास बैठकर समझाने लगे—"ऐसे विषयों में रोने से कोई लाभ नहीं। धीरज धरो बेटी ! अब गुस्से में बोलने वाला कोई नहीं है। जो भी कहना है, मुझसे कहो।"

कात्यायनी ने सिर उठाकर श्रोत्रियजी का चेहरा देखा। शांत

मुख ! पाँच मिनट बाद कात्यायनी की रुलाई थमी। आँचल से आँसू पोंछकर कहने लगी—"आप जानते हैं कि जन्मदात्री माँ के लिए अपनी संतान को छोड़कर रहना कितना कठिन है। मुझे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं।"

"सच है !" श्रोत्रियजी ने सिर हिलाया।

"मैं जानती हूँ कि आप भी उसके बिना घर में ऊब जाते हैं। लेकिन चीनी के बिना मैं कैसे रह सकती हूँ ? उसे मेरे साथ भेज दीजिए।"

दो मिनट चुप रहकर श्रोत्रियजी ने शांत चित्त से कहा—"बेटी, यह केवल मन या हृदय का प्रश्न नहीं है। इसे विस्तृत पृष्ठभूमि में देखना पड़ेगा। बच्चे के लिए माँ की ममता है। वही ममता हममें नहीं है क्या ? तेरा पति गुजर गया, तुझे नया पति मिल गया। क्या हमें मृत बेटे के बदले नया बेटा मिल सकता है ?"

कात्यायनी के पास इसका कोई उत्तर न था। श्रोत्रियजी आगे बोले—"मृतक हमारा बेटा था। उसका बेटा केवल तेरा बेटा कैसे हो सकता है ? मेरे मतानुसार बच्चे न केवल पिता के होते हैं और न माता के—वे वंश की निधि हैं। वैयक्तिक रूप से कोई अधिकार स्थापित करने का प्रयास करता है तो बच्चे उसके हाथ नहीं लगते। जब तक व्यक्ति वंश के सदस्यों में एक बनकर रहता है, तब तक उस वंश की हर वस्तु पर उसका अधिकार रहता है। उस वृत्त से बाहर निकल जाने के पश्चात् यह कहना कहाँ का न्याय है कि उस वृत्त का केंद्र बिंदु मेरा है ?"

"मैंने हक, अधिकार की बात नहीं की; केवल मातृ-हृदय की पुकार सुनाई है।"

"वंश-वृक्ष को छोड़कर कोई भी मातृत्व का गौरव नहीं गा सकता। मातृत्व, पितृत्व, भ्रातृत्व—सभी वंश की पृष्ठभूमि में रहते हैं। वंश का उद्देश्य पूर्ण करने के लिए ही स्त्री-पुरुष पति-पत्नी बनते हैं। इस उद्देश्य से बाहर मातृत्व कहाँ से आता है ?"

"आपका और मेरा जीवन-दृष्टिकोण भिन्न है। आपके मतानुसार व्यक्ति वंश के लिए है और मैं व्यक्ति के जीवन को ही अधिक महत्व देती हूँ।"

श्रोत्रियजी चुप रहे। इस चर्चा को और आगे न बढ़ाकर इतना ही कहा—"मूल दृष्टिकोण में ही अंतर है, तो चर्चा से कोई लाभ नहीं। चर्चा आगे नहीं बढ़ानी चाहिए। यह तो मानती होगी कि बच्चे जिस तरह अपने माता-पिता के हैं, उसी तरह दादा-दादी, नाना-नानी के भी हैं।

कात्यायनी को पुरानी घटना याद आई। चीनी छह महीने का था। कात्यायनी और मंजुंड दोनों सरस वार्ता में मग्न थे। पति कहता था, "मुन्ना मेरा है" और पत्नी कहती "नहीं मेरा है"। इतने में श्रोत्रियजी वहाँ पहुँचे। बेटे ने पिता को न्याय दिया। हँसते हुए उन्होंने कहा था—"बच्चे न केवल पिता के हैं और न माता के, वे दादा के पोते हैं।" इस निर्णय को पति-पत्नी दोनों ने स्वीकार किया था। अब कात्यायनी समझ गई कि प्रारंभ से ही उनका यही दृष्टिकोण है।

श्रोत्रियजी ने पूछा—"मान लो कि तू बच्चे को ले जाती है। क्या तू उसे इस काबिल बना सकती है कि वह गर्व से श्रोत्रिय-वंश का नाम ले सके? आज की तरह भविष्य में भी अपने पितरों की पुण्यतिथि मनाकर उनसे उऋण हो सकता है? तेरे नये जीवन में ये सब विचित्र और उल्टे दिखाई देते हैं न?"

"इन सब पर मेरा विश्वास नहीं है।"

"तुम्हें विश्वास नहीं है। खैर, छोड़। भविष्य में यह बालक बड़ा होने पर सरकारी कानून के अनुसार श्रोत्रिय-वंश की समस्त सम्पत्ति का अधिकारी बन जाता है। जिस वंश के विश्वास, मत, संस्कार, धार्मिक जिम्मेदारियाँ आदि को ठुकराया है, उस वंश की संपत्ति को स्वीकार करना कहाँ का न्याय है? मैं ये सारी बातें केवल धन की दृष्टि से ही नहीं कहता—बड़े गहरे अर्थ में कह रहा हूँ। माता पिता से शरीर पाते ही उनके दैहिक, मानसिक एवं अन्य संस्कार हमें उपलब्ध होते हैं। यह कहना कि हमें केवल शरीर चाहिए, संस्कारों से हमारा कोई संबंध नहीं—बकवास ही है।"

कात्यायनी चुप थी। कोई भी तर्क उसे सूझ न रहा था। श्रोत्रियजी कहते गये—"एक, वंश के बीज को अंकुरित कर अपने में सार्थक होता है। एक बार जो माता बनती है, वह सदा-सदा के लिए माता

है। वह पुनः कुमारी के समान पत्नीत्व को कैसे अपना सकती है? विकास की दौड़ में अनुभव का एक स्तर से दूसरे स्तर पर लौटना, सृष्टि-नियम के विरुद्ध है। विकास-पथ में खोये स्तर को पाने की आशा रखना पाप है।"

कात्यायनी का मुख कुम्हला गया। चेहरे पर वेदना की सूक्ष्म लकीरें दृष्टिगोचर हो रही थीं। उन्हें देखकर मधुर ध्वनि में श्रोत्रियजी बोले—"बेटी, मैंने तेरा जी दुखाने के उद्देश्य से यह नहीं कहा। जो कुछ मन में था, कह दिया। सरकारी कानून के अनुसार तू बच्चे को ले जा सकती है। लेकिन कानून से धर्म नहीं मिलता। श्रोत्रिय-वंश की प्रतिष्ठा को अदालत में चढ़ाने का मौका मैं नहीं दूंगा। मैं अन्तिम बात कहना चाहता हूँ, सुनेगी?"

"कहिए!"

श्रोत्रियजी की आवाज दृढ़ हुई, किन्तु कठोर नहीं। "अंतिम निर्णय करने की पूरी आजादी तुझे ही है। बालक को उठाकर तुझे सौंपने का अधिकार मुझे नहीं। वंश-वृक्ष की एक डाली तोड़कर दान देने का अधिकार दूसरी डाली को नहीं है। अपने लिए या भीतर रो रही उस वृद्धा के लिए भीख भी मैं नहीं माँगता। तिल-भर भी प्रलोभन नहीं कि हमारे बुढ़ापे में वह हमारा सहारा बने। बालक ऊपर सो रहा है। अगर तेरी अन्तरात्मा उसे ले जाने को कहती है, तो ले जा। यह मेरी जिम्मेदारी होगी कि ले जाते समय तेरे पिता या मेरी पत्नी तुझे न रोकें।"

इतना कह श्रोत्रियजी उठे और द्वार खोलकर भीतर चले गये। द्वार पर खड़ी भागीरतम्मा ने आतुरता से पूछा—"क्या किया।"

"तुम मुँह मत खोलो, चलो!" कहकर पत्नी की बाँह पकड़कर रसोईघर में ले गये। रसोईघर में भीतर से कुंडी लगा ली। कात्यायनी सब सुन रही थी।

वार्तालाप का इस तरह समाप्त होना कात्यायनी के लिए अनपेक्षित ही नहीं, अपितु मानों उसके सिर पर भारी जिम्मेदारी लाद दी गयी थी। नम्रता के किसी स्तर पर उतरकर श्रोत्रियजी से तर्क करने की तैयारी के साथ आई थी। लेकिन उन्होंने अधिक तर्क को अवसर ही

नहीं दिया। कात्यायनी मानव-हृदय और मातृ-हृदय की पुकार सुनाने के लिए वहाँ आई थी। उन्होंने उसे अन्य संदर्भ की इकाई में देखा। अपने मन को स्पष्ट लेकिन मृदु वचनों द्वारा समझाकर, भावी जिम्मेदारी के समस्त भार को मेरे सिर पर डालकर वे भीतर चले गये। वे मेरे प्रति क्रोध प्रकट कर सकते थे। इसके विपरीत, रोती हुई अपनी पत्नी की बाँह पकड़कर कमरे में ले जाकर भीतर से कुंडी लगा ली है—यह भी इसलिए, जैसा कि मुझसे कहा है, ताकि बालक को ले जाने में किसी तरह की बाधा न हो।

कात्यायनी ने भीतर रो रही वृद्धा के दृष्टिकोण से इस सन्निवेश पर सोचा। जैसा कि उन्होंने कहा है, स्वर्गीय पति के स्थान पर मुझे दूसरा पति मिल गया, लेकिन माता-पिता को मृत पुत्र को भुलाने के लिए दूसरा पुत्र नहीं। उस स्थान पर यह पोता है। उसे मैं ले जाऊँ तो उनका क्या होगा? उनके लिए आधार कौन रहेगा? ससुर की दृष्टि से भी उसने सोचा। उनके विश्वास में स्नेह, प्रेम, आत्मीयता, मानव-भावनाएँ आदि एक विशिष्ट इकाई में अपना अर्थ पाते हैं। उनकी दृष्टि में वंश और भावी पीढ़ियों को त्यागने वाले मातृत्व का कोई मूल्य नहीं। लेकिन उनके अंतिम वाक्य में कितना अभिमान भरा हुआ था! "श्रोत्रिय-वंश की प्रतिष्ठा को अदालत में चढ़ाने का मौका न दूँगा।" "अपने लिए या भीतर रोने वाली उस वृद्धा के लिए बच्चे को छोड़ जाने की भीख भी मैं नहीं माँगता। तिल-भर प्रलोभन नहीं कि हमारे बुढ़ापे में यह हमारा सहारा बने" और अंत में कहा था, "अगर तेरी अंतरात्मा बच्चे को ले जाने को कहती है तो उठाकर ले जा। यह मेरी जिम्मेदारी होगी कि ले जाते समय तेरे पिता या मेरी पत्नी तुझे न रोकें।" उस पर सारी जिम्मेदारी डालकर उसकी कठिन परीक्षा ले रहे हैं।

उसका हृदय संतप्त था। बालक की पुकार को सुना देने की भावनाओं ने उसे घेर लिया, उसके मातृत्व ने भावना से संग्राम करना प्रारम्भ कर दिया। विपरीत भावनाएँ चाहे कितनी भी प्रबल क्यों न हों, मातृ-हृदय को लाँघना दुःसाध्य था। कात्यायनी मूकवत् बैठी रही थी, उठने की भी शक्ति नहीं बची थी। किसी निष्कर्ष पर पहुँचने की बुद्धि न रही। अपनी समस्त शक्ति बटोरकर वह खड़ी हुई। कमरे के

सामने का द्वार खुला था। सामने के आँगन के एक तरफ से ऊपरी मंजिल पर जाने वाली सीढ़ियाँ हैं। धीरे-धीरे उसके पैर उस ओर बढ़े। नीचे मानव-ध्वनि नहीं आ रही थी। निर्जन एवं टूटे घर के समान नीरवता छायी थी। इस सतर्कता से कि आवाज न हो, कदम बढ़ाते हुए सीढ़ियाँ चढ़ी। जहाँ वह दो साल से अध्ययन करती थी, वहीं बड़े व्याघ्र-चर्म पर चीनी सोया था। बच्चा श्रोत्रियजी का नीला शाल ओढ़े हुए था। शाल थोड़ा हटा हुआ था जिससे बच्चे का पेट और छाती का भाग दिखाई दे रहा था। बिना किसी व्याकुलता के, नियमित गति से बच्चे की साँस चल रही थी। कात्यायनी उसके पास बैठ गयी। उसके मुख की ओर एकटक निहारती रही। उसे अपने पहले पति की याद आयी। उन्हीं का-सा चेहरा, वैसा ही शरीर का गठन, और सोने की वही भंगिमा। वैसी ही सुन्दर नाक, विशाल ललाट, बड़ा चेहरा! दादा का-सा शरीर, पिता द्वारा चीनी को मिला था। उसकी अंतरात्मा ने प्रश्न किया, "यह बालक किसका है?" उसकी आत्मा यह मानने के लिए तैयार न थी कि श्रोत्रिय-वंश और इस बालक के बीच कोई संबंध नहीं है। इस वंश के सीमान्तर्गत श्रोत्रिय-वंश का बीज अंकुरित होकर वृक्ष बन रहा है। वह चाहे कहीं भी रहे, अपने गुण को प्रकट करेगा ही।

लेकिन? उसके निर्माण में कात्यायनी का रक्त-मांस है। उसने अपनी छाती का पय पान कराया है। क्या बच्चे के प्रति उसकी आशा, विश्वास, इच्छाएँ, ममता आदि नहीं है? क्या इन सबका कोई मूल्य नहीं? हे भगवान्! ऐसी परिस्थिति क्यों पैदा की? अपने गर्भ से जन्म लेने वाली संतान पर माता का अधिकार सिद्ध करने के लिए कैसे-कैसे वाद-विवाद करने पड़ रहे हैं? मातृत्व का स्वयं-सिद्ध सत्य इतना दुर्बल है कि वह वादों की पुष्टि करने में असमर्थ हो? मेरे मातृत्व के सत्य को ही दुर्बल बना देने वाली कैसी अजीब परिस्थिति में मैं आ पड़ी! उसे महसूस हुआ मानों कोई निर्मम हो, तीक्ष्ण काँटों से उसका हृदय वेध रहा है। पेट और छाती में असह्य वेदना होने लगी। आँखों से तप्त अश्रुधारा फूट पड़ी। वह सिसक-सिसककर रोने लगी। सिसकियाँ सुनकर बच्चे के श्वास-क्रम में परिवर्तन हुआ और उसने करवट बदल ली। उस पर जो शाल था, वह खिसक गया। बालक निर्वस्त्र

था। माँ ने अपनी सिसकी दबाकर मुँह बंद कर लिया। बालक का पूरा शरीर दिखाई दे रहा था। उसने एक बार आँख-भर उसे देखा। अपने पहले पति नजुंड श्रोत्रिय की याद आई। मन अनियंत्रित होकर, अतीत की ओर भागने लगा। छाती में असह्य वेदना उठी। धीरे से झुककर उसने एक बार बालक के ललाट को चूम लिया। उसके चेहरे पर कठोर निष्कर्ष की एक रेखा उभर आई। पुनः झुककर बालक के चरणों को चूमा। फिर उठ खड़ी हुई। महाप्रवाह-सा दुःख उमड़ रहा था। ध्वनि के रूप में वह दुःख फूटने से पहले ही उसने पल्ला मुँह में ठूंस लिया और जल्दी-जल्दी सीढ़ियाँ उतर गयी। नीचे अब भी खामोशी थी। रसोई-घर का द्वार बंद था।

रुलाई मुँह से निकलने से पहले, वह घर के बाहर जा चुकी थी। बाहर वर्षा की बूंदें पड़ रही थीं। आकाश बादलों से छाया था। अतः समय का अंदाज लगाना मुश्किल था। अँधेरा छा रहा था। कच्चे मार्ग पर कात्यायनी जल्दी-जल्दी चल रही थी। उस गली को पार कर, स्टेशन वाले रास्ते की ओर मुड़ी तो सामने लक्ष्मी मिली। कात्यायनी को देखकर लक्ष्मी खड़ी हो गयी थी। "मेरे साथ थोड़ी दूर तक चलो!" कात्यायनी का आग्रह था। लक्ष्मी के हाथ में एक छाता था। दोनों स्टेशन पहुँचीं और एक बेंच पर बैठ गयीं। लक्ष्मी सब जानती थी। शीनप्पा ने किस तरह बात की होगी, इसकी भी उसे कल्पना थी। अकेली कात्यायनी को देखकर सारी बात समझ गयी थी। कात्यायनी ने पूछा, "मेरे पिताजी यहाँ कब आये?"

"कल रात।"

"किसने बुलाया था?"

"भागम्मा ने।"

"सच! ससुरजी ने नहीं?"

"भागम्मा ने उन्हें बुलाने की सलाह दी तो शीनप्पा ने कहा था कि यह हमारे घर का मामला है, हमें ही निपटना चाहिए। उनके आने की जरूरत नहीं। उसे बिना बताये ही भागम्मा ने तेरे पिताजी को पत्र लिखवाया।"

सारी बातें कात्यायनी को समझ में आ गयी। उसने एक बार

दीर्घ साँस ली।

"हमें बताये बिना ही तुमने ऐसा क्यों किया?" लक्ष्मी ने प्रश्न किया।

"यह तुम्हें खुद मालूम होना चाहिए।"

लक्ष्मी अंतर्मुखी हुई। पाँच मिनट बाद बोली, "हमारा कर्म-फल हमसे ऐसा कराता है।"

कात्यायनी मौन रहना चाहती थी, अतः बोली—"अँधेरा हो गया, तुम घर जाओ।"

"धीरज से काम लो। चिंता करने से कोई लाभ नहीं।" लक्ष्मी ने कात्यायनी की पीठ पर हाथ रखकर कहा और वहाँ से चल दी।

चारों ओर अँधेरा छाया हुआ था। गाड़ी का अब तक भी पता न था। टिकट लेना था। टिकटघर के पास गयी तो पता लगा कि एक जगह मालगाड़ी पटरी से उतर गयी है जिसके कारण फिलहाल गाड़ियाँ नहीं चलेंगी। स्टेशन की घड़ी में सवा सात बजने वाले थे। अब मैसूर कैसे जाया जा सकता है? वह पुनः उसी बेंच पर बैठ गयी। वैसे परिचितों के अनेक घर हैं, लेकिन किसी के यहाँ रात-भर ठहरने का आश्रय माँगने के लिए उसका मन तैयार न था। वहीं बैठी रहती है तो कोई-न-कोई पहचान लेगा। स्टेशन पर ही रात बिताई भी जा सकती है, लेकिन लोगों के सोने से पहले तक कहीं हो आना उचित समझकर वहाँ से उठी। कदम कपिला की ओर बढ़े। नदी किनारे पहुँच, गौरी घाट की सीढ़ी पर बैठ गयी। नदी का प्रवाह सामान्य था। उस अँधेरे में भी दूर के विद्युत-स्तंभ का मंद प्रकाश दिखाई पड़ रहा था। लेकिन उस प्रकाश में उसे कोई भी वस्तु स्पष्ट दिखाई न दे रही थी। इस समय वह बिल्कुल अँधेरा चाहती थी। ऊपर से वर्षा की बूँदें पड़ रही थीं। अब तक उसकी साड़ी भीग चुकी थी। साड़ी का एक पल्ला खींचकर सिर ढँक लिया। मन अब भी उस घटना को दुहरा रहा था।

उस दिन दोपहर की सारी घटना, स्मृति में आकर अदृश्य हो गयी, तो उसका मन पाँच साल पीछे की ओर दौड़ने लगा। पाँच साल पहले इसी नदी पर घटी घटना ताजी हो उठी। पाँच वर्ष पूर्व, इसी ज्येष्ठ

माम में आज के दिन उसका पति नंजुंड श्रोत्रिय इसी नदी में हमेशा के लिए सो गया था। उसने पति को जी-जान से प्यार किया था। उनके सामने सब हार बैठी थी। पत्नी को अकेली छोड़कर जिस दिन वे चल बसे, उस दिन रुलाई की तह कौन जान सकता है? उसी नदी में डूब जाने की प्रबल इच्छा जागी थी। श्रोत्रियजी ने शायद उसके मनोभावों को पहचान लिया था। यही कारण है कि उसे अपने पास बैठाकर बालों पर हाथ फेरते हुए सान्त्वना दी थी—"तुझे कम-से-कम इस बच्चे के लिए जीना होगा, बेटी!" उसी समय मैं सती सहगमन करती या नदी में कूद पड़ती तो ये समस्याएं ही नहीं उठतीं। पाँच वर्ष पश्चात् मेरा जीवन विपत्ति में फँसा है और मुझे अपनी ही संतान से अलग होना पड़ रहा है। लोगों की दृष्टि में भी मैं पतिता हूँ। अब भी क्या बिगड़ा है? नदी में विलीन हो जाना ही उचित है।

मरने के लिए उसका मन आकुल था, लेकिन कोई अदृश्य शक्ति उसे ऐसा करने से रोक रही थी। वह सोच रही थी, 'मेरे जीने का कोई उद्देश्य ही नहीं तो कौन सी शक्ति मुझे रोक रही है? इसी विचार से वह दो बार उठकर पानी के पास पहुँची। पुन: दो सीढ़ी ऊपर जा बैठी। वर्षा ऋतु में निर्जन प्रदेश में नदी अपने पूर्ण आवेग में भयावनी ध्वनि के साथ बह रही थी।

अचानक कात्यायनी पर प्रकाश पड़ा। उसने मुड़कर देखा। ऊपर से किसी ने टार्च की रोशनी फेंकी थी। वह उठ खड़ी हुई। टार्च लिये व्यक्ति ने नीचे उतरते हुए पूछा—"यहाँ क्यों बैठी है? मैंने कहाँ कहाँ नहीं ढूँढ़ा तुझे!" राज था। ध्वनि पहचानी, तो वह सिर झुकाकर खड़ी हो गयी। पास आकर राज ने कात्यायनी का हाथ पकड़ा, तो सिर चकराने लगा। उसने राज के सीने पर सिर टेक, उसकी भुजाओं में अपने-आपको छोड़ दिया। वह भी उसी सीढ़ी पर बैठ गया। उसके कपड़े भी भीग गये थे। उसकी गोद में सिर रखकर वह लेट गयी। पाँच मिनट बाद थककर थमे। राज के गले से लिपटकर सिसक-सिसककर वह बोली—"मुझे ढूँढ़ने आप क्यों आये! मैं तो पापिन हूँ।"

उसके मुख को अपने सीने से चिपकाकर राज ने कहा—"ऐसा न कहो। अगर तुझे कुछ हुआ तो मैं कैसे जी सकूँगा? छह बजे मैं स्टेशन

आया था। वहाँ पता लगा कि गाड़ी पटरी पर से उतर गयी है। मैं जानता था कि यहाँ से कोई बस भी नहीं चलती है। अतः घर जाकर साइकिल पर निकल पड़ा। स्टेशन पर ढूँढ़ा। तू वहाँ नहीं थी। श्रोत्रियजी का पता पूछते हुए उनके घर पहुँचा। फिर लगा कि तू वहाँ नहीं रहेगी। एक होटल के पास साइकिल रखकर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते यहीं आ पहुँचा। उठ, साइकिल से घर चलेंगे।"

"ऐसी वर्षा में मुझे ढूँढ़ने से कितने थक गये होगे!"—कहकर राज के सीने में अपना मुँह छिपा लिया, मानों उसी में एकाकार होना चाहती हो। उसकी आँखों से अब भी आँसू बह रहे थे। उन्हें अपने अधरों से पोंछते हुए राज ने कहा—"उठ, साढ़े नौ बज चुके हैं। घर पहुँचते-पहुँचते रात आधी हो जायेगी।"

१६

रत्ने से विवाह हुए आठ वर्ष हो गये थे। अब तक डॉ० राव के ग्रंथ का दूसरा खण्ड भी प्रकाशित हो गया था और तीसरे खण्ड की टाइप की हुई प्रति लंदन भेज दी गयी थी। उन्हें विद्वत् जगत् में काफी यश मिल रहा है। अखिल ऐतिहासिक परिषद् ने उन्हें अध्यक्ष बनाकर उनका सम्मान किया था। इंग्लैंड के एक-दो विश्वविद्यालयों ने भी उन्हें प्राध्यापक के रूप में निमंत्रित किया था। बाहर से मिल रहे गौरव को देखकर मैसूर विश्वविद्यालय ने उन्हें प्रोफेसर के पद पर नियुक्त कर दिया था। वे अब प्रोफेसरों के लिए निर्मित बँगले में रहने लगे थे। इससे बावजूद उनके दैनिक जीवन में किसी तरह का परिवर्तन नहीं आया था। सुबह नौ बजे पुस्तकालय जाते तो रात के आठ बजे तक वहीं रहते। टाइप का काम रहता तो रत्ने घर पर ही रह जाती, अन्यथा

वह भी साथ जाती। रात को लौटकर रसोइया जो-कुछ परोसता, खाकर एक घण्टे के लिए घूमने निकल पड़ते। तब भी वे शोध-संबंधी बातचीत करते। उस दिन अध्ययन के सिलसिले मे उपलब्ध नये विचार के बारे मे डॉ० राव ने चर्चा की। उसकी साध्यता-असाध्यता को लेकर रत्ने प्रश्न करती। डॉ० राव विश्लेषणात्मक वादों से अपने विचारों की पुष्टि करते। कभी-कभी रात को इसी तरह बात करते-करते जिला-कचहरी के मैदान या कोर्ट कंपाउंड में होने या किसी पेड़ के पास रात के ग्यारह बजे तक बैठे रहते। लौटने पर उनके विचारों को रत्ने लिख लेती। अब तो रत्ने के कार्यों का भी वही समय है जो डॉ० राव का। वह भी रात के दो बजे तक काम करती और सुबह आठ बजे उठती।

तीसरे खण्ड की टाइप की हुई प्रति प्रकाशक को मिले दो वर्ष हो गये थे, लेकिन वह अब तक मुद्रित नही हुई थी। युद्ध के कारण ससार के सभी देशो मे कागज का अभाव हो गया था। मुद्रणालय युद्ध-प्रयत्नो के कार्यों मे व्यस्त थे। डॉ० राव के प्रकाशकों का अपना मुद्रणालय होते हुए भी उनके सारे काम स्थगित हो गये थे। उन्होने डॉ० राव को लिखा था—"आपके तीसरे खण्ड की हस्तप्रति मिल गयी है। युद्ध समाप्त होने तक उस संबध मे हम कुछ भी करने मे असमर्थ हैं। हमे थोड़ा भी कागज नही मिल रहा है। हमारा अपना मुद्रणालय होते हुए भी हम उसे अपने काम मे नही ला पा रहे हैं। हमारे पास जो ग्रंथ शेष बचे हैं, उन्हे हमने तहखाने मे रख छोड़ा है। आपकी हस्तप्रति भी रख दी गयी है। इस नगर पर बम-वर्षा हो रही है। आपकी हस्तप्रति नष्ट हो जाने की समावना भी है। आशा है, आपके पास उसकी एक प्रति और होगी। अचानक लदन का कार्यालय बम-वर्षा का शिकार हो भी गया, तो न्यूयार्क, टोरंटो और सिडनी के हमारे उपकार्यालय आपके शेष खण्डो को प्रकाशित करेंगे। इस परिस्थिति से निराश न हों, शेष जिल्दों की तैयारी मे लगे रहे।"

भारत पर भी युद्ध का प्रभाव पड़ा। कई बार खोज के निमित्त डॉ० राव को रत्ने के साथ प्रवास करना पड़ा था। स्वय जावा, बोर्नियो, सुमात्रा जाना था। ऐसे खतरनाक प्रदेशो मे जाने की अनुमति नही मिली। भारत के भी कई-एक स्थानों मे आना-जाना कठिन था। यूरोप के

भी देश युद्धग्रस्त थे, अतः वहाँ के विद्वानों को डॉ० राव के पत्र मिलते न थे। अगर कभी मिल भी जाते, तो वहाँ से उत्तर नहीं आता था। पेरिस के एक प्रोफेसर ने केवल एक पंक्ति का पत्र लिखा था—"अगर इस युद्ध में बच गये तो मानव-पीढ़ी के इतिहास की बात; अन्यथा इतिहास समाप्त होने में भी आश्चर्य नहीं है।"

लेकिन डॉ० राव अपने कार्य में निरन्तर लगे रहे।

रत्ने के विवाह के चार वर्ष बाद उसके पिता का निधन हो गया था। इससे वे दुःखी हुए थे कि बेटी ने मैसूर के प्रोफेसर से, उनके एक पत्नी होते हुए भी, विवाह किया। लेकिन यह सोचकर चुप रहे कि सब-कुछ हो चुका है, क्या किया जा सकता है? इसके अतिरिक्त बेटी की इच्छा और उसके अनुकूल डॉ० राव के कार्य को देखते हुए, उन्हें वह स्वाभाविक-सा प्रतीत हुआ था—इस प्रकार मन को तसल्ली देते रहे। पिता की मृत्यु का समाचार पाकर, रत्ने सिंहल अपने भाई के घर एक सप्ताह रहकर लौट आई थी। पुनः वहां जाने के लिए न उसके पास समय था और न इच्छा ही।

अब रत्ने टूटी-फूटी कन्नड़ सीख गई थी। रसोइये से बात कर सकती थी। रसोइया रागण्णा मध्व ब्राह्मण था। रसोई बनाना उसका व्यवसाय नहीं था। उसने इस संबंध में कुछ सीखा भी नहीं था। प्रारम्भ से ही उसकी बुद्धि मंद थी। चार-पाँच घरों में छोटे-मोटे काम कर चुका था। कम उम्र में ही अपने संबन्धियों को खो चुका था। उसकी शादी हो गयी थी, लेकिन शादी के छह महीने बाद पत्नी भी गुजर गई। वह डॉ० राव के यहाँ नौकरी करने लगा तो रत्ने ने ही, जो कुछ वह जानती थी, उसे पकाना सिखाया था। नियमित रूप से रोज एक ही तरह का भोजन बनाकर परोसता था। उससे अच्छा रसोइया मिलना कठिन नहीं था, फिर भी उसे नहीं छोड़ा। वह पचास वर्ष का था और उसे और कहीं नौकरी मिलनी कठिन थी। इसके अतिरिक्त घर का हर कार्य—दूकान से समान लाने से लेकर दूध-दही वालों का हिसाब चुकाना तक—वही करता था। कभी एक पैसे का भी धोखा नहीं दिया था। जब दोनों महीना-महीना बाहर रहते, तब भी इत्मीनान से घर की देखभाल करता था। उसके बनाये भोजन की अपेक्षा विश्वास की दृष्टि से वह उनके

लिए अत्यंत आवश्यक व्यक्ति था। उनके लिए दोपहर बाद तीन बजे पुस्तकालय में ब्रेड और चाय पहुँचाने का कार्य भी वही करता था।

चौथे खण्ड का कार्य चल रहा था। उसमें दसवीं शताब्दी से लेकर मुगलकाल तक के भारतीय सांस्कृतिक जीवन एवं संघर्ष को चित्रित करना था। अपने शोध-कार्य के लिए दोनों ने राजस्थान जाकर राज० महलों में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री का अध्ययन किया था। पूना में पेशवा-संबंधी सामग्री का अवलोकन किया था। डॉ० राव अब भी लेखनी उठाने में हिचकिचा रहे थे। नवीन परिवेश में विजयनगर को देखना और काफी सामग्री जुटाना आवश्यक था। भारतीय संस्कृति के इस महान् संघर्षपूर्ण काल को प्रस्तुत करना उन्हें भी कठिन लगा था।

फरवरी के अंत तक डॉ० राव का स्वास्थ्य काफी गिर चुका था। गत बारह वर्ष से वे अपने ग्रंथ के लिए निरन्तर परिश्रम करते रहे हैं, एक दिन भी विश्राम नहीं लिया। उत्साह अपरिमित था, लेकिन उत्साह के आघात को सहने की शक्ति शरीर में नहीं थी। सैंतालीस वर्ष की आयु में वे साठ के दिखाई देते थे। रात के भोजन के पश्चात् टहलने निकलते तो पाँच मिनट में थकावट मालूम होती। मोटी पोथी हाथ में लेकर, आरामकुर्सी पर पीठ टेककर बैठे-बैठे पढ़ने लगते, तो हाथ रह जाते। कभी-कभी रत्ने को नोट लिखाते समय बोलने में भी थकावट प्रतीत होती। फिर भी सप्ताह में पाँच घंटे बी० ए० और एम० ए० के विद्यार्थियों को पढ़ाना पड़ता था। खाने-पीने में भी उनकी रुचि नहीं रही।

रत्ने ने डॉक्टर को बुलवाया। डॉक्टर, डॉ० राव को अस्पताल ले गया। जाँच करने के पश्चात् कहा—"कोई बीमारी नहीं है। कार्य के बोझ के कारण ऐसा है। शरीर की तरह दिमाग को भी आराम की जरूरत है। मैं टानिक लिख देता हूँ। दो महीने के लिए जलवायु बदलने बाहर जाइए। कोई हिल स्टेशन अच्छा रहेगा। रोज सुबह-शाम इतना टहलिए कि पसीना आने लगे। समाचार-पत्र भी न पढ़ें तो अच्छा है। मस्तिष्क को पूर्ण विश्रान्ति चाहिए। ऐसा न करेंगे तो हालत

ओर बिगड़ जायेगी।" रत्ने ने डॉक्टर की सलाह का अनुमोदन किया। काफी कार्य शेष रह जाने के कारण डॉ० राव इस राय को मानने के लिए तैयार नहीं थे। रत्ने की जिद पर उन्हें मानना पड़ा। डॉक्टर की सलाह के अनुसार दोनों नंदी पहाड़ी के लिए रवाना हुए। वह मार्च का तीसरा सप्ताह था। कालेज की छुट्टी पड़ने वाली थी। इस वर्ष डॉ० राव परीक्षक नहीं थे। रसोइये रागप्पा को साथ चलने को कहा, लेकिन उसकी अनिच्छा थी। पत्र द्वारा कम्बन भवन में एक विशाल कमरे का आरक्षण कर लिया था। आजकल राज परिवार के साथ बंगलूर में था। जाते समय डॉ० राव भाई के घर जाना चाहते थे, लेकिन रत्ने ने विरोध किया। सीधे बंगलूर से टैक्सी कर नंदी पहाड़ी पहुँचे।

पहाड़ी की हवा डॉ० राव को ही नहीं, रत्ने को भी अनुकूल आई। दोनों रात में जल्दी सो जाते। सुबह पाँच बजे उठते। हाथ-मुँह धोकर काफी पीते और टहलने निकल पड़ते। कभी-कभी पहाड़ी के सात-आठ चक्कर लगा लेते। कभी वीरभद्र स्वामी देवालय होते हुए नंदीग्राम की ओर कुछ दूर तक उतरने लगते। रास्ते में किसी मंडप के पास विश्राम कर धीरे-धीरे ऊपर चढ़ते। चढ़ते समय डॉ० राव थक जाते। रत्ने उन्हें हाथ का सहारा देती। आठ बजे तक घर लौटते। स्नान करते। तब तक होटल से दूध-नाश्ता आ जाता। शाम को मोटर के रास्ते वे एक मील तक नीचे उतर जाते। किसी दोपहर को उद्यान में पेड़ों की छाया में बैठ जाते। पहाड़ी पर आने वाले देशी-विदेशी पर्यटकों को और कुछ उन-जैसे ही जलवायु परिवर्तन के लिए आये लोगों को देखकर समय बिताते। कभी-कभी दोपहर में डॉ० राव सो जाते, तो रत्ने अकेली बँगले के बाहर पेड़ों की छाया में जा बैठती। अब तक भी उसका मन सदा काम में लगा रहता था। उनके व्यस्त जीवन में पहली बार उसे व्यक्तिगत जीवन के संबंध में सोचने का समय मिला था। पहाड़ी की चोटी पर बैठकर नीचे देखने पर बहुत दूर-दूर तक फैला प्रदेश दिखाई देता था। बीच-बीच में चाँदी की चादर-से बाँध, तालाब, ऊँची-नीची पहाड़ियों की कतार दिखाई पड़ती थी। उसमें रत्ने को दिखाई पड़ता था वैविध्य को समाये, नीरस एक स्वरूप। उस एक

स्वरूप में वह कोई सौंदर्य न देख सकी। मानव जीवन को दबाकर चल रही नीरवता आकाश से पृथ्वी तक अपना रौब जमाये रहती थी। ग्रीष्म की तपन आँखों को थका देती थी।

एक दिन यों ही बैठी थी कि माता-पिता की याद आ गई। माता की बड़ी इच्छा थी कि बेटी की शादी कर दे। बेटी के बच्चों को खिलाने की बड़ी इच्छा थी उसे। यह इच्छा पिता में भी कम न थी। अब तो दोनों ही नहीं रहे। पति डॉ० राव के अलावा उसका कोई नहीं रहा। सिंहल में रहने वाले भाई और रत्ने के बीच तो अब पत्र-व्यवहार भी नहीं होता। सिंहल छोड़कर उसका जीवन इस देश में प्रारम्भ हुआ। उसका जीवन पति के साथ सदा विद्वत्ता, खोज और बौद्धिक स्तर पर चलता रहा। अब इस ऊँचाई से नीचे उतरकर चलना कठिन था। डॉ० राव कई बार उससे मजाक करते, दिल खोलकर बड़ी आत्मीयता से बात करते। वह भी उसी साँचे में ढल गयी थी; वैसा ही चाहती भी थी। लेकिन उसे एक ऐसे व्यक्ति की चाह थी जिसका संबंध केवल अंतःकरण से हो—और जिस संबंध का कोई पहलू न हो।

उसमें यह आकांक्षा अंकुरित हो चुकी थी कि इस दाम्पत्य के फलस्वरूप वह एक बच्चे की माँ बन जाय। यह आकांक्षा आज की नहीं, काफी दिनों से थी। बच्चे की कल्पना करके वह कई बार उसी विचार में खो जाती। लेकिन निरन्तर कार्यों में व्यस्त रहने के कारण, कल्पना-जगत् में विचरण करने का मौका ही नहीं मिला था। इस विचार से कि यह असंभव कल्पना है, वह गर्दन झटककर अपने कार्य में डूब जाती। उसके दाम्पत्य जीवन के दस वर्ष इसी तरह बीत गये। यह बात नहीं कि उनमें शारीरिक संबंध नहीं था, फिर भी उन दोनों ने ऐसी सतर्कता बरती थी कि रत्ने गर्भवती न हो जाय।

अब मानसिक विश्राम के इन दिनों में रत्ने के मन में माँ बनने की आशा अदम्य रूप लेने लगी। रोज शाम को घर लौटते ही उसे प्रतीत होता, मानों बच्चा रो रहा है, उसे उठाकर स्तनपान करा रही है, नींद में भी बच्चे को सीने से लगाये सोई है। वह 'माँ' कहकर पुकार रहा है! उसकी कल्पना अनेक तरह से बच्चे के रूप-सौंदर्य को चित्रित कर

लेती। फिर यह विचार भी उठता कि अगर मैं माँ बनूं तो क्या ग्रंथ-निर्माण में बाधा नहीं पड़ेगी ?...बच्चे की देखभाल के लिए एक आया रख लेंगे...मैं टाइप करती रहूँगी और आया बच्चे को लिये मेरे पास बैठी रहेगी...बीच में कागज बदलने में जो समय लगेगा, तब बच्चे की ओर मुड़कर उसकी मुस्कराहट को देखकर पुनः कार्य में लग जाऊँगी...दोपहर में रागप्पा को ब्रेड-काफी लाने की जरूरत नहीं रहेगी ! मैं स्वयं घर जाकर बच्चे को उठाकर, चूमकर डॉक्टर साहब के लिए ब्रेड-काफी लेकर लौटूंगी...। रात को टहलने जाते समय एक ओर कन्धे से लगा लूँगी...कहीं बैठकर बात करने लग गये तो उसे गोद में सुला लूँगी...! वह मेरा बच्चा किसकी तरह हो ?...उन्हीं की तरह मुन्ना हो, उन्हीं का-सा शांत स्वभाव मिले, उन्हीं की तरह महान् विद्वान् हो...हम दोनों भारत का सांस्कृतिक इतिहास लिख रहे हैं तो वह विश्व संस्कृति का इतिहास लिखे और संसार के इतिहासकारों में अद्वितीय बन जाय...!

उसे अपनी उम्र की याद हो आती। वह सैंतीस वर्ष की थी। कम उम्र में ही विवाह हो जाता तो अब तक बीस वर्ष की बेटी या बेटे की माँ बन चुकती ! बेटी होती तो उसका विवाह हो जाता और वह भी माँ बन जाती ! बेटा होता तो किसी उच्च परीक्षा की तैयारी करता ! अब भी समय है। माँ बनना ही चाहिए ! उसे एक पुरानी बात याद हो आई—सुना है बड़ी उम्र में गर्भिणी होने पर पहले प्रसव में माँ को बड़ा कष्ट होता है और कभी-कभी माँ को जान से हाथ धोना पड़ता है ! अब मैं सैंतीस वर्ष की हूँ। माँ बनने की उम्र की दूनी आयु ! गर्भिणी बनकर प्रसव के समय मर जाऊँ तो ?" यह चित्र उसकी आँखों में छा गया—"असह्य वेदना से वह छटपटा रही है, पास ही नर्स बैठी सान्त्वना दे रही है ! दो दिन मौत से संघर्ष के अनुभव के पश्चात् प्रसव के लक्षण दिखाई देते हैं ! मुट्ठी बन्द किये, आंखें मूदें, असह्य संकट के अनुभव के साथ बच्चा बाहर आता है ! श्वास और नाड़ी की गति घटने लगती है ! हृदय की धड़कनें रुक जाती हैं ! वह मर जाती है ! लेकिन बच्चा ?" कल्पना में ही उसने प्रार्थना की—"भगवान्, मैं मर जाऊँ तो कोई बात नहीं, बच्चे को बचा दो ! वह मेरा बच्चा है, मेरे मातृत्व की निशानी है। बच्चा बच गया तो उसका पालन-पोषण

कौन करेगा ?" इस प्रश्न के उठते ही उसकी कल्पना पंखहीन पक्षी की भाँति पृथ्वी पर गिर पड़ती है। मौत और मातृत्व इन दोनों में से उसने दूसरे को पसंद किया। मातृत्व विहीन जीवन मौत से भी करुणा-जनक है। इस इच्छा को पति के सम्मुख व्यक्त करना पड़ेगा। कहने में शर्म आती थी। वे तो मेरी इच्छा को विलक्षण नहीं कहेंगे। मैं भी तो स्त्री हूँ। स्त्रीत्व की इस मूल प्रवृत्ति को वे अनसुनी नहीं करेंगे।

एक दिन रात को सोते समय उसने पति से पूछा—"ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसे अपनी मृत्यु के बाद छोड़ जाने से मनुष्य को तृप्ति मिलती है ?"

डॉ० राव किसी विचार की लहर में थे। उन्होंने पूछा—"मन में यह प्रश्न कैसे उठा ?"

"कारण जो भी हो, उत्तर दीजिए।"

अपने ऐतिहासिक ज्ञान का स्मरण करते हुए उन्होंने कहा—"भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न आकांक्षाएँ होती हैं। कोई विशाल साम्राज्य कायम करके मरना चाहता है तो कोई विशाल देवालय का निर्माण कराकर। संसार में भगवान् बुद्ध-जैसे नवीन सत्य का प्रचार करने वाले भी विरले मिल जाते हैं और 'मैं, मेरी सन्तान' तक ही सीमित रहनेवालों की संख्या भी बड़ी है।"

"इन बहुसंख्यकों को क्या आप तुच्छ समझते हैं ?"

"नहीं, मैं उन्हें तुच्छ नहीं समझता। जानती हो क्यों ?"

रत्ने ने कोई उत्तर नहीं दिया। लेटे-लेटे पति का हाथ अपने हाथ में लेते हुए पूछा—"कहिए, आपके दाम्पत्य की संतान कौन-सी है ? हम दोनों के मरने के बाद कौन सी-वस्तु बची रहेगी ?"

"ऐसा क्यों पूछ रही हो ?"—पत्नी के संकेत को न जान, डॉ० राव ने कहा—"विश्व के इतिहास को विस्तृत रूप से जानने की इच्छा रखनेवाला कोई भी हमारे ग्रंथों को निर्लक्ष्य नहीं कर सकता। समस्त भावी इतिहासकार हमारे ग्रंथों को छोड़कर आगे नहीं बढ़ सकते। ये अब तक सर्व विद्वज्जन-मान्य हो चुके हैं। इससे बढ़कर इस जगत् के

लिए क्या हमें और कुछ छोड़ जाने की जरूरत है ?"

रत्ने के ओठ न खुले। अब तक प्रकाशित खण्डों से प्राप्त यश, विद्वज्जनों से प्राप्त प्रशंसापत्रों से वह परिचित थी। इस बात का उसे पूर्ण विश्वास था कि उनके मरने के कई दशकों, शताब्दियों तक भी उनके ग्रंथ उन्हें अमर रखेंगे। उसे भी इस बात का अभिमान हुआ कि एक समग्र संस्कृति को, मानव की कल्पना में सन्निहित विषयों को प्रस्तुत करने वाले महान् ग्रंथों से बढ़कर कौन-सी संतान होगी। लेकिन लगभग एक सप्ताह से उसमें अदम्य रूप से जाग्रत मातृत्व की आकांक्षा के सम्मुख यह साधना फीकी प्रतीत हुई। लेकिन पति को कैसे बताये ? कुछ सोचकर उसने पूछा—"नींद आ गई ?"

"नहीं !"

पास में 'बेड-स्विच' रखकर पूछा—"कहिए मैं क्या कहना चाहती हूँ ?"

"मैं क्या जानूँ ?"

अपने मुख को पति मुख के ऊपर ले जाकर रत्ने ने कहा—"मेरे चेहरे को गौर से देखिए। कुछ मालूम पड़ा ?"

डॉ० राव ने गौर से पत्नी का चेहरा देखा। लेकिन उनके पल्ले कुछ न पड़ा।

"अब कहिए तो ?"

"तुम मजाक कर रही हो ! मैं कुछ नहीं समझ सका।"

"आप इतिहास की गति के रहस्य को प्रस्तुत कर सकते हैं, महा संस्कृति के अन्तःसत्व का पता लगाकर अन्यों को समझा सकते हैं, लेकिन पत्नी के मन की एक भावना का अंदाज नहीं लगा सकते ?" उसने स्विच दबाकर बत्ती बुझा दी। डॉ० राव भ्रमित हो गये। बोले— "कहो, बात क्या है ?"

"कोई भी स्त्री इसे मुंह खोलकर नहीं कह सकती।"

डॉ० राव की समझ में कुछ नहीं आया। रत्ने ने इससे पहले कभी ऐसी पहेली नहीं बुझाई थी। उन्हें इस बारे में सोचने की कभी आवश्यकता नहीं पड़ी थी। रत्ने के स्वर में निहित श्रद्धा से उन्होंने इतना महसूस किया कि वह किसी प्रिय वस्तु के बारे में कहना चाहती है। अतः

मुख को अपने दोनों हाथ से पकड़कर स्नेहपूर्वक कहा—' कहो न !"

उनके सीने पर अपना सिर रखकर, दो मिनट सोचकर अंत में कहा—"एक बात है !"

"कहो !"

"मुझे भी एक बच्चा हो तो ?"

डॉक्टर राव समझ गये। अपना बायाँ हाथ उसकी पीठ पर फेरते हुए उसी बारे में सोचने लगे। रत्ने ने पूछा—"चुप क्यों हैं ?"

"नहीं !' प्रेमपूर्वक उन्होंने कहा—"इतने दिनों तक अपनी इस इच्छा को व्यक्त क्यों नहीं किया ?"

"अब तक अपने कार्य में इतने लीन रहे कि मन की किसी भी इच्छा को व्यक्त करने का समय ही नहीं मिला। विश्राम की घड़ियों में ही तो निजी आकांक्षाएँ प्रकट होती हैं।"

"तुम्हारी और कोई आकांक्षा नहीं है ?"

"कदापि नहीं !"

डॉ० राव ने रत्ने का प्यार से आलिंगन किया। वह उनकी भुजा पर मुख रखकर लेट गयी। उसका मन फूला न समाया। पति मान जो गये थे। उनके दाम्पत्य जीवन में इस तरह की आशा-आकांक्षा पहली बार प्रकट की गयी थी। उसे यह जानने का मौका ही नहीं मिला था कि उसकी आशा-आकांक्षाओं के प्रति पति की आसक्ति, अनुमति है या नहीं ! उसका मन कल्पना के भविष्य की ओर उड़ान भरने लगा—'उन दोनों के बीच एक बच्चा सोया हँस रहा है। डॉ० राव भी अपना चश्मा उतारकर, उसके मुख के पास चुटकी बजाकर हँस रहे हैं। पुस्तकालय में जो थकावट होगी, वह भी बच्चे की हँसी में गायब हो जायेगी।'

बच्चे की बात सुनकर डॉ० राव को पृथ्वी की याद हो आई। बचपन में वह भी सुन्दर था। कभी-कभी जब वे आरामकुर्सी पर बैठकर पढ़ते, वह अटपटी चाल में आता और उनके पैरों को खींचता। अपनी पढ़ाई में बाधा पहुँचने के कारण वे कभी असन्तुष्ट भी हो जाते थे, लेकिन बच्चे का सुन्दर मुखड़ा देखते ही क्षण-भर में क्रोध रफू-चक्कर हो जाता। पुस्तक को बगल में रखकर बच्चे को उठा लेते। उसके

साथ बिताने के लिए उनके पास अधिक समय नहीं था । वे अपनी ग्रंथ-रचना में सदा लीन रहते । वह पिता की अपेक्षा चाचा को अधिक चाहता था । अब चौदह वर्ष का होगा । हाँ, चौदह वर्ष का है । आठ वर्ष से उसे देखा ही नहीं । अब देखेगा तो पहचान भी नहीं पायेगा । पहचान लेगा तो पास आयेगा क्या ? उन्हें नागलक्ष्मी की याद आ गई । दूसरे घर में आने के बाद भी एक-दो बार वहां गये थे । उन्होंने बात करनी चाही, लेकिन नागलक्ष्मी रुष्ट थी । फिर तो वहां जाने का अवकाश ही नहीं मिला । राज सबके साथ बंगलूर रवाना होने के पूर्व, केवल अपनी पत्नी के साथ पुस्तकालय में आया था । डॉ० राव ने दो दिन के लिए घर आने का आमंत्रण दिया था । राज के पास समय न था । सामान लारी से भेज दिया था । रात की गाड़ी से जाना आवश्यक था । वे दोनों राव के साथ दस मिनट रहे । नागलक्ष्मी के बारे में न डॉ० राव ने पूछा और न राज ने कुछ बताया । "वह अब कैसी होगी ? एक बार जाकर अवश्य देख आना चाहिए । अब क्रोध उतर गया होगा । मैं बात करूँगा, तो बोलेगी । पुत्र को भी देखूँगा ।" डॉ० राव सोचने लगे ।

"क्या सोच रहे हैं ?" डॉ० राव की भुजा पर सिर रखकर लेटी हुई रत्ने ने पूछा ।

"तुम क्या सोच रही हो ?"

"वही, बच्चे का स्वप्न !"

डॉ० राव प्यार से उससे लिपट गये । अब उनका ध्यान रत्ने की ओर गया । विवाह के इतने वर्षों में भी उसने अपनी कोई इच्छा व्यक्त नहीं की थी । विवाह के पूर्व ही उन दोनों ने परस्पर अपने उद्देश्य को स्पष्ट कह सुनाया था । जब दोनों साथ रहने लगे तो इस बात की सतर्कता बरती थी कि रत्ने गर्भवती न हो जाय । विवाहित जीवन के आठ वर्षों में उसने डॉ० राव के साथ ग्रंथ के लिए रात-दिन परिश्रम किया था । पिता की मृत्यु के पश्चात् उसका कोई आत्मीय कहलाने वाला नहीं था । वह भी अपना तन-मन ग्रंथ-निर्माण में लगा चुकी है । मातृत्व की जो भावना अब तक दबी पड़ी थी, अब अदम्य रूप में प्रकट हुई थी । यह स्वाभाविक ही था । डॉ० राव की भी इच्छा

हुई कि दोनों के मेल से एक संतान हो। वे चाहते थे कि उनके मिलन के सबूत के रूप में अमर बन जानेवाले ग्रंथों के साथ-ही-साथ एक सजीव सबूत भी हो जो उन्हें माता-पिता कहकर पुकारे। रत्ने का मुख अपने सीने से लगाकर उन्होंने कहा—"रत्ने !"

"हाँ !"

"तुम कितनी अच्छी हो !"

वह कुछ न बोली। वह शब्दातीत अवर्णनीय आनंद में लीन थी।

दूसरे दिन दोनों कुछ देर से उठे। उनमें उल्लास भरा हुआ था। सुबह की काफी पीकर टहलते हुए गवि वीरभद्र स्वामी देवालय की ओर से वे नीचे उतरने लगे। अपूर्व आत्मीय बातें करते हुए हाथ पकड़े वे नीचे उतरे थे। प्रातः की सूर्य-किरणें अच्छी लग रही थीं। पहाड़ी आधी उतर चुकने के बाद रत्ने ने कहा—"नीचे दो-तीन गाँव दिखाई दे रहे हैं, इतने दिन हो गए, लेकिन उन्हें कभी देखा ही नहीं। चलिए आज देखकर ही लौटेंगे।"

वे दोनों उतरकर पहाड़ी-तल पर आ गये। सुल्तान पेठ को देखने के पश्चात् नन्दीग्राम गये। इतने में दोनों को भूख लग आई थी। वहाँ के एक होटल में गये। दो-दो इडली खाकर काफी पी। तत्पश्चात् भोगनंदीश्वर देवालय देखकर पुनः पहाड़ी-तल पर आये। ग्यारह बज चुके थे। धीरे-धीरे सीढ़ियाँ चढ़ने लगे। बायीं ओर धूप पड़ रही थी। सौ गज चढ़ते-चढ़ते डॉ॰ राव थक गये और बैठकर थोड़ा विश्राम किया। फिर चलने लगे तो रत्ने ने उनका दाहिना हाँथ थाम लिया। "पहाड़ चढ़ते समय कृपया हाथ थाम लें"—हँसकर कहते हुए डॉ॰ राव पुनः चढ़ने लगें। लेकिन आधी पहाड़ी चढ़ते-चढ़ते थक गये। पुनः विश्राम किया और फिर चढ़ने लगे। लेकिन सौ सीढ़ियाँ चढ़ते ही उन्हें चक्कर आने लगा। "मैं गिर रहा हूँ, सहारा दो"—कहते हुए वे बैठ ही गये। बैठते ही सीढ़ी पर सिर रखकर शरीर शिथिल कर दिया। रत्ने भयभीत हो उठी, उनके पास बैठ गई। उनका सिर अपनी गोद में रखकर आँचल से मुख, गर्दन का पसीना पोंछने लगी। कमीज के बटन

खोले। चेहरे पर पड़ रही धूप को आँचल से रोकने लगी। डॉ० राव बेहोश नहीं हुए थे। लेकिन छाती की धड़कन बढ़कर असामान्य हो गयी थी। पांच मिनट बाद आँखें खोलकर उन्होंने कहा—"घबराओ नहीं, केवल थोड़ी घबराहट हो गयी है।"

धूप चढ़ रही थी। रत्ने ने उन्हें वहां से उठाकर पास ही एक पेड़ की छाया में बैठाया। पीने के लिए वहां एक बूंद पानी भी नहीं मिल रहा था। डॉ० राव ने "दस मिनट रुककर चलेंगे" कहा तो भी वह नहीं मानी। "आप यहीं बैठे रहिए, मैं नीचे जाकर गाँव से डोली ढोनेवालों को ले आती हूं।" उनके मना करने पर भी चली गई। उस होटल में पहुंची, जहां नाश्ता किया था, और अपनी टूटी-फूटी कन्नड़ में बताया। अंग्रेजी जाननेवाले एक अध्यापक वहां काफी पी रहे थे। उनकी मदद से कार्य सरल हो गया। पन्द्रह मिनट में, दो बलवान व्यक्ति डोली लेकर पहुंच गये।

वे अपने कमरे में पहुंचे तो साढ़े बारह बज गये थे। स्नान, भोजन के पश्चात् डॉ० राव आराम करने लेट गये। रोज की तरह उन्हें आज नींद नहीं आई। थकावट के कारण बिस्तर पर पड़े करवटें बदलते रहे। थोड़ा सिर दर्द भी हो रहा था। शाम होते-होते थोड़ा बुखार भी चढ़ने लगा। घबराई हुई रत्ने उनका शरीर और माथा स्पर्श कर रही थी कि डॉ० राव ने कहा—"घबराओ मत! यह पहाड़ी मेरे लिए अलंघ्य है। मैं सैंतालीस वर्ष का हूं।"

वह मानने वाली नहीं थी। चपरासी को आवाज दी। वैद्य को बुलवाया। वैद्य आया और गोलियां देकर चला गया। रात-भर थोड़ा बुखार रहा। सुबह होने वाली थी तो आँख लग गई। रत्ने भी तब तक जागती रही। उन्हें नींद आने के पश्चात् वह भी बिस्तर पर सिर रखकर सो गई। दूसरे दिन भी डॉ० राव के सिर में दर्द था। थकावट के कारण शरीर टूट-सा रहा था। लेकिन बुखार नहीं था।

उस दिन दोपहर की डाक से उन्हें एक पत्र मिला। मैसूर से पुनर्निर्देशित उस पत्र का रंग ही बता रहा था कि वह लंदन से आया है। रत्ने ने खोलकर पढ़ा। प्रकाशक का पत्र था। लिखा था—"युद्ध को समाप्त हुए दो वर्ष बीतने पर भी हमारे लिए पत्र-व्यवहार पुनः प्रारम्भ

करना संभव नहीं हुआ। हमें कागज वांछित परिमाण में नहीं मिल रहा था। अब परिस्थिति सुधर गई है। कम्पनी का कार्य पूर्ववत् चल रहा है। भगवान् की कृपा से युद्धकाल मे हमारे भूमिगत खण्ड को किसी तरह की हानि नहीं पहुँची। पन्द्रह दिनो मे आपके तृतीय खण्ड का मुद्रण कार्य प्रारम्भ हो जायेगा। नियमित रूप से प्रूफ आपके पास भेज देंगे। विश्वास है कि चतुर्थ खण्ड के कार्य में काफी प्रगति हुई होगी! नमस्कार!"

खुश-खबरी थी। हँसते-हँसाते भोजन किया। उन्हें एक गोली दी, और लेटने के लिए कहकर रत्ने-बँगले के बाहर पेड़ों की छाँह मे बैठ गई। नीरवता मे भरा वातावरण व्याप्त था। तालाब, छोटी-छोटी पहाड़ियों की कतारें दूर से दृष्टिगोचर हो रही थी। मध्याह्न की कड़ी धूप से भरे आकाश मे भी नीरवता थी। रत्ने का मन थोड़े समय के लिए अतर्मुखी हो उठा। अपनी भावी योजना के बारे में सोचने लगी। 'तीन सप्ताह मे लंदन से प्रूफ आने लगेंगे। उन्हें जाँचने मे सारा समय निकल जायेगा। फिर पूरी विषय-सूची बनानी है। साथ ही, चतुर्थ खण्ड के लिए तैयारी। एक मास मे उसके लिए सामग्री सग्रह कर, लिखना प्रारम्भ करना चाहिए। शायद, जैसी कि उनकी योजना थी अब पाँच खण्डों मे समाप्त नही होगा। ऐरोप्य-काल हाथ मे लेने से पहले ही पाँच खण्ड हो जायेंगे। इन सबसे मुक्ति पाने में कम-से-कम आठ वर्ष लग जायेंगे।'

रत्ने पति के स्वास्थ्य के बारे मे सोचने लगी। कल जब चक्कर खाकर बीच रास्ते मे लेट गये थे, तो वह बहुत घबरा गई थी। निरंतर बौद्धिक कार्य मे लगे रहने वालो की शारीरिक स्थिति के बारे मे वह जानती थी। उसकी शक्ति भी पहले से घट गई है। बचपन से ही हृष्ट-पुष्ट शरीर के कारण वह उस भार को ढोने मे समर्थ थी। लेकिन उसके पति की शारीरिक शक्ति क्षीण हो रही है। 'क्या आनेवाली परिश्रमपूर्ण जिम्मेदारी निभाने की शक्ति उनके शरीर मे है?'

अचानक उसे कल की बात, माँ बनने की आकांक्षा, स्मरण हो आई। "ऐसी परिस्थिति में मैं गर्भवती हुई तो अब जिस गति से कार्य चल रहा है, चल नही सकता। प्रसव के पश्चात् पूर्ण विश्रांति चाहिए—

चाहकर भी कोई कार्य कर नहीं सकूंगी। बच्चे के एक वर्ष का होने तक उसके प्रति विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। आत्मीयता से पालन-पोषण करने वाली नौकरानी नहीं मिली तो मुश्किल हो जायगी। अगर नौकरानी मिल भी गई, लेकिन वह बच्चे की देखभाल नहीं कर सकी तो हम कैसे चुप रह सकते हैं?" उसके अंतरंग की गहराई से एक ध्वनि निकली, "अगर तू माँ बनी तो तेरा सहयोग न मिलने से, इस ग्रंथ के पूर्ण होने से पहले ही वे मर जायेंगे।" इस ध्वनि की सकारण पुष्टि करने में वह असमर्थ थी। पति की मृत्यु के विचार से उसका हृदय कांप उठा। उसके चेहरे पर दुख की छाया फैल गई। माया ठनका, दोनों भौंहें तन गईं। अपनी इच्छा-शक्ति का उसने स्मरण किया। जिस इच्छा-शक्ति से वह अपनी मातृभूमि, माता-पिता एवं अन्यों को त्यागकर आई थी और भविष्य में आनेवाली समस्त निंदा-स्तुति की परवाह किये बिना उनके साथ रही थी, उसी शक्ति ने उसे अब भी रास्ता दिखाया। उसने निश्चय किया कि 'जिस उद्देश्य से मैंने उनसे शादी की है, उसे पूर्ण करने से पहले उन्हें मौत से बचाये रखना है।' फिर भी उनकी शारीरिक स्थिति ने उसे अधीर कर दिया था। उनके शरीर के मांस-पिंड भरे नहीं थे। छोटे बच्चों का-सा हलका शरीर, शिथिल पड़ती जा रही उनकी काया, और दिन-प्रति-दिन क्षीण होने वाली उनकी दृष्टि उसकी आँखों के सामने उभर आई। हाल ही में उन्होंने पुनः चश्मा बदला था। उसने निश्चय किया कि वह माँ नहीं बनेगी। प्रेम की जो भी शक्ति होगी, उसे इस ग्रंथ की रचना में लगा देना है। लेकिन निश्चय के लक्षण चेहरे पर दिखाई देते-देते आँखों में अश्रुबिंदु छा गये। वह उसी दुःख का अनुभव कर रही थी जो एक माँ को अपनी कोख से जन्मे बच्चे की हत्या स्वयं करते समय हो सकता है। घुटनों के बीच मुँह छिपा, सिसक-सिसककर रो उठी। गत दो दिनों से अपने व्यक्तित्व को एक नये सुन्दर परिवेश में देख रही थी। उसमें उसके शरीर के अंग-अंग विकास के नवीन रूप में परिपक्व हो, नई कांति पा रहे थे। शिष्टतापूर्ण बौद्धिक जीवन के नीरस पथ के साथ-साथ, एक जीवन्त नदी के बहने की कल्पना का आधार दो दिनों में ही साकार रूप धारण कर वास्तविक सत्य की अपेक्षा अधिक गहरे तक पहुँच गया

था। अब उसे मिटाकर पुनः पुराने जीवन-विधान को स्वीकार करने के लिए संकल्प शक्ति तो तैयार हुई, लेकिन उसमें उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानों कोई उसके अंतःकरण को झकझोर रहा है।

१७

आठ वर्ष की दीर्घ अवधि ने कात्यायनी के जीवन में काफी परिवर्तन कर दिया। पति से उसे पूरा-पूरा प्रेम और विश्वास मिला। नागलक्ष्मी के साथ कभी मनमुटाव नहीं हुआ। इसके बावजूद, वह पहले-सी नहीं है। नंजनगुड से लौटने के पश्चात् मन को व्यस्त रखने का प्रयत्न करने लगी। राज ने पुनः आनर्स होकर एम० ए० कर लेने की सलाह दी। वह एम० ए० करना चाहती थी, लेकिन उसी कालेज में नहीं। अपने परिचित सहपाठियों के साथ पढ़ना एवं अध्यापकों के समक्ष जाना उचित नहीं लगा। उनके सम्मुख जाने में उसे संकोच हो रहा था। फिर भी पढ़ने की लालसा बनी रही। अंत में दोनों ने मिलकर निर्णय किया कि राज उसे घर में ही पढ़ायेगा और फिर बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से प्राइवेट परीक्षा दे देगी। पढ़ने-लिखने में होशियार थी, अतः उसे ज्यादा कठिनाई नहीं हुई। दो वर्ष में एम० ए० की उपाधि भी प्राप्त कर ली।

दो वर्ष बाद राज के साथ बनारस जा रही थी। उस समय वह चार माह की गर्भवती थी। पढ़ाई के कारण इस ओर उसका अधिक ध्यान नहीं गया। घर के बाहरी काम नौकरानी करती थी और रसोई का काम नागलक्ष्मी। कात्यायनी सदा अध्ययन में लगी रहती। अन्तिम पेपर देकर पति के साथ बनारस से बंगलूर लौटने लगी तो मार्ग में बच्चे के बारे में सोचने लगी। राज भी बच्चे के लिए उत्सुक था।

ही बच्चे उसे बहुत भाते हैं । पृथ्वी तो अब आठ साल का होकर ल जा रहा होगा । उससे खेलने में बच्चों का-सा आनन्द नहीं मिलता । के अलावा उसे इस बात का भी आनन्द था कि उसका अपना बच्चा ने वाला है । वे घर पहुँचे । पत्नी का पेट चूमा और बच्चे के प्रति ह व्यक्त करता हुआ पत्नी का मुख देखने लगा । पति का भाव मझ, वह उससे लिपट गई मानों बच्चे से लिपट रही हो । अब कात्या-नी, वैद्यों की सलाह के अनुसार और नागलक्ष्मी को आराम देने की दृष्टि से घर का काम करने लगी । रोज शाम को दोनों लगभग दो मील का चक्कर काटते । राज पत्नी के लिए पौष्टिक आहार और फल लाता ।

गर्भ-शिशु से कात्यायनी को चीनी की याद आने लगी । अब वह सात वर्ष का है । दूसरी कक्षा में पढ़ रहा होगा । दादा पास बिठाकर सिखाते होंगे । अब तक संस्कृत का अध्ययन हो चुका होगा; कई श्लोक, देवनाम कंठस्थ हो चुके होंगे । उसे एक बार देखना चाहिए । लेकिन कैसे ? दीर्घ निःश्वास लेते हुए कल्पना को दूसरी ओर मोड़ा । मन भावी संतान की ओर गया । मन में कुतूहल जागा कि लड़का होगा या लड़की । उसका मन कहता कि लड़का तो है ही, लड़की हो तो अच्छा रहेगा । लेकिन उसकी प्रज्ञा जागकर कहती, 'प्रथम लड़का तो उस घर के सुपुर्द कर दिया है, इस घर और मेरे लिए एक बालक चाहिए !'

एक दिन यही बात छिड़ी तो उसने पति से पूछा—"आप लड़का चाहते हैं या लड़की ?"

"मैं जो चाहूँ, वह देना तेरे हाथ में थोड़े ही है ।"

"मजाक छोड़िए, कहिए ?"

"लड़की हुई तो पराये घर जायेगी । हमारा नाम चलाने वाला पहला लड़का ही हो ।"

"किसी पर विश्वास न रखने वाले अपनी परम्परा की चिंता करने लगे ! कैसा परिवर्तन है !" पति को छेड़ा । उसने कहा—"इस परि-वर्तन का कारण तू ही है ।" और पत्नी की आंखों-से-आंखें मिलाकर हँस पड़ा ।

कात्यायनी को अब छह महीने हो गये । वह वैसी ही सुन्दर है ।

पल रहे जीव की चेतना ने उसके सौंदर्य पर नयी कांति बिखेर दी है। राज पत्नी के सामने बैठ गया। उसे वह दिन याद आया जब हुएसूर मार्ग के झरने के पास बैठा था। स्वप्न में सुन्दर मुखाकृति एव रूपवती युवती थी। चारों ओर चैतन्यपूर्ण हरियाली-ही-हरियाली थी। पेड़ सुशोभित थे। कल-कल करता झरना वह रहा था। ऐसी पृष्ठभूमि में उसने उस युवती को अपलक देखा था। उसका स्वस्थ शरीर कांति से चमक रहा था। चलने पर चरण ऐसे लाल-लाल हो जाते हैं मानो लहू फूट रहा हो। हाथों की अँगुलियाँ इतनी सुन्दर कि कोई मँजा हुआ चित्रकार ही चित्रित कर सकता है। आभूषणों से कोमल शरीर दब न जाय, अत. निराभरण। पीठ पर सर्पिल सुन्दर काली केश-राशि। मुखमुद्रा गंभीर। सुकोमल अगों में प्रस्फुटित रमणी-रूप। अब भी राज उसे एकटक देख रहा है। वैसी ही कांति, वैसा ही पूर्ण यौवन। रूप बखेरते हुए वही अग और वे ही सुन्दर चरण! इन सब में एक अपूर्व चमक थी। उसमे वे नये लक्षण दिखाई दे रहे थे जो फलों से लदे सुन्दर वृक्ष मे दृष्टिगोचर होते हैं।

"इस तरह अपलक क्यों देख रहे हैं?"

राज ने उसके मुख को अपने हाथों मे थामकर कहा—"प्रकृति का नया रूप पागल बनाये दे रहा है।"

"पुरुष के सामीप्य का परिणाम है, प्रकृति के स्वानुभव के आनन्द का फल है।"—कहकर वह हँस पड़ी। जबकि उसे स्मरण था कि जो प्रकृति चिरनूतन, चिरचेतन है, उस पर धर्म की पाबंदी लगाना अधर्म है, किन्तु उसने यह नहीं कहा। उसकी दृष्टि अपने शरीर की ओर मुड़ गई। वह अपने सौंदर्य मे इतनी खो गई कि सम्मुख बैठे पति को भी भूल गई।

कात्यायनी स्वस्थ थी। छठा महीना चल रहा था। एक दिन दोपहर में राज कालेज गया हुआ था। ग्रीष्म की छुट्टी के पश्चात् कालेज अभी खुला था। ज्येष्ठ मास की वर्षा की बूँदें गिर रही थीं। ऐसे समय मे कात्यायनी का मन अव्यक्त, अनजान आकुलता का अनुभव कर रहा था। पूरे वेग से बहती कपिला नदी, उसके किनारे बैठ आत्महत्या का निर्णय, इस बीच राज का बचाना आदि घटना-चक्र बिजली-सा मस्तिष्क मे कौंध गया। चीनी की भी याद आई। अचानक उसे पेट मे

दर्द उठा। आध घंटे में असहनीय हो उठा। वह घबरा गई। सात वर्ष पहले, चीनी के जन्म के समय भी ऐसा ही हुआ था। अन्दर नागलक्ष्मी 'रामनाम' लिखने में व्यस्त थी। उसे बताया तो वह भयभीत हो गई। उसने कात्यायनी के पेट पर हाथ रखकर देखा। कुछ जान न सकी। पड़ोसिन को बुलाया। उसने तुरन्त अस्पताल पहुँचाने की सलाह दी। राज को खबर भेजी। वह घर की ओर दौड़ा। तुरन्त टैक्सी से नागलक्ष्मी को भी साथ ले, चेलुवांबा अस्पताल पहुंचे। जाँच करने के पश्चात् लेडी डॉक्टर ने आकर राज से कहा—"घबराइए नहीं, गर्भपात होने के लक्षण हैं। हमसे जो भी बन पड़ेगा, हम करेंगे।" राज बाहर बैठ गया और नागलक्ष्मी अंदर कात्यायनी के पास थी।

गर्भवती की पीड़ा को देखकर नागलक्ष्मी भी दुःखी हो उठी थी। शरीर फैलाये धूप में पड़े मेंढ़क की तरह छटपटाती कात्यायनी की भुजा को नागलक्ष्मी बायें हाथ से पकड़कर दाहिने हाथ से उसकी पीठ सहलाने लगी। कभी-कभी कमर के पिछले भाग को जोर से रगड़ती। चीनी के प्रसव में इतना कष्ट नहीं हुआ था। थोड़ी देर में रक्तस्राव होने लगा। दो नर्सें उसे 'लेबर वार्ड' में ले गयीं। नागलक्ष्मी बाहर रही। एक घंटे में गर्भपात होकर सारा खेल समाप्त हो गया। बेहोश कात्यायनी को लेडी डॉक्टर ने दो इन्जेक्शन दिये। वह होश में आई। स्ट्रेचर पर लिटाकर लाये और बिस्तर पर सुला दिया गया। बाहर आकर नागलक्ष्मी ने राज को सारी बात बताई। डॉक्टर की अनुमति ले राज अंदर गया। कात्यायनी का शरीर अर्द्ध चेतनावस्था में बिस्तर पर पड़ा था। मुख-कांति गायब हो गई थी रक्तस्राव होने से मुख पीला पड़ गया था। अँगुलियाँ शिथिल थीं। उन्हें आनन्द का फल नहीं मिला। फलों से लदे वृक्ष को रोग लगने पर सारे फल गिर जाते हैं, केवल डालियाँ-ही-डालियाँ दीखती हैं, ऐसी हालत थी आज कात्यायनी की। राज को सान्त्वना देते हुए नागलक्ष्मी ने कहा—"डॉक्टर का कहना है कि जान का कोई खतरा नहीं है। इसी में संतोष कर लेना चाहिए। श्री रामचन्द्रजी ने जान बचाई है। तुम घर जाकर थर्मफ्लास्क, दो लोटे, शक्कर, चम्मच, एक टावेल ले आओ और मेरे लिए एक चादर और दुपट्टा। उसे घर भेजने तक मैं यहीं सोऊँगी। तीन-चार दिन

यहीं रहूँगी। अपने और पृथ्वी के लिए खाना होटल से मँगा लेना।

चार दिन में कात्यायनी क्षीण स्वर में बोलने लगी। लेकिन डॉक्टर ने कहा कि पूर्ण स्वस्थ होने में अब भी पन्द्रह दिन लग जायेंगे। उस दिन से नागलक्ष्मी सुबह घर जातीं, और खाना पकाकर व खाकर बारह बजे तक वापस आ जातीं।

इस दुर्घटना के आठ दिन बाद, राज ने इसकी खबर डॉ० राव को दी। "इतने दिनों तक क्यों नहीं बताया?" नाराज-से होकर उन्होंने पूछा। तुरन्त गाड़ी से अस्पताल की ओर निकल पड़े। राज गाड़ी के पीछे-पीछे साइकिल से आ रहा था। रोगी की खाट के पास दस मिनट खड़े रहे। फिर स्वास्थ्य के बारे में पूछताछ कर सान्त्वना देने लगे, "जीवन में ऐसा होता ही है, दुःखी मत होओ। मन पर इसका प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए।" बाहर आये। रत्नं लगभग एक घण्टे तक कात्यायनी के पास ही स्टूल पर बैठी बातें करती रही। अस्पताल के बाहर एक पेड़ के नीचे बैठकर डॉ० राव भाई को सान्त्वना देते रहे। रत्नं बाहर आई। गाड़ी में बैठते-बैठते डॉ० राव ने राज से कहा—"हमारे साथ चलो। वहाँ से घर चले जाना।" सरस्वतीपुर स्थित अपने घर पहुँचे। दो मिनट में भीतर से बाहर आकर राज के हाथ में एक चेक रखते हुए कहा—"बहुत दुबली हो गई है। अच्छी तरह देखभाल करना।"

राज ने चेक देखा। एक हजार रुपये का था। पूछा—"इतने रुपये क्यों?"

"प्रसूति की अपेक्षा इसमें अधिक सतर्कता की आवश्यकता होती है। काफी टानिक आदि लेना चाहिए। प्रकाशकों से मुझे रुपये मिलते रहते हैं। सोचने की जरूरत नहीं।" कहकर डॉ० राव ने विदा किया।

कात्यायनी को पुन: गर्भ ठहर गया। इस बार भी तीसरे माह गर्भपात हो गया। इस दूसरे आघात से दम्पति के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। किन्तु एक साल में कात्यायनी का स्वास्थ्य सुधर गया। उसका शारीरिक सौष्ठव पहले-जैसा न था। लेकिन आकार,

सौंदर्य, लक्षण आदि पूर्ववत् थे। शारीरिक शक्ति घट गई थी। इस बीच राज को असिस्टेंट प्रोफेसर बनाकर बंगलूर ट्रांसफर कर दिया। पदोन्नति से खुशी हुई। साथ ही इस बात का दुःख भी हुआ कि मैसूर के नाटक संघ को छोड़कर जाना पड़ रहा है, क्योंकि यह उसी के द्वारा संस्थापित था। कात्यायनी नये स्थान पर जाने के लिए उत्सुक थी। निरासक्त भाव से नागलक्ष्मी ने परिवर्तन को स्वीकार कर लिया। उसकी दृष्टि में दोनों स्थानों में कोई अन्तर नहीं था। जहाँ भी जायें, यथाशक्ति घरेलू कार्य करना और शेष समय में राम-नाम लिखने के अलावा उसे और कोई काम था ही नहीं। लगभग दो वर्ष से वह 'रामनाम' लिख रही है और इससे उसके मन को एक तरह की सान्त्वना मिल रही है। पति के प्रति जो क्रोध था, वह अब उतर चुका है। अब अगर वे आकर बात करना चाहें तो वह भी इसके लिए तैयार है। घर में अब भी उसके प्रति राज की श्रद्धा व विश्वास कायम है। कात्यायनी भी उसे घर की मालकिन समझकर चलती है। उसके बेटे पृथ्वी को राज और कात्यायनी, दोनों प्यार करते हैं, और उसके अध्ययन की ओर ध्यान देते हैं। अब कुछ समय से नागलक्ष्मी के मन में एक नया विचार उठा है। उसने कई बार सोचा कि "कुछ भी हो, यह मेरा घर नहीं है। जहाँ भी 'वे' रहेंगे, वही मेरा घर है—भले ही वे रत्ने के साथ रहें। जो खाना यहाँ पकाती हूँ, वही वहाँ उन दोनों के लिए पकाया करूँगी।" लेकिन किसी से जिक्र नहीं किया। बंगलूर जाने के दिन निकट आ गये और वह सोचती रह गई कि वे देखने के लिए अवश्य आयेंगे। चारों रात की रेल से मैसूर से रवाना हुए। बंगलूर आने के पश्चात् भी 'रामनाम' चलता रहा। गत चार वर्ष में वह बीस लाख नाम लिख चुकी है। पचास नोटबुकें भर गई हैं। राज अब भी नोटबुक, निब, स्याही पाउडर लाकर देता है। हर नोटबुक के अंतिम पन्ने पर लिखती—

सर्वकल्याणदातारं, सर्वपद्घनमारुतम्।
अपारकरुणामूर्ति, आंजनेयं नमाम्यहं॥
आपदामपहर्तारं, दातारं सर्वसम्पदां।
लोकाभिरामं श्रीरामं, भूयो भूयो नमाम्यहं॥

फिर हल्दी-कुंकुम से पूजा कर, हल्दी लगे धागे से उसे बाँधकर देव-मंच के पास ऐसी जगह रखती जाती कि अन्य कोई छू न सके। "पचास पुस्तकें समाप्त हो गई हैं तो कुल कितने नाम हुए ?" वह कात्यायनी से पूछती।

"बीस लाख !"

"एक करोड़ लिखने में अब और कितने दिन लगेंगे ?"

"चार वर्ष में बीस लाख लिखे गये। इसी तरह लिखती रहीं तो सोलह वर्ष में एक करोड़ हो जायेंगे।"

"कुछ भी हो, एक करोड़ राम-नाम लिखकर ही मुझे मरना चाहिए। हे भगवान् ! श्रीराम ! मुझे सोलह वर्ष की आयु और दो।" उसने उस दिन भगवान् से प्रार्थना की।

एक दिन कात्यायनी ने पूछा—"इसी तरह बेकार लिखती रहीं तो क्या मिलेगा ?"

"श्रीराम अगले जन्म में अच्छा करेंगे !"

कात्यायनी रामकथा के बारे में सोचने लगी। उसको राम की वीरता, त्याग आदि गुण रुचते थे, किन्तु बन में उन्होंने लोकाप-वाद के डर से अपनी प्रिय पत्नी को त्यागने का जो कार्य किया, वह नहीं रुचा। उसने नागलक्ष्मी से कहा—"आप कुछ भी कहें, सीता-जैसी पत्नी को लोकापवाद के डर से बन भेजकर राम ने महान् कार्य नहीं किया।

"छिः छिः, ऐसा नहीं कहते। जाने दो। श्री रामचन्द्र के कार्य को गलत कहने वाले हम कौन होते हैं ? वे आखिर भगवान् हैं। वे क्या, यह सब नहीं जानते ?"

दिन-भर नागलक्ष्मी को पति की याद आती रही। सीतादेवी की तरह वह भी परित्यक्ता है, लेकिन मेरा पति एक और महिला से विवाह कर दूर हो गया है। श्रीराम ने ऐसा नहीं किया था। इससे राम के प्रति नागलक्ष्मी की भक्ति और बढ़ गई।

पृथ्वी अब बारह वर्ष का लड़का है। वह मल्लेश्वर स्थित हाईस्कूल में जा रहा है। पढ़ाई अच्छी थी। कई बार यह सोचकर नागलक्ष्मी अपने-आप पर चिढ़ जाती कि 'कम-से-कम बेटे को देखने की इच्छा तो

उनमें होनी चाहिए !'

राज के बगलूर आने के पश्चात् उसी कालेज में एक अंग्रेजी अध्यापक का स्थान खाली हुआ। "बेकार घर में बैठने के बदले तुम नौकरी करोगी ?" राज ने कात्यायनी से पूछा। पहले वह झिझकी। लेकिन उसी कालेज में पति के असिस्टेंट प्रोफेसर होने के कारण उसने स्वीकार कर लिया। राज ने प्रयत्न शुरू किया। बड़े भाई को पत्र लिखा कि हो सके तो कात्यायनी को उस स्थान पर नियुक्त कराने का प्रयास करें। अब डॉ० राव प्रोफेसर बन गये थे। विश्वविद्यालय के उच्च अधिकारी उनकी बातों को महत्त्व देने लगे थे। कात्यायनी की नियुक्ति हो गई। नया जीवन पाकर उसने अतीत की कई घटनाओं को भुला देने का प्रयत्न किया। वह रोज पति के साथ कालेज जाती। शाम को उनके साथ लौटती। बंगलूर में भी राज ने एक नाटक संस्था प्रारंभ की। यहाँ भी संस्था प्रसिद्ध हुई और कालेज में राज प्रसिद्ध हो गया। घर के कामकाज की जिम्मेदारी नागलक्ष्मी पर पड़ने लगी। एक दिन कात्यायनी ने कहा—"दीदी, अब हम दोनों कमाते हैं, आपको बहुत काम करना पड़ता है। एक रसोइया रख लें।" लेकिन नागलक्ष्मी नहीं मानी। "तुम्हारी शादी से पहले क्या मैं अकेली नहीं पकाती थी ? यह कौन-सा कठिन काम है ? रसोइये का पकाया खाना मैं न खा सकूँगी !" उसने कहा।

कात्यायनी को कालेज में पढ़ाते चार वर्ष बीत गये। लेक्चर देने की तो उसे आदत-सी हो गई। कालेज में समय आसानी से गुजर जाता था। घर में रहते समय दूसरे दिन पढ़ाने के लिए तैयारी करना, नाग लक्ष्मी की थोड़ी मदद करना, पृथ्वी के अध्ययन के प्रति ध्यान देना, आदि में समय कट जाता था। शाम को पति के साथ तरकारी, फल-फूल खरीदने बाजार हो आती।

अब उसे जीवन नीरस लगने लगा। न जाने क्यों वह अपने को अकेली महसूस करती। बार-बार चीनी की याद आती और उसे देखने की इच्छा होती। यह जानने का कुतूहल होता कि क्या उसे मेरी याद आती होगी ? क्या कभी माँ को देखने की इच्छा व्यक्त की होगी ? वह सोचती, अब वह तेरह वर्ष का है। काफी ऊँचा हो गया होगा !

आठवें साल में ही यज्ञोपवीत संस्कार कर दिया गया था। अब तक वेदोपनिषद् का अधिकांश भाग उसे कंठस्थ हो गया होगा! संस्कृत का अध्ययन भी ठीक तरह से चलता होगा! मैं भी पढ़ती तो अब तक गीता-उपनिषदों को कंठस्थ कर सकती थी। लेकिन उस ओर आकर्षण नहीं था। चीनी की बुद्धि परिपक्व होने के पूर्व ही उसके दादा ने उसे पढ़ाया है। शायद वह हाईस्कूल में जाने लगा होगा! रोज कम-से-कम एक बार उसे चीनी को याद आती। अपने एकाकी भावों को, पुत्र के कल्पित चित्र के साथ लीन हो कुछ समय के लिए अपने-आपको भुला बैठती।

पुनः उसमें माँ बनने के चिन्ह दिखाई पड़ने लगे। राज खुश हो उठा। विवाहित जीवन के दो साल बाद वह पिता बनने वाला था, किन्तु आशा निराशा में बदल गई थी। दूसरी बार भी असफलता। अब पत्नी पुनः माँ बनने वाली है। आनन्द विभोर हो पत्नी का हाथ पकड़कर बोला—"चलो, लेडी डॉक्टर के पास चलें। इस बार हर सप्ताह जाँच करानी चाहिए और काफी सतर्कता बरतनी चाहिए।"

लेडी डॉक्टर ने कात्यायनी की जाँच की, कैल्शियम लेने की सलाह दी। कुछ गोलियों और टानिकों के नाम लिख दिये। अधिक-से-अधिक दूध, फल लेने की सलाह दी। साथ ही महीने में एक बार रक्त-परीक्षा और मूत्र-परीक्षा तथा सप्ताह में एक बार जाँच के निमित्त आने को कहा। कात्यायनी इन सलाहों के अनुसार चलने लगी। चार माह का गर्भ हो गया था। शारीरिक निर्बलता एवं आलस्य छोड़ दें तो वह स्वस्थ थी। अगले दो महीनों में उसका शरीर और चमक उठा। लाल-लाल आमों से लदे आम्र-वृक्ष की तरह लगते थे। आश्विन की लह-लहाती फसल कार्तिक में जिस तरह फलों से लदकर भारी हो जाती है, उसी तरह कात्यायनी भारी कदमों से चलती थी। चलती तो तलवों से रक्त फूट पड़ने का अंदेशा होता! जीव-विज्ञान का चैतन्य उभर आया था। राज ने एक बार गौर से देखा तो याद आया कि पहली बार भी वह ऐसी ही थी। उसे आईने के सामने खड़ा करके पूछा—"देखा?"

कात्यायनी ने अपने-आपको देखा। उसके आनन्द में एक भय था। वह अपने उस विकसित हो रहे रूप को निरासक्त भाव से स्वयं देख न

सकी। अतः पति से पूछा—"मुझे देखने पर आपको कैसा लगता है ?"

"लगता है पुरुष के सामीप्य के फलस्वरूप प्रकृति अपनी सीमा के निकट पहुँच रही है।"

"छिः, ऐसा मत कहिए।" पति के मुँह पर हाथ रखकर उसने कहा—"पिछली बार जो-कुछ भी हुआ, उसके पश्चात् इस प्रकृति-पुरुष की कल्पना भी मुझे डरा देती है।" ऐसा कहते समय उसकी ध्वनि कांप रही थी, आंखों में कातरता दिखाई पड़ती थी।

इस बार बच्चा कैसा रहेगा—इस वाक्य का उन्हें अधिक कुतूहल नहीं था। दोनों यही प्रार्थना करते कि सकुशल प्रसव हो और बच्चा-जच्चा घर लौटें। कात्यायनी ने 'मेटरनिटी लीव' के लिए अर्जी दी थी। एक दिन नागलक्ष्मी ने कहा—"लोगों की दृष्टि एक-सी नहीं होती। आज से बाहर जाते समय पुरानी साड़ी ही पहनना। अच्छी साड़ी पहनोगी तो नजर लग जायेगी।" कात्यायनी ने ऐसा ही किया। इसमें राज का भी विश्वास था। अभी छह महीने हुए थे। एक दिन राज कक्षा में पढ़ा रहा था कि कालेज के चपरासी ने उसे एक चिट्ठी दी। कात्यायनी की थी। "स्टाफ रूम में बैठी हूँ। पेट में बड़ा दर्द है। भय लग रहा है।" कक्षा छोड़कर वह आया। पत्नी का चेहरा देखकर उसे भय हो उठा। उसने एक विद्यार्थी को बुलाया। उसकी कार में कात्यायनी को बैठाकर सीधा 'वाणी-विलास' अस्पताल पहुँचा। पहुँचने से पहले ही कात्यायनी दर्दनाक पीड़ा का अनुभव कर रही थी। लगता था थोड़ा-थोड़ा रक्तस्राव भी हो रहा है। डॉक्टर के जांच करने के पूर्व ही राज और कात्यायनी समझ गये थे कि इस बार भी गर्भपात होगा। वह वार्ड में भरती कर ली गई। राज वहीं रहा। विद्यार्थी घर जाकर नागलक्ष्मी को बुला लाया। नागलक्ष्मी के आने के पहले ही कात्यायनी को लेबर-वार्ड में ले गये थे। भाभी को देखते ही राज की आंखें भर आईं। पहले से ही वह भावुक है। बच्चे उसे प्रिय हैं। दो बार उसकी आशा धूमिल हो चुकी है। तीसरी बार भी वही होने जा रहा है। उसने स्वयं से पूछा—'हे भगवान्, यह किस कर्म का फल है ?'

दो घंटे पश्चात् कात्यायनी को स्ट्रेचर पर उठाकर लाये और पलंग पर लिटा दिया। नर्स ने कल सुबह तक किसी को भी उसके पास

जाने की मनाही कर दी। एक दिन बाद कात्यायनी को पूर्ण होश आया। सारी बातों की कल्पना करने में उसे पूरा आधा घंटा लगा। इस घटना से उसकी आँखें भर आईं। अशक्त होते हुए भी, वह सिसक पड़ी। पास ही नागलक्ष्मी बैठी थी, उसने दोनों हाथों से उसका सिर थाम लिया। उसके रोने की आवाज सुनकर नर्स पास आकर कहने लगी—"ऐसे रोओगी तो आपकी स्थिति और गंभीर हो जायेगी।" कात्यायनी को चेतावनी देकर, नागलक्ष्मी की ओर मुखातिब होकर बोली—"आप पास रहेंगी तो वे सारी बातें याद कर-करके रोती रहेंगी। आप बाहर जाइए।" नागलक्ष्मी को विवश हो बाहर जाना पड़ा।

उस दिन शाम को राज अस्पताल की बड़ी लेडी डॉक्टर से मिला। डॉक्टर ने स्वयं उसे पहचानकर कहा—"नमस्कार! मेरी बेटी आप दोनों की छात्रा है।"

"क्या नाम है उसका ?"

"मिस सुधा राव। गत वर्ष आपने ही उससे प्रोलिफिया का पार्ट कराया था। आपकी पत्नी उसे बहुत प्रिय हैं। मुझे बड़ा खेद है कि उनके साथ ऐसा हुआ।"

रोगी के बारे में बताते हुए कहा—"यह तीसरी बार ऐसा हो रहा है। उन्हें एक महीना अस्पताल में ही रहने दीजिए। उसके बाद कम-से-कम छह महीने घर में रखना होगा। उन्हें लम्बी छुट्टी लेनी पड़ेगी। हम सर्टिफिकेट दे देंगे।"

"प्राण-हानि का तो कोई डर नहीं है न ?" राज ने भय-मिश्रित वाणी में पूछा।

"इस बार आप तुरन्त ले आये, इसलिए प्राण बच गये। भविष्य में पुनः गर्भ ठहरा, तो ऐसी ही स्थिति की संभावना अधिक है। यही दुहराया गया तो अगली बार बचने की संभावना रुपये में एक आना भी नहीं होगी।" राज विवर्ण हो उठा। लेडी डॉक्टर कहती गई—"एक साल तक पति से सम्पर्क नहीं रखना चाहिए। और इस बात का भी ध्यान रहे कि कभी गर्भवती न होना ही उचित होगा। आपकी शल्य-चिकित्सा करना सर्वोत्तम होगा। आपके कुल कितने बच्चे हैं ?"

"एक भी नहीं।"

खिन्न होकर डॉक्टर ने कहा—"अब आप लोगों को ही निश्चय करना होगा। हम नहीं कह सकते कि क्या करना चाहिए। हमने अपनी सूझ के अनुसार सलाह दी है।"

भारी मन से राज घर लौटा। वह जानता था कि विश्वविद्यालय कात्यायनी को छह महीने की छुट्टी नहीं देगा। फिर भी अस्पताल से प्रमाणपत्र लेकर, पत्नी की ओर से स्वयं अर्जी लिखकर मैसूर के लिए निकल पड़ा। नागलक्ष्मी ने इतना ही कहा—"काम पूरा करके लौटना। एक दिन देर हो तो भी चिन्ता मत करना। मैं अस्पताल में हूँ। पड़ोसी पृथ्वी के साथ सोयेंगे।" मैसूर में उतरते ही वह सीधा पुस्तकालय गया। डॉ० राव लिखने में लीन थे। बातें जानकर उन्हें भी दुःख हुआ। बोले—"पहले उपकुलपति से मिलकर अर्जी दे दो। तत्पश्चात् मैं उनसे मिलूंगा।" राज ने वैसा ही किया। रत्ने राज को घर ले गई। थोड़ी देर बाद स्वयं उपकुलपति से मिलकर डॉ० राव भी सीधे घर पहुँचकर बोले—"छुट्टी देने के लिए राजी हो गये हैं, लेकिन उस अवधि का वेतन नहीं मिलेगा। यह भी कहा कि सर्विस बीच में खंडित नहीं मानी जायेगी।" भोजन के बाद राज को "तुम शटल से ही लौटो, तुम्हारा वहाँ रहना आवश्यक है।" कहकर हजार रुपये का एक चेक उसके हाथ में रख दिया। "फिर ये रुपये किसलिए?" कहकर लौटाना चाहा तो समझाने लगे "कि कात्यायनी को छह महीने का वेतन नहीं मिलेगा। इस बार सतर्क होकर इलाज कराना होगा। इसे अपने पास रख लो। मेरे पास पैसे है। बीच में आवश्यकता पड़े तो अवश्य लिख देना। चिन्ता मत करो।" राज चला गया।

अस्पताल से घर आये एक महीना होजाने पर भी कात्यायनी बिस्तर में पड़ी-पड़ी दिन गिन रही थी। उसे राज दवा, टानिक, फलों का रस देना पड़ता था। एक लेडी डॉक्टर तीन दिन में एक बार घर आकर उसे देख जाती थी। अब वह पहले की कात्यायनी नहीं थी। चेहरा अपना लावण्य खो चुका था, रस-निचुड़े आम के समान बन गया था। उसकी सुन्दर अँगुलियाँ अब सूखी लकड़ी-सी दीखती थीं। अँगूठी अँगुली से

सिसकी पड़ती थी। आँखों का प्रकाश मंद हुआ जा रहा था। चेहरे पर निराशा तांडव कर रही थी। सिर के बाल झड़कर मुट्ठी-भर रह गये थे। किसी ने कभी सोचा भी नहीं था कि सुघड़ सुन्दर शरीर इस तरह बिस्तर से सट-सा पड़ा रहेगा। राज किसी कार्यक्रम में भाग नहीं लेता— नाटक में भी नहीं। कालेज से लौटकर पत्नी के पास ही बैठ जाता। राज घर में नहीं होता तो नागलक्ष्मी कात्यायनी के पास बैठ जाती। कभी कोई बात छेड़ देती। आजकल हर शनिवारको नागलक्ष्मी श्रीराम की पूजा करके बल्मीक रामायण की कथा पढ़ती। किसी शनिवार को, कात्यायनी की इच्छानुसार, उसकी खाट के पास ही एक पाटे पर बैठकर रामकथा पढ़ती। कात्यायनी ध्यान से सुनती। कुछ देर वह भी भक्ति-प्रवाह में बह जाती थी।

अकेली लेटी होती या रात में नींद न आती तो कात्यायनी का मन गहरे विचार में डूब जाता। तीनों बार ऐसा होने के कारण का उसका मन विवेचन करने लगता। इस बार उन्होंने मानव-संभव समस्त सतर्कता बरती थी। नव लेडी डॉक्टर हर सप्ताह जाँच करती थी। चीनी के प्रसव के समय इस तरह की कोई वैद्यकीय सुविधा नहीं थी। पाँचवें महीने में भागीरतम्मा ने कोई एक कषाय पिला दिया था। घर में खाना मिलता था और थोड़ा-सा दूध-घी देती थी। टानिक की बात ही नहीं। फिर भी चीनी का प्रसव सुचारु रूप से हुआ था। ये तीन ऐसे क्यों हुए ? अस्पताल में लेडी डॉक्टर ने राज से जो-कुछ कहा था, वह उसने दो दिन पहले ही पत्नी को बताया था। भविष्य में मैं कभी गर्भवती हुई, ऐसा होने की सम्भावना ही अधिक है, तो मेरे प्राण नहीं बचेंगे। इन सबका मतलब क्या है ? कारण क्या है ? अपने मन को सूझ रहे कारणों के सामंजस्य में परखने के पश्चात् उसका मन पाप-पुण्य की समीक्षा करने लगता। चीनी को लेने के लिए जब वह नंजनगूड़ गई थी तब श्रोत्रियजी की कही हुई बात अब भी उसे स्पष्टतः याद है—"एक वंश के बीज को आगे बढ़ाने के लिए ही एक क्षेत्र को और एक वंश के लोग दान करते हैं। उस वंश के बीज को अपने में अंकुरित कर वृक्ष बनाने के पश्चात् वह क्षेत्र अपनी सार्थकता को प्राप्त करता है।" श्रोत्रियजी के वंश के बीज को अपनी गोद में अंकुरित कर

उस वंश-वृक्ष के और एक छोर को अंकुरित कर दिया था। क्या मेरे स्त्रीत्व की सार्थकता यहीं पूर्णतः समाप्त हो गई है? क्या एक और नये वंश की माँ बनने की शक्ति मुझ में नहीं है?

लेकिन नये वंश की माँ बनने के उद्देश्य से उसने राज से शादी नहीं की थी। राज ने भी उसे अपने वंश की माँ बनाना नहीं चाहा था। वे दोनों परस्पर उत्कट प्यार करते थे। प्रेम इतना प्रबल था कि एक के बिना दूसरे का जीना असंभव-सा हो गया था। कात्यायनी पागल-सी हो जाती थी। राज तो आधा दीवाना हो चुका था। प्रकृति-पुरुष की तरह जीवन की पुकार सुनकर ही परस्पर एक हुए थे। लेकिन अपने जीवन का भविष्य चाहना उसके लिए सहज था। राज में पिता बनने की तीव्र इच्छा थी। वह भी माँ बनने के लिए लालायित थी। और बनने वाली भी थीं। लेकिन तीनों बार आघात! इसका कारण क्या है? क्या यह उदर नये वंश को खो चुका है? वह 'वंश की माँ' की कल्पना को नहीं मानती थी। 'नये बच्चे की माँ' की दृष्टि से सोच रही थी। लकिन श्रोत्रियजी का वाक्य 'वंश की पृष्ठभूमि को छोड़कर मातृत्व-पितृत्व कुछ भी नहीं' उसे स्मरण हो आता। तुरन्त उनकी और एक बात स्मरण हो आती जो शूल-सी चुभती थी—'विकास-पथ में एक बार प्राप्त स्तर का ही पुनः अनुभव करना पाप है'। कन्या ने पत्नी बनकर अपने प्रथम पति के साथ आनंदानुभव किया था। बाद में वह माँ भी बनी। तत्पश्चात् पुनः कन्या की तरह प्यार करके प्यार चाह-कर और किसी की पत्नी बनी। एक बार जो माँ बनती है, क्या वह सदा के लिए माँ बन जाती है? क्या वह पत्नी नहीं है? इसका कोई उत्तर नहीं मिलता। 'हे भगवन्! वास्तविक पाप ने हमें बाँध रखा है या पाप की कल्पना ने?'—वह दुःख से निःश्वास छोड़ती।

एक दिन उसने नागलक्ष्मी से पूछा—"दीदी, पाप माने क्या है? बतायेंगी?"

"मैं क्या जानूँ! तू पढ़ी-लिखी है, तू ही बता।"

"मैं नहीं जानती, इसीलिए तो आपसे पूछती हूँ। जो कुछ भी आप जानती हैं, बताइए।"

अपनी पूर्ण श्रद्धा और विश्वास से, इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए

कुछ सोचे बिना ही, नागलक्ष्मी ने कहा—"किसी का दिल दुखाना पाप है। जो अपना नहीं है, उसकी अपेक्षा करना पाप है। है न ?"

"तो इन दोनों के अतिरिक्त और कोई पाप नहीं है ?"

"यह सब मैं क्या जानूँ ?" कहकर नागलक्ष्मी चुप हो गई।

कात्यायनी सोच रही थी—"मैंने अब तक किसका दिल दुखाया है ?" उसे वृद्ध श्रोत्रियजी और मामीरत्नम्मा की याद आ जाती। उन्होंने इस आयु में छोड़ जाने वाली बहू का स्मरण कर आह भरी होगी ? लेकिन श्रोत्रियजी ने ही तो उससे कहा था—"अपने या भीतर रो रही उस बुढ़िया के लिए, बच्चे को छोड़ जाने की भीख मैं नहीं माँगता। तिल-भर भी यह आशा नहीं है कि हमारे बुढ़ापे में वह हमारा सहारा बने।" बच्चे के प्रति इतनी निरासक्ति दिखानेवाले मुझे क्या चाहेंगे ? फिर भी उनकी सेवा करना मेरा कर्तव्य था ! नागलक्ष्मी का दूसरा उत्तर भी उसे चुभ रहा था कि जो अपना नहीं है, उसकी अपेक्षा करना पाप है। 'क्या मैं पुनः संतान नहीं प्राप्त कर सकती ? हे भगवान् ! समझ में न आनेवाली किस गाँठ में तूने मेरा जीवन बाँध रखा है ? किस सार्थकता के लिए इन सबका अस्तित्व है ?" मन-ही-मन वह अपने-आपसे पूछती।

दो महीने में वह घर में चलने-फिरने लगी। दिन में वह नहीं सोती। शाम को घर से एक फर्लांग तक टहल आती। पुट्टी इस साल हाईस्कूल की अंतिम परीक्षा देने वाला है। बैठे-बैठे जब थकती तो उसे पढ़ाने लग जाती। इसी तरह और एक महीना बीत गया। उसकी देह-स्थिति में थोड़ा सुधार हुआ। एक महीने के बाद उसे कालेज जाना पड़ेगा। उसका शरीर पुनः पहले-सा रूप ले रहा था। टहलते समय उस कमजोरी में भी शरीर का सौंदर्य निखर उठता था। स्वास्थ्य-कांति शायद हो चुकने पर भी उसकी सुकुमार त्वचा का रंग उसे एक विशिष्ट शोभा दे रहा था। पहले चलते समय पादों में जो रक्त प्रस्फुटित-सा प्रतीत होता था, वह स्थिति अब नहीं थी। फिर भी कोमल पादों में आज भी एक नया आकर्षण था।

एक दिन एकांत में राजू ने पूछा—"आजकल तू मोटी होती जा रही है न ?" पूछते समय उसकी आवाज में छिपे भाव को समझकर

कात्यायनी ने गले में हाथ डालकर कहा—"आप ऊब गये होंगे !"

"ऐसी बात नहीं है ।"

"मैं जानती हूँ । आप झूठ मत बोलिए ।" और उसकी आँखों-में-आँखें डालकर कहने लगी—"मुझ से विवाह करके आपका यह हाल हुआ ।" थोड़ी देर तक खामोशी रही । फिर उसी ने पूछा—"डॉक्टर ने जो-कुछ कहा था, क्या सच है ?"

"क्या ?"

"आपको आपरेशन करा लेने की सलाह ?"

"हाँ ! क्यों ?"

"आपके बदले मैं करा लूँ तो कैसा रहेगा ?"

"दोनों में कोई बड़ा अंतर नहीं" कहते हुए उसकी आवाज बदल चुकी थी ।

दूसरे दिन वह स्वयं पति के साथ अस्पताल गई । उसके विचार सुनकर लेडी डॉक्टर ने कहा—"मेरे विचार में आपके पति को करा लेना ज्यादा उचित होगा । आप अभी पूर्ण स्वस्थ नहीं हुई हैं । आपरेशन लायक रक्त-पूर्ति करने में आपको दो-तीन साल लगेंगे ।"

बाहर आकर डॉक्टर के विचार पति को बताये तो वह कुछ नहीं बोला । वह इसलिए खिन्न नहीं था कि आपरेशन किये बिना पत्नी के साथ पुनः शरीर सम्बन्ध रखना खतरनाक है, बल्कि उसे यह चिंता सता रही थी कि तीन बार के अनाहूत संयोग के बाद भी उन्हें आजीवन निःसंतान रहना पड़ेगा । दस वर्ष पहले अगर कोई दम्पति निःसंतान होने का दुखड़ा रोता तो वह हँस पड़ता था । वह सोचता कि वह अति भावुक है । तब भी बच्चों के प्रति उसका प्यार था । पृथ्वी को खिलाकर वह खुश होता था । वह सोचता था—"इस खुशी के लिए अपने ही बच्चे क्यों हों, दूसरे के बच्चे क्यों न हों ?" अब वह अपने-आपसे प्रश्न करता—"मेरी पत्नी अपने बच्चों को जन्म नहीं दे सकती, इस विचार से मेरा मन मुरझा क्यों गया है ?" उसे कोई उत्तर नहीं मिलता । वह अपने-आपको रोकने का प्रयत्न करता, लेकिन उसे मानों लकवा मार गया था । कभी-कभी वह पत्नी से संभोग करना चाहता, लेकिन उसके परिणाम से डरकर दूर हट जाता ।

राज के मन की अशान्ति को कात्यायनी अच्छी तरह से जानती है। लेकिन वह पूर्णतः असमर्थ है। एक दिन पति से कहा—"डॉक्टर की बात को ही हमेशा नहीं माना जा सकता। आप घबराइए मत।" "जान-बूझकर मैं तेरी बलि नहीं चढ़ा सकता।" कहकर राज ने अस्वीकृति व्यक्त की। कात्यायनी डर रही थी कहीं ऐसा न हो कि हमारी कोई संतान न होने की चिन्ता में वे दूसरी शादी कर लें! अपने-आप यह सोचकर निराश हो जाती कि "मातृत्व के आधार के बिना केवल पत्नीत्व का अधिकार कितने दिन तक स्थापित किया जा सकता है? अचानक उन्होंने ऐसा किया तो मेरा क्या होगा?" इसी विचार से एक दिन वह रो पड़ी।

राज रोज बाहर पृथ्वी के साथ सोता था। परीक्षा के कारण रात के ग्यारह बजे तक पढ़कर सोने के पश्चात् भी स्वप्न में बीजगणित का सूत्र रहता। एक दिन राज ने उसके गाल पर हाथ फेरकर कहा—"चुप-चाप सो जा बेटे!" लड़का चुप हो गया। उसकी निद्रा भंग नहीं हुई। राज अपने बिस्तर से खिसककर पृथ्वी के पास पहुँचा और उसे अपने दाहिने हाथ से गले लगा लिया। लड़का गहरी नींद सोता रहा। सारी रात राज उसी तरह [illegible]या। रात-भर सोचता रहा। वह सोचता— "अब मैं सैंतीस का हूँ। भाई का पुत्र होते हुए भी यह बचपन से ही मुझे बहुत चाहता है। अब संतान होने की कोई संभावना भी नहीं है। क्या अब ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया जा सकता? आधी उम्र बीतने में अब अधिक समय नहीं है। अब संभोग की यह चपलता और कितने दिन रहेगी? संतान की संभावना ही नहीं है तो उस कृत्रिम चिकित्सा के पश्चात् चलने वाले शारीरिक संबंध से क्या होगा? चिकित्सा की जरूरत नहीं। मैं ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा। रोज इसी तरह पृथ्वी के साथ सोया करूँगा।" यह निर्णय उसने कात्यायनी को भी बता दिया। वह सुनकर चुप रही।

लेकिन दो दिन में ही उसका निर्णय विचलित हो गया। अपने प्रकृति-गुणों पर उसका जो विश्वास था, वह जाता रहा। ब्रह्मचर्य को असाध्य समझकर बड़ी कठिनाई से उसने अंतिम निर्णय को अपनाया।

दूसरे दिन अस्पताल जाकर लेडी डॉक्टर से पत्नी के बारे में प्रमाण-

निर्मम भाव जाग रहा था। कुछ समय से कभी-कभी सन्यासी बनने की भावना भी मन में जागने लगी थी। इतने वर्ष गृहस्थ जीवन बिताकर, गृहस्थ धर्म पूर्ण हो जाने पर घर एवं अपने लोगों के प्रति जो ममत्व है, उसे त्यागकर भगवान् के ध्यान में ही जीवन बिताने की इच्छा पनपने लगी थी। अब कुछ दिनों से वे सन्यासी जीवन-संबंधी धर्मशास्त्रों को अधिकाधिक पढ़ने लगे। सन्यासोपनिषद्, वैखानस, धर्मसिंधु, जीवन्मुक्ति विवेक आदि ग्रंथों में बताये परिव्राजक-जीवन के ध्येय-उद्देश्य, जीवन-क्रम, धर्म-सूक्ष्मता का मनन करते रहते हैं।

वे जानते थे कि इस परिस्थिति में घर त्यागकर सन्यास स्वीकार करना अधर्म है। वे इस बात से अपरिचित नहीं थे कि अपने परिवार के आश्रितों को एक स्तर पर लाकर एवं उनकी अनुमति ले, तथा पत्नी के जीवित रहने पर उसकी भी अनुमति पाकर ही सन्यास स्वीकार करने का अधिकार है। घराने की जिम्मेदारी लेने वाला पोता केवल तेरह वर्ष का है। उसका विवाह होने, जिम्मेदारी संभालने योग्य बनने में कम-से-कम आठ साल लगेंगे। आठ वर्ष की पत्नी भी इस परिस्थिति में उन्हें अनुमति दे देगी—यह सोचना भी निरर्थक होगा। इसलिए वे चुप रहते। श्रोत्रियजी सन्यास के लिए व्याकुल नहीं थे। उनकी धारणा थी कि अन्य इच्छाओं की तरह सन्यास-इच्छा भी अगर पागल-जैसा बनाकर चित्त का संतुलन खो दे तो वह भी बुरा है। सन्यास एक तरह से निर्विकार, निर्लिप्त मनःस्थिति है। उसे प्राप्त करने की आकांक्षा में ही मन में विकार हुआ, तो संन्यास-जीवन के लिए वह भी एक तरह की अयोग्यता है—ऐसा समझकर, वे अपनी इच्छा को नियंत्रण में रखने का प्रयत्न करते।

जिस वर्ष बहू घर छोड़कर गई थी, उसी साल श्रोत्रियजी ने पौत्र को सरकारी प्राथमिक स्कूल में भरती करवा दिया था। उसी वर्ष उसका मुंडन-संस्कार हुआ। भागीरतम्मा पोते का मुंडन-कार्य बड़ी धूमधाम से करना चाहती थी, लेकिन बहू के व्यवहार से उनका उल्लास, उत्साह घट गया था। शास्त्र-विधान छोड़ना उचित न समझ, वह कार्य पूर्ण-भर किया गया था। आठवें वर्ष में उसका यज्ञोपवीत संस्कार किया गया। भागीरतम्मा ने यह कार्य उत्साहपूर्वक सम्पन्न किया। पत्नी की इच्छा

में श्रोत्रियजी बाधक नहीं बने। लेकिन उन्हें इस धूमधाम में तिल-भर भी आसक्ति नहीं थी। वे यही चाहते थे कि बालक को गायत्री जप, त्रिकाल संध्या और वेदाध्ययन पर क्रमशः अधिकार प्राप्त हो जाये। उन्होंने ही शुभ मुहूर्त में पौत्र को अपनी गोद में बैठाया और उनके सिर पर मुकुट रखकर कानों में गायत्री मंत्रोपदेश दिया था। भागीरतम्मा ने ही सर्वप्रथम चांदी की थाली में भिक्षान्न दिया था। माथे पर गोपीचंदन लगाकर, कटि में 'मौंजी' बांधकर, पीतवर्ण की धोती पहनकर चीनी ने दादा के वंश-गोत्र सूत्र कहकर, श्रीनिवास श्रोत्रिय कहकर अपने अभिधान के साथ अग्नि-संस्कार का मंत्र 'प्रवर' सुनाया—"काश्यप-गोत्रोत्पन्नः काश्यपावत्सार नैद्रवऽदर त्रयान्वित आश्वलायन सूत्र समन्वितः ऋक शाखाध्यायी श्री श्रीनिवास श्रोत्रियोऽहं अभिवादये...।" फिर भिक्षा देनेवाली स्त्रियों को नमस्कार किया। उस समय श्रोत्रियजी ने मन-ही-मन वंश के प्रति अभिमान किया। अपने गोत्र, सूत्र, शाखा और श्रोत्रिय-वंश एवं पूर्वजों के नाम स्मरण करने के फलस्वरूप दादा का नाम, पोते के लिए रखने की पद्धति को याद करके उनका मन अभिमान से भर जाता था।

दूसरे दिन से उससे संध्या-वंदन, हवन कराना प्रारम्भ कराया। वह संस्कृत मंत्रों का शुद्ध उच्चारण करता। रोज शाम को उसे थोड़ा-थोड़ा वेदमंत्रों को कंठस्थ कराने के अतिरिक्त उनका अर्थ भी समझाते थे। उस आयु में भी श्रोत्रियजी का एक दांत नहीं गिरा था। वेदमंत्र अब भी उनके मुख से स्पष्ट, स्वच्छ और अर्थपूर्ण होकर निकलते थे। चीनी होशियार लड़का है। शाला में भी अच्छा पढ़ता है।

भागीरतम्मा की तन्दुरुस्ती अब अच्छी नहीं रहती। देह-शक्ति घट गई थी। बहू के चले जाने पर एक तरह से उसे अपना मानसिक आधार ही खोया-सा लगता। अब नीचे के आंगन में ही वे सो जातीं। बगल में चीनी, और चीनी के पास लक्ष्मी सोती। उनके सिर की दिशा में खाट पर श्रोत्रियजी सोते। भागीरतम्मा बहू को याद करतीं। इस आयु में घर में रहकर उसे घर की सारी जिम्मेदारी निभानी चाहिए थी। अंग्रेजी सीख रहे बेटे चीनी को पढ़ाना चाहिए था। घर के हिसाब-किताब पर निगाह रखनी चाहिए थी। उनका मन कभी-कभी खिन्न हो

जाता। सोचती कि इन सारी जिम्मेदारियों को, हम सबको छोड़कर जानेवाली को भगवान् कभी सद्गति देगा? पास लेटी लक्ष्मी से वे यही कहतीं। लेकिन वहीं लेटे श्रोत्रियजी पूछते, "क्या बच्चे को नींद आ गई?"

"हूँ, क्यों?"

"जो-कुछ हुआ सो हुआ। तुम्हें कितनी बार कहा कि उस संबंध में कभी कुछ मत बोलो! भगवान द्वारा दी जाने वाली सद्गति-दुर्गति के बारे में हम क्यों सोचें? तुम लोग बार बार इसी तरह बात करती रहोगी तो जानती हो लड़के के मन में माता के प्रति कैसी भावना पनपेगी? इससे कोई लाभ नहीं। उस बात को नहीं छेड़ना चाहिए।"

भागीरतम्मा चुप हो जाती। लक्ष्मी को श्रोत्रियजी की बात बहुत अच्छी लगती। भागीरतम्मा को बात यद्यपि उचित लगती फिर भी कभी-कभी मन असह्य व्याकुलता का अनुभव करता था। लक्ष्मी अकेली होती तो उसी बात को पुनः छेड़ देती। लक्ष्मी उनकी मनोदशा, व्याकुलता को समझती थी। उनकी बात का खंडन न कर, लेकिन अपनी ओर से कुछ न कहकर, वह चुपचाप हूँ करती रहती। इस विषय को लेकर आधा घंटा तक बात कर पाती तो उनके मन को तृप्ति-सी मिलती। तत्पश्चात पाँच-छह दिन वह विषय ही नहीं निकलता।

यज्ञोपवीत के पाँच वर्षों में चीनी ने माध्यमिक शाला की शिक्षा पूर्ण कर ली थी। वह होशियार विद्यार्थियों में माना जाता था। रोज ग्यारह बजे शाला जाने से पहले वह स्वयं नदी से पीने के लिए दो घड़े पानी ला देता। दादी की तन्दुरुस्ती अच्छी नहीं थी। लेकिन आयु की तुलना में दादा अब भी काफी शक्तिवान थे। सत्तर वर्ष की आयु थी, फिर भी पढ़ने के लिए उन्हें चश्मे की जरूरत नहीं पड़ती थी। बेधड़क अब भी खूब चलते-फिरते थे। दाँत एक भी नहीं गिरा था।

चीनी तेरह वर्ष का होते हुए भी दादी के पास सोता था। अपनी शाला और दादा के साथ संस्कृत अध्ययन के अतिरिक्त उसका सारा समय दादी के साथ बीत जाता। उसका स्नेह, निकटता उन्हीं तक

सीमित थी। दादी गाँव-भर की कुतूहलपूर्ण सारी कहानियाँ पोते को सुनाती। वह पूछता—"श्रीपादराव के घर की वासंती अब भी जब कभी आती है तो मेरे लिए बिस्कुट क्यों लेकर आती है दादी ?" वास्तविकता को जानते हुए भी वे कहतीं—"पहले से ही हम लोगों के प्रति एक तरह का स्नेह है।" "क्या यह सच है दादी कि चक्रपाणिराव के पूजाघर में चाँदी के रुपये गड़े हैं? सच दादी?" "कहते हैं परशुराम देवालय के पास जमीन में सात बड़े-बड़े पात्रों में सोने के सिक्के हैं और सात फनवाला नाग उनसे लिपटकर उनकी रक्षा कर रहा है ? है न दादी ? गत सोमवार को मैं हेज्जिगे स्थित पापय्य के घर गया था न ? वहाँ मुझे खाने के लिए लड्डू-जितना माखन और गुड़ दिया। क्या उस घर के लोग रोज उतना माखन खाते हैं ?" आदि प्रश्न करता और दादी उचित उत्तर देकर उसकी उत्सुकता शांत करने के साथ-साथ अपनी ओर से भी कुतूहलपूर्ण घटना सुनातीं। अपने पिता की मृत्यु की बात चीनी जानता था। क्योंकि वह हर साल उनका श्राद्ध करता था। दादा भी अपने माता-पिता का श्राद्ध करते थे। चीनी केवल पिता का श्राद्ध करता था। माँ कहाँ है ? एक दिन उसने दादी से पूछा भी। उन्होंने उत्तर में कहा था—"वह अपने पिता के घर गई है बेटा।" "किसलिए ?" चीनी का दूसरा प्रश्न था। "कौन जाने ? खैर, उस बारे में मत पूछो बेटा।" आवाज में असंतोष था। यद्यपि उसे ठीक तरह याद है कि जब वह बहुत छोटा था तब घर में एक महिला थी जिसे वह माँ कहकर पुकारा करता था, तथापि उसने उसके प्रति अधिक कुतूहल नहीं दिखाया था। लेकिन एक दिन शाला में अन्य विद्यार्थियों के साथ झगड़ा हुआ तो एक ने 'तेरी माँ किसी परपुरुष के साथ भाग गई है' कहकर गाली दी थी। घर लौटते ही चीनी ने दादी से पूछा था—"अग्रहार का नाती है न, उसने कहा कि मेरी माँ किसी परपुरुष के साथ भाग गई है। क्या यह सच है दादी ?" कुपित होकर उन्होंने कहा, "किसी ने कह दिया तो तू भी वही पूछता है ? ऐसे नहीं कहना चाहिए।" उस दिन से उसने इस बारे में किसी से नहीं पूछा और सोचा दादी ने धमकी दी है तो उस संबंध में सोचना भी अनुचित है।

चीनी की माध्यमिक शाला की परीक्षा हो चुकी थी। अध्यापक ने

ही कहा था कि वह प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होगा। छुट्टियों के बाद वह हाईस्कूल में जायेगा। हाईस्कूल का विद्यार्थी बनने की कल्पना से ही वह झूम उठता था—इस बात का हर्ष, अभिमान भी था। उसी समय दादी बीमार पड़ी। इन दिनों वे महीने-दो महीने में एक बार बीमार पड़ जाती थी। फिर एक-दो दिनों में ठीक भी हो जाती। उस समय दादा ही खाना पकाते। इस बार भागीरतम्मा पड़ी तो दो दिन घर का काढ़ा पिलाने पर भी कोई लाभ नहीं हुआ। तीसरे दिन वैद्य को बुलाने गये तो पता लगा कि वे गाँव से बाहर गये हुए हैं और एक महीने के बाद ही लौटेंगे। दादी को बुखार चढ़ रहा था। पूरे शरीर में दर्द हो रहा था। तीसरे दिन भी श्रोत्रियजी ने घर की ही दवा पिलाई। वे पूरे होश में थीं। पहले श्रोत्रियजी सन्निपात समझते रहे। लेकिन अब बुखार के रूप को नहीं पहचान पा रहे थे। चौथे दिन भागीरतम्मा दिया हुआ दूध भी उलटी करने लगी। "वैद्य तो है नहीं, सरकारी डॉक्टर को बुला लाता हूँ" कहकर श्रोत्रियजी निकल ही रहे थे कि भागीरतम्मा "इतनी उम्र हो गई, अब अन्य जाति के व्यक्ति द्वारा छुए पानी को मैं नहीं पीती' कहकर हठ करने लगी। पूरे दिन उन्होंने पति को घर से बाहर नहीं जाने दिया।

लेकिन उस दिन वह बेहोश हो गई। श्रोत्रियजी घबरा गये। लक्ष्मी दौड़कर सरकारी डॉक्टर को बुला लाई। "आपने बड़ी देर कर दी"—कहकर डॉक्टर ने एक इन्जेक्शन दिया और दवा लाने के लिए किसी को साथ भेजने के लिए कहा। चीनी डॉक्टर के साथ जाकर दवा ले आया। लेकिन भागीरतम्मा ने मुँह इस तरह बन्द कर लिया था कि दवा पिलाना असंभव-सा हो गया। बेहोशी में भी अस्पताल की दवा का विरोध करते देखकर श्रोत्रियजी ही चुप हो गये थे। तीन दिन और बीत गये। एक रात तो घर के तीनों सदस्य जागते रहे। "तू सो जा बेटे"—श्रोत्रियजी और लक्ष्मी के समझाने पर भी चीनी नहीं माना। उसका चेहरा उतर गया था। लक्ष्मी के मुख पर चिन्ता छाई हुई थी। श्रोत्रियजी मानों अपने जीवन की भावी स्थिति के लिए मानसिक तैयारी कर रहे थे। लगभग पचास वर्षों के पारिवारिक जीवन का स्मरण उनके मानस-पटल पर उभर आया था। विवाह के पश्चात् कई साल तक

लगभग पैतालीस वर्ष से भागीरतम्मा आश्रय दे रही थी। सहेली की भांति सुख-दुख कह सुनाती थी। एक बार उसी ने चाहा कि लक्ष्मी श्रोत्रियजी से संबंध जोड़ें। श्रोत्रियजी ने लक्ष्मी के नाम दो बीघा जमीन लिख दी तो भागीरतम्मा ने सहर्ष अपनी स्वीकृति दे दी थी। अब वह अपनी इहलीला समाप्त कर चुकी है। श्रोत्रियजी के परिवार में लक्ष्मी जिस जिम्मेदारी को निभा रही है, अब पहले की अपेक्षा बढ़ गई है। लक्ष्मी सिसक-सिसककर रो रही थी। यह देखकर श्रोत्रियजी ने कहा—"यह क्या कर रही है लक्ष्मी? इतने दिन तूने भगवान् का तीर्थ लिया, गो-पूजा की है। तू यह भूल गई कि मनुष्य को एक-न-एक दिन जाना ही पड़ता है!" लेकिन वाक्य पूरा होने से पहले ही उनका गला भर आया। रुलाई भरी ध्वनि में ही वे बोले—"दुःख किसी को नहीं छोड़ता। फिर भी सहना ही पड़ेगा।" वे कह ही रहे थे कि पास सोया चीनी अचानक जाग उठा। दादा का चेहरा देखते ही वह सारी बात समझ गया। 'दादी' जोर से चिल्ला उठा और पास ही आँखें मूँदे, चिर-निद्रा में सोयी दादी की छाती पर सिर रखकर रोने लगा। दादी नहीं बोली। लक्ष्मी ने उसे अंक में भर लिया।

पास-पड़ोस के लोगों को श्रोत्रियजी ने घटना बतायी, तो उन लोगों ने कहा—"आप बड़े हैं, आप जो-कुछ कर रहे हैं उसे अनुचित कहने का साहस हम नहीं कर सकते। लेकिन क्या हम सब मर गये थे? हमें खबर क्यों नहीं दी? कल रात ही हमें बुलाना चाहिए था?" देखते-देखते पड़ोसियों से सारा आँगन भर गया। दस मिनट में घर के बाहर अग्नि जल रही थी। कुछ लकड़ी बटोरने गये तो कुछ अर्थी तैयार कर रहे थे। सारे गाँव में समाचार फैल गया। भागीरतम्मा के अंतिम दर्शन के लिए स्त्रियाँ-बच्चे आने लगे। शव सुबह आठ बजे ही ले जा सके। दादी के मुंह में चावल डाले जा रहे थे कि चीनी को चक्कर आ गया। वह गिर पड़ा। यह दृश्य देखकर उपस्थित स्त्री-पुरुषों के आँसू झरने लगे। लक्ष्मी ने चीनी को उठा लिया।

सातवें दिन, काफी दान-धर्म के साथ भागीरतम्मा की उत्तरक्रिया समाप्त की।

श्रोत्रियजी के घर के कामकाज में अब परिवर्तन हो गया। यद्यपि

वे नियमित समय से उठते, किन्तु वृद्ध श्रोत्रियजी पहले के समान अधिक समय भगवत् पूजा नहीं करते। छह बजे पूजा समाप्त कर रसोईघर में प्रविष्ट होते। मुंह अंधेरे ही चीनी उठता और उसके स्नान, संध्या-वंदन पूर्ण होने तक उसे पीने के लिए गरम दूध देते। जब से हाईस्कूल जाने लगा है, सुबह काफी समय अध्ययन करता है। साढ़े नौ बजे तक उसके लिए खाना तैयार होता है। उसके स्कूल जाने के बाद लक्ष्मी को परोसकर श्रोत्रियजी भी भोजन कर लेते। पात्र धोना लक्ष्मी का काम था। गाय-बछड़ों की देखभाल एवं अन्य कार्यों के लिए एक नौकर रख लिया गया। शाम को नियमित रूप से चीनी का वेदाभ्यास चलता। दादा के कहने पर भी चीनी रविवार को खेलने नहीं जाता—वह दादा के कार्यों में हाथ बँटाता।

कभी-कभी चीनी को दादी की याद आ जाती। कुछ दिन तक तो इसी भ्रम में कि दादी रसोईघर में है, स्कूल से आकर सीधा वहां चला जाता था। वहां किसी को न पा, निराश लौटता। कभी-कभी रसोईघर में ही बैठकर दो मिनट रो लेता और मन को सांत्वना देने का प्रयास करता। एक रात को स्वप्न में 'दादी' कहकर रोने लगा। उस दिन से चीनी का बिस्तर अपने पास न लगवाकर लक्ष्मी के पास ही बिछाने के लिए श्रोत्रियजी ने कहा। धीरे-धीरे चीनी लक्ष्मी के बहुत निकट आ गया। फिर भी दादी की याद उसे रोज सताती रही। उसके मुख पर पहले जो मुस्कराहट थी, वह कभी नहीं लौटी। चेहरे पर एक तरह का ग्लानिपूर्ण गांभीर्य दिखाई पड़ा। रात को उसके सो जाने के बाद श्रोत्रियजी लक्ष्मी से बात करते। बातों का विषय सामान्यतः भागीरतम्मा को लेकर होता। फिर बात चीनी और उसके भविष्य की ओर मुड़ती। लेकिन लगता था कि उन्हें त्यागकर गई बहू के बारे में कुछ बोलने की मानों दोनों ने कसम खाली हो। "चीनी चौदह वर्ष का है। चार-पांच वर्ष में उसकी शादी कर देंगे। तब सब ठीक हो जायेगा"—लक्ष्मी कहती।

"इस जमाने में इतनी जल्दी विवाह करना क्या उचित है?" श्रोत्रियजी ने प्रश्न किया। "क्यों नहीं? जब तुम्हारी शादी हुई थी तो तुम कितने वर्ष के थे? जमाना अवश्य बदल गया है, चीनी तो हमारी

बात मानता है !" लक्ष्मी समझाने लगी । "यही ठीक है !" कहकर श्रोत्रियजी ने स्वीकृति दे दी।

१९

कात्यायनी इस बात का काफी प्रयत्न करती रही कि उसका मन क्षुब्ध न हो, नियन्त्रण में रहे। एक मिनट भी वह अकारण अकेली न रहती। रोज शाम को पति के साथ घूमने जाती। वे पहले की अपेक्षा अब अधिक सिनेमा देखने लगे। घर के कार्यों में भी उसने अधिक रुचि लेनी शुरू की। नागलक्ष्मी से पूछ-पूछकर खाने की चीजें बनाती। हर शनिवार को नागलक्ष्मी की रामपूजा में भाग लेती। भूलने का हर प्रयत्न करने पर भी जन्म लेने से पूर्व ही जाते रहे तीन बच्चों का स्मरण हो आता। जब वह सोचती कि भविष्य में माँ बनने की संभावना बिल्कुल मिट गई है, तो उसका चित्त और भी दुःखी हो उठता। जब कभी ऐसा होता, उसे चीनी की याद आती। इस वर्ष वह किस कक्षा में पढ़ रहा होगा। अब काफी ज्ञान प्राप्त कर लिया होगा! क्या वह माँ के बारे में सोचता होगा? माँ के संबंध में उसके प्रश्न करने पर अगर दादी कहे कि "तेरी माँ कुलटा थी, किसी के साथ भाग गई" तो आश्चर्य नहीं। अगर अचानक मैं सामने पड़ जाऊँ, तो क्या वह मुझे पहचान लेगा? जब अंतिम बार उसने मुझे देखा था, तब पाँच वर्ष का था। जब दादा-दादी के लाड़-प्यार का अभाव नहीं, तब मुझे क्यों पहचानने लगा? अचानक मुझे पहचान भी ले तो किस तरह व्यवहार करेगा? अगर माँ होने के नाते मुझ से प्रेम, श्रद्धा-भाव से व्यवहार करने लगा तो? उसे लगा, कोई त्रिशूल से बेध रहा हो। इसे भूलने का वह असफल प्रयास करती रही।

इन दिनों वह भी पृथ्वी को अधिकाधिक प्यार करने लगी है। पृथ्वी

अब कालेज के प्रथम वर्ष में कला विषय लेकर पढ़ रहा है। पति के साथ घूमने जाती तो कात्यायनी उसके लिए कपड़े खरीद लाती। खेलने के लिए 'वैट-वॉल' ले आती। इस बात का ध्यान रखती कि वह रोज अच्छे कपड़े पहनकर कालेज जाये। उसे पढ़ाती। पृथ्वी काका के प्रति स्नेह रखता, किन्तु उसके प्रति एक तरह का संकोच, भय मिश्रित भक्ति-भाव भी था। कभी-कभी कात्यायनी ही उसे तेल मलकर स्नान करातीं। पृथ्वी संकोचवश शरीर को सिकोड़कर स्नानगृह में बैठ जाता था। पीठ मलते समय फुट-भर दूर खिसकता देख, कात्यायनी उसे पास खींचकर मलती।

आपरेशन के पश्चात् राज का समस्त स्नेह पृथ्वी पर केंद्रित हो गया। घर-खर्च के लिए पैसे जिस बक्स में रखे जाते थे, उसकी चावी भी उसे सौंप दी थी। उसके साथ ही खाने बैठता। पहले 'पृथ्वी', अब 'बेटे' कहकर संबोधित करता। पति की भावना को कात्यायनी समझती थी। इससे उसे कोई खिन्नता नहीं होती थी; इसके विपरीत, वह भी उसी भाव में अपने-आपको घुला देना चाहती थी। उसे इस बात का दुःख था कि पति की प्रकृति-सहज इच्छा पूर्ण न हो सकी।

यद्यपि अब पहले की अपेक्षा वह कालेज अधिक जाती, रोज अधिक टहलती, फिर भी कात्यायनी का शरीर पहले-जैसा न था। शरीर के रंग में भी परिवर्तन आ चुका था। लाल गौर वर्ण, अब दूध-सा सफेद पड़ गया था। न सौंदर्य रहा; न उल्लास ही। राज के विवश करने पर ही वह डॉ० द्वारा बताये टानिक नियमित रूप से लेती थी। डॉ० हमेशा सलाह देता था कि एक-दो महीने के लिए हवा-पानी बदल सकें तो उचित रहेगा। इस बार ग्रीष्म की छुट्टियों में कहीं-जाने का निश्चय किया था। नंदी पहाड़ी जाने का विचार आया। यह सोचकर कि दो महीने वहाँ रहने से ऊब जायेंगे, विचार त्याग दिया। केम्मण्णगुंडी भी इसी विचार से छोड़ दिया। राज का एक विद्यार्थी उटकमंड में था। वह कह गया था कि आप लोग आयें तो दो महीने के लिए कमरे की व्यवस्था कर दूँगा। घर पहुँचते ही उसने पत्र भी लिखा था कि "किराया देने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी; एक संबंधी एक साल के लिए विदेश गये हुए हैं। चावी मेरे पास है। भोजन आदि के लिए पात्रों की भी आवश्यकता नहीं है। दूध-दही की व्यवस्था भी हो जायेगी। आने

की तारीख लिखें। रेलवे स्टेशन पर आप लोगों को लेने आऊँगा।"

"तुम लोग हो आओ। मैं यहीं रहूँगी।" नागलक्ष्मी ने कहा। वे नहीं माने। राज ने विवश करते हुए कहा—"दो महीने तक तुम अकेली क्यों रहोगी? पृथ्वी को भी ले चलेंगे। चार स्थान देखने पर बालक थोड़ा खुल जाता है। तुम भी चलो। नीलगिरि देख आयेंगे।" नागलक्ष्मी और कात्यायनी ने दो महीने के लिए भोजन के आवश्यक मसाले, सामान आदि तैयार किया। रवाना होने की तिथि बताकर राज ने अपने विद्यार्थी को पत्र लिखा। सबके कपड़े एक ट्रंक में रखकर दो बिस्तर बाँधे। रात की गाड़ी से निकलने से पहले घर की रखवाली की जिम्मेदारी पड़ोसी को सौंपी। उसी शाम को कालेज का चपरासी आया। राज घर पर नहीं था। कात्यायनी के हाथ में तार का एक लिफाफा देते हुए कहा—'कल आया था। 'राजाराव' के बदले केवल 'राज' लिखा है। किसी की समझ में नहीं आया। अब अकाउण्टेंट ने कहा कि राजाराव घर पर होंगे, दे आओ।" लिफाफा खुला था। कात्यायनी ने पढ़ा। पता स्पष्ट नहीं था। उसमें लिखा था—"आपके भाई और भाभी की स्थिति गंभीर है—देखभाल करने वाला कोई नहीं—तुरन्त चले आयें—रागप्पा।" चपरासी चला गया। कात्यायनी डॉ० राव और रत्ने की बीमारी के बारे में सोच ही रही थी कि राज लौटा। वह जानता था कि रागप्पा डॉ० राव का रसोइया है।

"नीलगिरि के बदले सब मैसूर चलें"—राज ने सलाह दी। कात्यायनी मान गई। नागलक्ष्मी ने कहा—"तुम लोग हो आओ"

"लिखा है दोनों की स्थिति गंभीर है। वह भी कल का तार है। न जाने अब तक क्या हुआ होगा? ऐसी परिस्थिति में ऐसा कहना तुम्हें शोभा नहीं देता नागु! उनके मरने के पश्चात् चाहने पर भी तुम्हें उनकी सेवा करने का अवसर थोड़े ही मिलेगा? राज ने समझाया। नागलक्ष्मी का हृदय पिघला। आँसू पोंछते हुए कहने लगी—"चलो, मैं भी चलती हूँ।"

"रात की गाड़ी सुबह पहुँचेगी। थोड़ा अधिक खर्च तो होगा लेकिन कोई बात नहीं; टैक्सी मँगाइए। रात के नौ बजे तक पहुँच जायेंगे।" कात्यायनी ने सलाह दी। राज को भी बात जँच गई।

उटकमंड के लिए बांधे गए ट्रंक-विस्तर टैक्सी में रख, सब लोग मैसूर के लिए रवाना हुए। टैक्सी तेज गति से दौड़ रही थी और पिछली सीट पर बैठी नागलक्ष्मी का मन एक विचित्र भाव-भंवर में गोते खा रहा था। उसके पति का दूसरा विवाह एक विदुषी युवती से हुए दस वर्ष हो गए हैं। उस विवाह के पश्चात् भी डॉ० राव का उससे मिलने के लिए आना, बात करने का प्रयत्न करना, बात न कर मुंह फेर लेना, अंत में उनका आना रुक जाना,—यह सब नागलक्ष्मी के मस्तिष्क में घूमने लगा। पहले तो वह सोच रही थी कि उसकी कोई गलती न होते हुए भी उन्होंने दूसरा विवाह क्यों कर लिया। डॉ० राव ग्रंथ की प्रति प्रकाशित होते ही राज को भेज देते थे। मोटे पुट्ठे की काली जिल्द पर स्वर्णाक्षरों में पुस्तक और लेखक का नाम लिखे तीन खण्डों को राज ने एक साथ रखा था। घर पर आए मित्रों को दिखाते हुए वह गर्व से कहता था कि 'ये हैं मेरे बड़े भैया !' यह सुनकर नागलक्ष्मी अपने पति के प्रति अभिमान करती थी। इन ग्रंथों के निर्माण में नई पत्नी से भैया को मिले सहयोग के बारे में राज समय मिलने पर, भाभी को बताता। नागलक्ष्मी अनसुनी कर देती थी—कोई महत्व नहीं देती थी। 'श्रीराम नाम' लिखने में ही वह समस्त झंझटों से मुक्ति पाने का फल देखती थी। वह यह भी सोचती, "कुछ दिनों के बाद वे बुलाने आयेंगे, तो जाकर उन्हीं के साथ रहूंगी। लेकिन वे एक बार देखने के लिए भी नहीं आए। राज बार-बार मैसूर जाता था। उनकी नई पत्नी उसका आदर-सत्कार करती है। वे बीमार क्यों पड़े ? मैं होती तो अच्छी तरह से देख-भाल करती। सप्ताह में एक दिन तेल मलकर स्नान कराती। इतना ही काफी था। अब हमारे पहुंचने से पहले कुछ अनिष्ट हो गया तो ? नाग-लक्ष्मी का हृदय कांप रहा था। मन-ही-मन प्रार्थना कर रही थी, हे श्रीराम ! जानकीरमण ! कहीं ऐसा न हो। तुम उनकी रक्षा करना।"

पृथ्वी ने अपने पिता को देखा था। उसे अच्छी तरह याद है कि उनके बाल पके हुए हैं और आंखों पर चश्मा लगाते हैं। उसने सुना था कि ग्रंथ लिखने के लिए उन्होंने दूसरा विवाह किया है। नई पत्नी उनकी छात्रा थी। उन्होंने मां को क्यों छोड़ा ? वह कालेज के प्राध्यापकों को याद कर उनकी तुलना अपने पिता से करता था। पिताजी बड़े विद्वान

है। काका को अपने मित्रों से यह कहते उसने सुना था कि पूरे विश्व-विद्यालय में उन जैसा और कोई विद्वान् नहीं है। इतने बड़े विद्वान् ने दूसरी शादी क्यों की? इतना होते हुए भी काका के मन में इनके प्रति बड़ा अभिमान और श्रद्धा है। वे अच्छे और सज्जन होंगे! बीमारी के गंभीर रूप धारण करने से पहले हमें सूचना क्यों नहीं दी? अब हमारे पहुँचने से पहले ही कुछ हो गया तो? यह विचार उसके लिए भी असह्य था। वह भ्रमित-सा मूकवत् टार्च के प्रकाश में अंधकार को चीरती दौड़ रही टैक्सी की गति देख रहा था।

रात के सवा नौ बजे टैक्सी प्रोफेसर के बँगले पर पहुँची। ताला लगा हुआ था। राज टैक्सी से उतरा, पास के बँगले में पूछताछ करना ही चाहता था कि रागप्पा आ गया। राज को पहचानकर उसने कहा—"आइए सर! मैं अभी अस्पताल से आ रहा हूँ। वे दोनों अस्पताल में हैं। दोनों बेहोश हैं। मैं डर गया हूँ।"

द्वार खोला। उनका सामान अंदर रखा। घर में प्रवेश करते समय नागलक्ष्मी का मन अचानक एक नए भाव से घिर गया। पहले कभी इस बँगले को नहीं देखा था। भीतर अपरिचित मेज-कुर्सियाँ हैं। कमरे के सब द्वार खुले पड़े हैं। जहाँ देखो वहाँ ग्रंथ-ही-ग्रंथ—फर्श पर, अलमारी में, बेंचों पर, हर जगह पुस्तकें-ही-पुस्तकें। घर भरा पड़ा है। कहीं हस्तलिखित ग्रंथों का ढेर लगा है। एक कोने में मेज पर टाईपराइटर है और एक मेज पर उनके ग्रंथ रखे हैं। दीवारों पर एक भी चित्र नहीं है। द्वार पर रंगोली का चिन्ह् नहीं। द्वार पर कभी तोरण बाँधा होगा ऐसा नहीं लगता।

राज के प्रश्नों का उत्तर देते हुए रागप्पा कह रहा था—"स्पेशल वार्ड में हैं। वे महिला स्पेशल वार्ड में हैं। अब चलेंगे तो हमें अंदर जाने देंगे। डॉक्टर घर आया करते थे। घर की स्थिति देखकर कल सुबह डॉक्टर ने ही अस्पताल में भर्ती करने के लिए कहा था। मैंने पड़ोस के प्रोफेसर को खबर दी। उन्होंने अस्पताल को फोन किया। अपनी कार से दोनों को अस्पताल पहुँचाया। दिन-भर मैं वहीं रहा। प्रोफेसर भी अभी-अभी लौटे हैं।"

टैक्सी अभी गई नहीं थी। उसी से वे सब रागप्पा के साथ अस्प-

ताल गये। राज ने अपने साथ दो चादरें और दो दुपट्टे ले लिए। अस्पताल पहुँचे। रात्रि को जाँच करने के बाद सब डॉक्टर जा चुके थे। विशेष वार्डों में केवल नर्सें थीं। उसने कहा कि डॉक्टर की अनुमति के बिना किसी को अन्दर नहीं रहने दिया जा सकता। राज डॉक्टर से मिला। अपना परिचय दिया। "दोनों बेहोश हैं। आप लोगों को चुप-चाप सो जाना पड़ेगा। चलिए!" डॉक्टर उन्हें वार्ड में ले गया। पुरुषों के एक विशेष वार्ड में डॉ० राव एक पलंग पर लेटे थे। सफेद बिस्तरा और ऊपर लाल शाल ओढ़ा हुआ था। पास ही दवा आदि रखने के लिए एक स्टैंड। उसमें लटका था 'केस हिस्ट्री पेपर'। पलंग के नीचे एक कोने में मूत्र-पात्र। कमरे में अकेले। द्वार पर नर्स के बैठने के लिए एक कुर्सी थी। डा० राव की दाढ़ी बढ़ी हुई थी। चश्मा उतार दिया था। पलकें मुँदी हुई थीं। सफेद, ज्योतिहीन चेहरा, देखने वालों को भयभीत कर देता था। इस बेहोशी में भी साँस नियमित चल रही थी। नागलक्ष्मी और पृथ्वी को वहीं छोड़, राज और कात्यायनी के साथ डॉक्टर विशेष महिला वार्ड में गए।

पति की स्थिति देखकर नागलक्ष्मी को बड़ा आघात लगा। राज के वहाँ से चले जाने के बाद उमड़ पड़े दुःख को दबा न सकी। जोर-जोर से रोने लगी। सांत्वना देते हुए नर्स ने कहा—"मत रोओ बहन! धीरज रखो। बड़े डॉक्टर ने इंजेक्शन दिया है, कल तक होश आ जायेगा।" नागलक्ष्मी के अपने-आपको सँभाल लेने के बाद, नर्स ने पूछा—"आपसे इनका क्या संबंध है बहन?"

"मेरे पति हैं।"

"महिला वार्ड में जो महिला हैं, वे पत्नी नहीं हैं क्या?"

"हाँ!"

"आप शायद इनके छोटे भाई के साथ रहती हैं। अभी जो आए थे, वे आपके देवर हैं न? कहाँ, बंगलूर में रहते हैं? इन दोनों को यहाँ जिस प्रोफेसर ने दाखिल कराया था, वे शाम को आए थे। डाक्टर से कह रहे थे कि छोटा भाई बंगलूर में रहता है, उसे तार दिया है। न जाने अब तक क्यों नहीं आये?"

नर्स नागलक्ष्मी से धीरे-धीरे बोलती जा रही थी। पृथ्वी चुपचाप

खड़ा था।

राज और कात्यायनी के पहुँचने के कुछ ही समय पहले रत्ने को होश आया था। लेकिन किसी को पहचानने में वह असमर्थ थी। डॉक्टर ने पहले ही बता दिया था कि रोगी से बात न करें। रत्ने की हालत चिन्ताजनक है। अब सुधरने के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। बुखार के कारण उसकी आँखों की कांति घट गई है। डॉक्टर ने बताया —"शहर-भर में 'फ्लू' फैला हुआ है। ये दोनों उसके शिकार हैं। सुनते हैं उनके पारिवारिक डॉक्टर ने ठीक कर दिया था। इस रोग के लिए काफी आराम की आवश्यकता पड़ती है। डॉक्टर की सलाह न मानी। दोनों पढ़ाई-लिखाई में लग गए। तीन दिन के बाद अचानक पुनः बुखार चढ़ गया। सुबह उनके डॉक्टर के आने तक, दोनों अर्ध-बेहोश हो गए थे। वे प्रोफेसर इन्हें यहाँ न लाते, तो न जाने क्या होता! अब डर नहीं है। आपके भाई को भी होश आ जाय तो धीरज बँधेगा।"

एक दुपट्टा और एक चादर कात्यायनी को दी और उसे वहीं सोने को कहकर राज पुरुष वार्ड में आया। एक दुपट्टा और एक चादर नागलक्ष्मी को देकर यहीं सोने को कहा। रात के भोजन का समय बीत चुका था। रागप्पा ने घर से खाना बना लाने के लिए पूछा था। 'कुछ नहीं चाहिए'—कहकर राज पृथ्वी को लेकर रागप्पा के साथ घर की ओर चल पड़ा।

दूसरे दिन सुबह डॉ० राव होश में आये। लेकिन पहचानने और बात करने योग्य होने में और तीन दिन लगे। डॉक्टर ने उनसे अधिक न बोलने की चेतावनी दी थी। नागलक्ष्मी और कात्यायनी स्नान और दोपहर के भोजन के लिए घर आती थीं। उनका रात का खाना रागप्पा अस्पताल में ले आता था। पृथ्वी अस्पताल और घर के चक्कर काटता। राज दोनों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने में लगा रहा।

होश आने के एक दिन बाद डॉ० राव व्यक्ति को पहचानने लगे, लेकिन बोलने की शक्ति नहीं थी। लेटे-लेटे ही देखा, नागलक्ष्मी फर्श पर बैठी दिखाई दी। उन्हें तुरन्त विश्वास न हुआ। फिर भी अंदाज

लगाना कठिन नहीं हुआ कि बेहोशी की अवधि में यह-सब हुआ होगा। नागलक्ष्मी भी जान गई थी कि पति उसे देख रहे हैं। कमरे में और कोई न था। नर्स भी आवश्यकता पड़ने पर बुलाने को कहकर, पास के कमरे की दूसरी नर्स से बात करने चली जाती थी। नागलक्ष्मी को नहीं सूझा कि क्या बोले। सोचा, उठकर उनके पास जाऊँ, लेकिन सिर झुक[illegible] बैठी रही। [illegible]बोलने के लिए डॉ० राव के ओंठ हिले

लक्ष्मी ने उनका हाथ पकड़ा। डॉ० राव के नेत्र सजल हो उठे। रुलाई रोक न सकी। सिसक-सिसककर रो पड़ी। सांत्वना देने की शक्ति पति की जबान में नहीं थी। अपने दुःख को दबाकर, दो मिनट अपने सीने से उनके मुख को ढँक दिया। फिर उनका हाथ थामे पलंग पर बैठ गई। दोनों मौन! पति में तो बोलने की शक्ति नहीं थी। पत्नी अपने जीवन में दस वर्ष के पश्चात् शब्दातीत भाव से उमड़कर बोलने की शक्ति खो चुकी थी। सुबह तीन बजे उन्हें दवा देने के लिए आने तक वह ऐसे ही बैठी रही। लेकिन डॉ० राव सो चुके थे।

चार दिन में डॉ० राव अच्छी तरह बात कर सकने की स्थिति में आ गये थे, लेकिन डॉक्टर ने मना कर दिया था। नागलक्ष्मी को इसकी सूचना दे दी गई थी। अब नागलक्ष्मी ही उनकी शुश्रूषा करती थी। नर्स द्वारा लाई गई दवा, वह अपने हाथों से पिलाती। पसीने के कपड़े बदलती और फिर धुले कपड़े पहनाती। पात्र का मूत्र स्वयं फेंकती और पात्र धोकर रखती। मौसम्बी, संतरे के रस में ग्लूकोज मिलाकर पिलाती। जब और कोई न होता, तो उनका हाथ पकड़ पलंग के एक किनारे बैठ जाती। डॉ० राव स्वयं बोलना चाहते तो उनके मुँह पर हाथ रखकर कहती—"डॉक्टर ने मना किया है। फिर कुछ न हो जाए!" जब उनकी जाँच के लिए डॉक्टर आते तो वे उनकी स्थिति बताकर कहते—"वे आपसे पहले ठीक हो जायेंगी। आप किंचित् भी चिन्ता न करें।" इस पर डॉ० राव प्रसन्न हो उठते।

एक दिन नागलक्ष्मी का हाथ पकड़कर भावपूर्ण ध्वनि में डॉ० राव ने कहा—"इस बार तुम आ गई न।"

"न आती तो और क्या करती? आपने मेरा झगड़ा थोड़े ही है? हमारी हिम्मत कि ऐसे अनर्थ हुए। फिर भी हमारा योग थोड़े ही झूठा हो सकता है!"कहते-कहते उसकी आवाज भारी हो उठी।

पाँच मिनट चुप रहने के बाद पुनः पूछा—"राज की पत्नी भी अच्छी लड़की है। वे पृथ्वी और तुम्हारी अच्छी तरह से देखभाल करते हैं न?"

"हूँ।"

उस दिन इतनी ही बात हुई। दो दिन के बाद पृथ्वी कमरे में

आया तो उसके माता-पिता बात करने में लगे हुए थे। भीतर आया और सिर झुकाकर खड़ा हो गया। "यहाँ आओ बेटे,"—डॉ०राव ने बुलाया। पास आया तो उसका हाथ पकड़कर पूछा—"अब किस कक्षा में हो?"

"जूनियर इन्टर कर चुका हूँ।"

"अब बड़ा हो गया है। मुझे अच्छी तरह से पहचानता है न?"

"हूँ।"

पाँच मिनट रहकर वह वहाँ से चला गया।

और एक दिन नागलक्ष्मी का हाथ पकड़कर उन्होंने कहा—"नागु मुझसे विवाह करके तुम्हें जीवन-भर कष्ट झेलना पड़ा।"

"बिल्कुल नहीं।"

"मैं समझ सकता हूँ।"

"तो फिर आपने मुझे क्यों त्याग दिया?" डॉ० राव के पास कोई उत्तर न था। नागलक्ष्मी बोलती गई—"मुझे वहाँ किसी तरह का कष्ट व कमी नहीं है। राज मुझे पहले से अधिक स्नेह, विश्वास, सहानुभूति से देखता है। कात्यायनी भी छोटी बहन की तरह व्यवहार करती है। फिर भी आपके साथ रहने में जो सुख है, वह कहाँ! वह आनन्द कहाँ जो आपकी सेवा करने में मिलता है!"

डॉ० राव चुपचाप लेटे थे। नागलक्ष्मी की बात जारी रही—"आपने उससे विवाह कर लिया। वह भी एक योग है। मैं नहीं चाहती कि वह आपके साथ न रहे। लेकिन मैं आपकी तन्दुरुस्ती की ओर जितना ध्यान देना चाहती हूँ, वह और किसे आता है? आपकी आँखें पहले की अपेक्षा अधिक मोटी हो गई हैं। शरीर में बूंद-भर रक्त नहीं मिलेगा, मुट्ठी-भर मांस नहीं मिलेगा। छाती की हड्डियाँ निकल आई हैं। रागप्पा भले ही श्रद्धा-भक्ति से खाना पकाए, उसे खाना पकाना नहीं आता। पन्द्रह दिन से हम भी वह खाना खा रहे हैं न! पेट-भर भोजन करेंगे तो आपकी तन्दुरुस्ती सुधर जायेगी। मैं होती तो एकबार तेल मलकर स्नान कराती।"

डॉ० राव को वे दिन याद आने लगे जब वे नागलक्ष्मी के साथ रहते थे और वह उनके स्वास्थ्य के प्रति सदा सजग रहती थी। जबर्दस्ती

पकड़कर हर सप्ताह तेल मलती फिर स्नान कराती। रात के भोजन के पश्चात् वे आरामकुर्सी पर बैठते तो फर्श पर बैठकर उनके दोनों पैरों के तलवों में मेंहदी का तेल मलती थी। हर रोज नई-नई साग-सब्जी, पापड़ बनाती, आग्रह करके पेट-भर खिलाती। तब उनकी सेहत इतनी खराब नहीं थी।

"मैं अब भी एक बात कहना चाहूँगी। सुनेंगे?"

"कहो।"

"अब भी मैं आपके साथ रहना चाहती हूँ। उसे भी रखिए। आप दोनों के सम्बन्ध बनाये रखने में मुझे कोई एतराज नहीं होगा। राज से सुना है कि वह भी आपकी आवश्यक सहायता करती है। रागप्पा चाहे तो बाहर का काम करता रहेगा। मैं आप दोनों का खाना तैयार करूँगी। सप्ताह में एक बार आपको नहलाऊँगी। स्वीकार है?" कहते-कहते आँसू छलक आये। उसे लग रहा था कि वह अपने व्यक्तित्व की एक नई स्थिति का स्वयं प्रस्ताव रख रही है। अपने में अब तक बचे अमूल्य अभिमान की बलि देकर यह प्रस्ताव उसकी अन्तरात्मा को विचलित कर रहा था।

नागलक्ष्मी की बातों से डॉ० राव का मन पसीज उठा। पत्नी को इतने दिनों तक भुलाने के लिए अपने-आपको कोसने लगे। बचपन के वे दिन याद आने लगे जब वे अनाथ हो, मामा के घर रहते थे। नागलक्ष्मी के साथ, जो केवल तेरह वर्ष की थी, मैसूर आकर कितने विश्वास से घर बसाया था। हँस-हँसकर घर का कामकाज करती थी। घर-खर्च *ही नहीं, बल्कि मेरे अल्प वेतन में से अब खरीदने के लिए पैसे भी बचा* लेती थी। पति को कितने जतन से, बच्चा-सा देखा करती थी। गत दस वर्षों में कभी-कभी लगता था कि जीवन में कोई अमूल्य वस्तु गँवा बैठा हूँ। अब वही वस्तु खोजती हुई स्वयं उनके पास आई है। भावविभोर होकर उन्होंने कहा—"अवश्य, ऐसा ही करो। मेरी भूलें भुला दो। तुम और पृथ्वी दोनों यहीं रहो।"

पति के हाथों को विभोर भाव से दबाकर वह बोली—"पृथ्वी को वहीं रहने दो। उसे ले आयेंगे तो राज और कात्यायनी का दिल टूट जायेगा। इस बारे में बाद में बताऊँगी।"

दूसरे दिन रत्ने को होश आया। कात्यायनी सामने एक कुर्सी पर बैठी थी। रत्ने तुरन्त पहचान न सकी। उसने एक अजीव भाव से कात्यायनी को देखा। कात्यायनी ने पूछा, "क्या आप मुझे पहचानती हैं ?" उसने धीरे से कहा—"याद तो है कि कहीं देखा है !"

"मैं कात्यायनी हूँ !"

"हूँ !" पहचानकर रत्ने के चेहरे पर मुस्कराहट दौड़ी। "अब समझ गई। पाँच वर्ष पहले आपको वंगलूर जाते हुए देखा था। कव आई ?"

उतने में उसे थकावट महसूस हुई और आँख मूंद सो गई। एक घण्टे के बाद आँख खुली तो पूछा—"वे कहाँ हैं ? कैसे हैं ?"

"वंगलूर से हम सव आये हैं। आपके देवर और दीदी भी। दीदी उनके पास हैं।"

"अच्छा !" रत्ने ने पुनः आँखें मूंद लीं।

तीसरे दिन वह अच्छी तरह वोलने योग्य हो गई। सुवह नौ वजे कात्यायनी को स्नान के लिए घर भेजने के निमित्त राज वहाँ आया। रत्ने वोली—"आप लोग आ गये। ऐसे समय में आप लोगों के अलावा हमें और किसका सहारा है ! आपको पता कैसे लगा ?"

"रागप्पा ने तार भेजा था।"

उस दिन राज कात्यायनी के वारह वजे लौटने तक रत्ने के पास ही वैठा वातें करता रहा। रत्ने वोली—"इस वार लगता है, आप दुवले हो गये हैं ! कात्यायनी का दुवला होना समझ में आता है। शायद मानसिक चिंता ने आपके स्वास्थ्य पर काफी प्रभाव डाला है !"

"वैसी कोई वात नहीं है"—वह ऐसे प्रश्नों से वचना चाहता था।

दोपहर को कात्यायनी आई तो राज घर गया। उसके जाने के पश्चात् रत्ने ने दो घण्टे की नींद ली। कात्यायनी ने आधा गिलास ग्लुकोज़ युक्त मोसंवी का रस दिया। पीकर वह वोली—"तकिये को जरा-सा ऊँचा कर देंगी ? कुछ देर सो लूं ?" कात्यायनी ने रत्ने का सिर अपने हाथ से थोड़ा उठाया और एक छोटा तकिया उसकी भुजा के नीचे रख दिया। वह करवट वदलकर आराम महसूस करने लगी। रत्ने वोली—"आप

बहुत सेवा कर रही हैं। समझ में नहीं आता कि इस सौजन्य के लिए क्या कहूँ ?"

"मैं किसी पराये की सेवा तो कर नहीं रही ! सौजन्य की बात ही कहाँ है ? ज्येष्ठ की पत्नी बड़ी बहन होती है—उनकी सेवा करना तो मेरा कर्त्तव्य है।"

यह सुन रत्ने हर्षित हो उठी। इस बात से तृप्ति भी हुई कि इस देश में भी उसे सम्बन्धी की तरह आत्मीयता से देखने वाले हैं। इस तृप्ति का अनुभव कर दो मिनट पश्चात् रत्ने बोली—"जब आपके साथ दुर्घटना घटी तो राज छुट्टी मंजूर कराने के लिए इनके पास आये थे। उस समय मुझे वहाँ जाकर आपकी सेवा करनी चाहिए थी। लेकिन उस समय चौथे खण्ड के टाईपिंग कार्य में बहुत व्यस्त थी। प्रकाशकों ने खण्ड के प्रकाशन की तारीख घोषित कर दी थी। इसके अलावा सोचा कि मेरा वहाँ जाना उचित भी नहीं होगा !" कात्यायनी चुपचाप बैठी थी। रत्ने कहती गई—"राज ने सारी बातें बता दी हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए था। वे कह रहे थे, प्रारंभ से ही हर तरह की सतर्कता बरती थी। ऐसी कई एक घटनाएँ घटती हैं, जिन पर हमारा बस नहीं चलता। आप इसे अधिक मन पर न लें। आप इतनी दुबली हो गयी हैं कि एकाएक पहचानना कठिन हो गया है।"

पृथ्वी कमरे में प्रविष्ट हुआ। उसके हाथ में मौसंबी से भरा एक लिफाफा और दो इन्जेक्शन ट्यूब थे। कात्यायनी को देते हुए उसने कहा—"काकी, डॉक्टर के बताये इन्जेक्शन मिल गये हैं। गोलियाँ कहीं नहीं मिलीं। एक दूकानदार ने बताया कि कल तक आ जायेंगी। डॉक्टर के आने पर बता देना।"

इतना कह वह जा ही रहा था कि रत्ने ने उसे "बॉय, कम हियर", सुनाया। वह वहीं खड़ा हो गया। "यही है आप सब लोगों का पुत्र पृथ्वी ?" वैसे पृथ्वी यहाँ कई बार आया, लेकिन अपनी दूसरी माँ को जाग्रतावस्था में नहीं देखा था। निद्रावस्था में कई बार देखा था। अपना काम करके वह वहाँ से निकल जाता था। अब वही बुला रही है। पृथ्वी को संकोच हुआ। दीवार की ओर खड़ा देखता रहा। "कम नियर मी", रत्ने ने कहा। वह नहीं हिला। कात्यायनी कुर्सी से उठकर

गई, मानों किसी भाव-लोक में विचरण कर रही हो। पृथ्वी कुछ देर वैसे ही बैठा रहा। संकोचवश वहाँ के वातावरण में उसका दम घुटने-सा लगा। धीरे से उठकर हाथ निकाला। अर्धनिद्रा-सी वह लेटी रही। धीरे-धीरे पग बढ़ाये और कमरे से निकल गया। आधे घंटे तक रत्ने यों ही लेटी रही।

दो दिन बाद रत्ने ने कात्यायनी से पूछा—"जब आप बीमार पड़ी थी न, तब राज आये थे। अपने भैया से कह रहे थे कि पुन: गर्भवती होने से आपके जीवन को खतरा है। क्या यह सच है?"

"हाँ!"

कुछ क्षण मौन! रत्ने शायद समझ गई थी कि कात्यायनी दुबली क्यों हो गई है। उसे अपनी स्थिति भी याद हो आई। वह माँ बन सकती थी लेकिन एक महान् ध्येय-साधना के निमित्त त्याग करना पड़ा। दूसरी ओर कात्यायनी चाहकर भी दैहिक असामर्थ्य के कारण माँ नहीं बन सकती। वह यह भी समझ गई कि अब राज पहले-जैसा हृष्ट-पुष्ट क्यों नहीं है। उसने कहा—"माँ बनने की अदम्य इच्छा हर स्त्री की सहजमूल प्रवृत्ति है। जब उसमें सफलता नहीं मिलती तो विचारों को किसी और कार्य में प्रवृत्त कर तृप्ति प्राप्त की जा सकती है। आप दोनों ग्रंथ-रचना में मन लगाइए।"

"ग्रंथ-रचना सब नहीं कर सकते। आप लोगों में जो अध्ययन की प्रवृत्ति है, वह हम दोनों में से किसी में नहीं है। हमारा मनोधर्म ही भिन्न है। परिणामस्वरूप जीवन-क्रम भी भिन्न है और वह अनिवार्य भी है।"

इतने दिन बीतने पर भी किसी ने नागलक्ष्मी के बारे में बात नहीं की। रत्ने स्वयं इस बारे में बोलना नहीं चाहती थी। यह सोचकर कि उसके मन को ठेस पहुँचेगी—कात्यायनी कुछ न बोली। जैसे-जैसे रत्ने में बोलने की शक्ति आती गई, वैसे-वैसे वह नये ग्रंथ की योजना, ग्रंथ का मूल ध्येय, लेखन में प्रगति आदि विषयों के बारे में सुनाती गई। केवल एक बार अपने माता-पिता, भाई के बारे में बात की थी। कात्यायनी के दूसरे विवाहित जीवन की पूर्ण अवस्था के बारे में भूलकर भी उसने कभी प्रश्न नहीं किया। कात्यायनी का एक बेटा है, रत्ने जानती है,

लेकिन कभी बात नहीं उठाई। परस्पर अन्तरात्मा को चुभने वाली बातों से वे दोनों बचती रहीं।

डॉ० राव और रत्ने को अस्पताल से छुट्टी मिल चुकी थी। डॉ० राव अब भी अशक्त थे। रत्ने काफी तन्दुरुस्त हो चुकी थी। उनके अस्पताल में रहने तक चतुर्थ खण्ड की प्रतियाँ आ गई थीं। वे एक प्रति लेकर आरामकुर्सी पर पीठ टिकाये बैठ गये और एक-एक पृष्ठ पलटने लगे। ग्रंथ देखने में न उनका ध्यान था और न कोई निश्चित उद्देश्य ही। कुछ किये बिना चुपचाप बैठने की आदत नहीं थी, इसलिए वे पृष्ठ पलट रहे थे। अपने ग्रंथ का तृतीय खण्ड स्वर्गीय महाराज की स्मृति में अर्पित कर दिया था। यह चतुर्थ खण्ड नंजनगुडू के श्रीनिवास श्रोत्रिय को अर्पित था। पंचम खण्ड की रूपरेखा उनके मन में स्फुट रूप में थी। लेकिन उसके लिए अभी काफी सामग्री एकत्र करना आवश्यक था।

बंगलूर से आये सभी लोग यहीं थे। रसोइया रागप्पा अब बाहर के कार्य करता। नागलक्ष्मी का बनाया भोजन सबको प्रिय लगता। कई वर्ष के बाद डॉ० राव को पुनः सुस्वादु भोजन मिलने लगा था। सब एक साथ भोजन करने बैठा करते थे। रत्ने भी उनके साथ बैठती। नागलक्ष्मी सबको परोसती। अब तक नागलक्ष्मी और रत्ने में परस्पर बातें नहीं हुईं। नागलक्ष्मी रसोईघर से बाहर ही नहीं निकलती और रत्ने कभी रसोईघर में नहीं जाती। वह सदा सामने वाले विशाल अध्ययन-कक्ष में रहती। राज और कात्यायनी वहीं जाकर कुछ देर बातें करते। बाकी समय अपने टाइप किये नोट, टिप्पणी देखने में बिता देती। कभी कभी डॉ० राव भी कमरे में आकर बैठ जाते, और दोनों पंचम खण्ड से संबंधित विषयों की चर्चा करने लगते। अस्पताल से घर लौटने के पश्चात् डॉ० राव और नागलक्ष्मी एकांत में बात नहीं करते थे। वे रसोईघर में आते तो बात करने को नागलक्ष्मी तैयार थी। लेकिन जैसे-जैसे उनकी सेहत सुधरती गई, वैसे-वैसे उनका ध्यान अगले खण्ड की ओर प्रवृत्त होने लगा। पृथ्वी मैसूर के सभी दर्शनीय स्थल—वृंदावन, नंदी पहाड़ी, ललित महल, श्रीरंगपट्टण आदि देखने के लिए उत्सुक था।

क्योंकि उसके कारण ने उसकी जेब भर दी थी।

राज ने सोचा, शायद इस बार भाग्यलक्ष्मी और रानी का परस्पर परिचय हो जाने के कारण डॉ० राय भाग्यलक्ष्मी को यहीं छोड़ जाने के लिए कहेंगे, तो भाभी से दूर रहना मुश्किल रहेगा। भाग्यलक्ष्मी की उपस्थिति से उसे एक तरह का मनोबल मिलता था। जब से उसने होश संभाला है, बीच के विदेश निवास के दो वर्ष छोड़कर, भाभी से कभी अलग नहीं रहा। राज को इस बात की खबर थी कि अगर भैया ने भाभी से मंसूरी में ही रहने का प्रस्ताव किया तो वह उसे स्वीकार कर लेगी। फिर भी वह चाहता था कि भाग्यलक्ष्मी उसके घर के साथ रहे। दूसरी को छोड़कर रहना राज के लिए असाध्य था। एक दिन उसने अपने ये विचार भाग्यलक्ष्मी को बताये तो वह बोली—"मेरी दृष्टि में उनका इस तरह कहना, और कहने पर दीदी का स्वीकार कर लेना कठिन है।"

अस्पताल में रहते समय भाग्यलक्ष्मी ने जो कुछ कहा था, डॉक्टर को याद था। उन्हें घर लौटे एक महीना हो गया था। राज ने कहा कि तीन चार दिन में वे सब मंसूरी लौटना चाहते हैं। एक शाम डॉ० राय राज के साथ टहलने निकले। इस तरह बाहर निकले करीब दो महीने हो गये थे। राज और भाग्यलक्ष्मी के बारे में बातचीत करते हुए दोनों कालेज के पीछे के मैदान में आ गये। छुट्टी होने के कारण वहाँ कोई न था। वे एक पेड़ के नीचे बैठ गये। डॉ० राय ने कहा—"एक सुन्दर विषय पर बात करनी है।"

"वह क्या?"—भय-मिश्रित उत्सुकता से राज ने पूछा।

"इस बार भाग्यलक्ष्मी को यहीं रख लें।"

राज कुछ न बोला। गम्भीर हो, सिर झुकाये बैठा रहा। उसके चेहरे और मन के भावों को समझने की कोशिश करते हुए डॉ० राय ने कहा—'इस बार बीमारी ने उसकी सारी शक्ति ले ली है। यह यहीं भी रहे, तुम्हारे प्रति किसी तरह दुराव नहीं होगी। मसूरी में रहते हम दोनों का साथ छूटता जाता है। अपनी देखभाल की जिम्मेदारी भी उसी पर डालकर, निश्चिन्ततापूर्वक लोक-कार्य की ओर हम अधिक ध्यान दे सकेंगे। और फिर तुम्हारे लिए उसे दूर रखना ठीक और

से एक प्रकार का नैतिक अपराध भी होता है। इस पर सोच लो।"

रत्ने विचारों में डूब गई। नागलक्ष्मी के प्रति उसमें तिरस्कार भाव या द्वेष-जलन नहीं—सहानुभूति ही थी। नागलक्ष्मी अपने पति से जिस दाम्पत्य की अपेक्षा करती थी, रत्ने उससे एक भिन्न सम्बन्ध चाहती थी। वह अपेक्षा इतनी मिली कि रत्ने संतुष्ट हो गई थी। एक निर्दोष पत्नी के प्रति जो होश सँभालने के पहले से पति के साथ रहती आई है, पति से दूर रहते देखकर उसे सहानुभूति ही थी। अगर डॉ० राव नागलक्ष्मी को किसी तरह की सहायता देना चाहते हैं, तो उसे कोई एतराज नहीं। लेकिन एक ही घर में एक पति के साथ दो पत्नियों का रहना उसे असह्य लगा। यह कल्पना भी उसके मन में एक तरह की घृणा पैदा कर देती थी। अपनी पढ़ाई के सिलसिले में उसने द्विपत्नीत्व, त्रिपत्नीत्व, बहुपत्नीत्व के बारे में पर्याप्त पढ़ा था। अनेक कारणों से राजे-महाराजे एवं समान्य जन भी एक से अधिक पत्नियों को अपनाते थे। वह सोच रही थी कि भले ही वे स्त्रियाँ कितनी भी शांत गुण वाली हों, मानव प्रवृत्ति से मुक्त नहीं थीं। वे द्वेष, जलन, साथ ही अतृप्त आशाओं आदि के कारण अनेक विकारों से कराहती रही होगीं। यूरोपीय पारिवारिक जीवन का भी अवलोकन किया था रत्ने ने। पति या पत्नी अयोग्य साबित होते ही वैवाहिक बंधन से तलाक लेकर, योग्य व्यक्ति से विवाह कर लेते थे। अगर डॉ० राव इंग्लैंड में जन्म लेते, तो मुझ से विवाह करने से पहले उन्हें अपनी पहली पत्नी को तलाक देना पड़ता। यह वहाँ का कानून ही नहीं, अपितु जन-सामान्य का सामाजिक संस्कार भी है। डॉ० राव ने जब रत्ने से विवाह किया तब इस देश में द्विपत्नीत्व के विरुद्ध कानून नहीं बना था।

"चुप क्यों हो ? बोलो ?" डॉ० राव ने पूछा।

रत्ने, जो अब तक चुप थी, धीरे से बोली—'उनकी ओर ध्यान न दें, ऐसा मैंने कभी नहीं कहा। अब भी एक अलग घर में उनके साथ रह सकते हैं या मुझे अलग मकान दिलाकर इस घर में आप लोग रहिए। जिस उद्देश्य के लिए हम दोनों का विवाह हुआ है, उस साधना को निरंतर चलाते रहना चाहिए। आप अलग रहें तो भी मैं सह लूँगी।"

"सह-जीवन के बिना क्या सिर्फ साहित्य-निर्माण में तुम लगी रह

सकता हो ?"

"रह सकती हूँ।" उसने तुरन्त कह तो दिया, लेकिन स्वर काँप रहा था। अपने कम्पित हाथों से उसने उनका दाहिना हाथ पकड़ लिया। उसकी आँखें डबडबा आईं।

"तुम्हें यह हठ क्यों है ?"

"हठ नहीं। प्रारंभ से पले मनोविज्ञान का प्रभाव है। द्विपत्नीत्व को मेरी अन्तरात्मा स्वीकार नहीं करती। फिर भी हम एक विशिष्ट उद्देश्य के लिए मिले थे। उस उद्देश्य के पूर्ण होने में ही मेरी तृप्ति है। यह मेरे जीवन का सौभाग्य है। इतने दिनों के अपने सहजीवन में अध्ययन-जीवन के अतिरिक्त भावना-जीवन में भी हम एक रहे हैं। इतना होते हुए भी मैं उनके जीवन में बाधक नहीं बनना चाहती। आप दो घर बसाइए। यहाँ भी रहिए और वहाँ भी। मैं मना नहीं करूँगी।"

रत्ने के स्वभाव से डॉ० राव परिचित थे। उसकी इच्छा-शक्ति प्रबल थी। वे जानते थे कि उसके निर्णय को बदलना असम्भव है। "चलो, उठो"—कहकर वे उठ खड़े हुए। घर लौटने तक अँधेरा हो गया। मैदान में पर्याप्त प्रकाश नहीं था। रत्ने उनका हाथ पकड़े चल रही थी। रास्ते में उसने पूछा—"क्या निर्णय किया है आपने ?"

"सोच रहा हूँ !"

रात-भर डॉ० राव इसी बारे में सोचते रहे। दो परिवारों की व्यवस्था उन्हें पसन्द न थी। नागलक्ष्मी के लिए अलग घर बसाने पर भी अपने लेखन-कार्य के लिए उन्हें रात के समय रत्ने के साथ ही रहना पड़ेगा। उनका सारा दिन पुस्तकालय में बीतता था। केवल दो बार नागलक्ष्मी के घर जाना और वहाँ उसका एकाकी जीवन बिताना उन्हें उचित न लगा। यह कैसी परिस्थिति है, वे अपने-आप सोचते रहे। रत्ने के मनोभाव से वे असन्तुष्ट थे, लेकिन उसके संस्कार और विद्या के प्रभाव से पूर्णतः परिचित थे। "किस द्वन्द्व में मेरा जीवन उलझ गया है ?" इसी असन्तोष की एक दीर्घ निःश्वास निकल पड़ी।

मद्र के साथ राव के बंगलूर रवाना होने में केवल तीन दिन शेष थे। नागलक्ष्मी यही आशा किए बैठी थी कि आज या कल पति उसके

वारे में निर्णय करेंगे। वह यह सोच रही थी कि जिस राज, कात्यायनी और पृथ्वी के साथ इतने दिन विताये, अब उनके विना कैसे रह सकती है? ये दोनों तो पढ़ाई में व्यस्त रहेंगे। यहाँ भी 'श्रीरामनाम' लिखकर और उनकी सेवा में समय विताया करूँगी—उसने अपने मन को समझाया। रवाना होने का दिन आया। लेकिन इस वारे में कोई वात ही नहीं हुई? वह स्वयं पति के पास जाकर पूछना चाहती थी, लेकिन उसके अभिमान ने रोक लिया। आखिर उसने राज को अन्दर बुलाकर पूछा—"तुम्हारे भैया ने कुछ कहा?"

"किस विषय में?"

"कुछ नहीं", कहकर नागलक्ष्मी चुप रह गई। राज के पुनः पूछने पर भी वह न वोली। रवाना होने से पहली रात को वह सो न सकी। वार-वार आँसू निकल पड़ते थे। मन को समझाने की कोशिश करती रही कि गत ग्यारह वर्ष से इसी तरह जीवित रही तो अव क्यों रोऊँ? परन्तु भरसक प्रयत्न करने पर भी दुःख असह्य हो उठा। रात-भर न सोने के कारण सुवह जल्दी उठी। नाश्ता तैयार किया। कात्यायनी से सव को देने के लिए कहा। सुवह की गाड़ी से उन्हें जाना है। टैक्सी घर के सामने खड़ी है। राज ने सामान रखवाया। राज, कात्यायनी और पृथ्वी टैक्सी के पास गये। पृथ्वी लौटकर माँ को पुकारने लगा। नागलक्ष्मी अंदर से भारी कदमों वाहर आई। डॉ० राव वँगले के वगीचे के फाटक के पास खड़े थे। उसने पति के चरण स्पर्श किये और विना कुछ कहे ही टैक्सी में वैठ गई। डॉ० राव और रत्ने रेलवे स्टेशन तक छोड़ने नहीं आये। टैक्सी चलने लगी तो डॉ० राव मुँह फेरकर आँसू पोंछ रहे थे। घर आँखों से ओझल होने तक नागलक्ष्मी सिसकती रही। पास वैठी कात्यायनी उसका हाथ पकड़कर कहने लगी—"दीदी, धीरज धरिए। हम जिस कार्य के लिए यहाँ आये थे वह सफल हुआ।"

"उन्होंने जो वात कही थी, उसे वे भूल ही गये?" कात्यायनी की भुजा पर अपना मुख टेककर वह वोली।

"कौन-सी वात?" पीछे की सीट से राज ने प्रश्न किया।

"मैंने कल पूछा नहीं था? रेल में सव कहूँगी।"—कहकर नागलक्ष्मी अपने मन को धीरज दिलाने लगी।

२०

उन्चास की उम्र में अपनी महत्त्वाकांक्षा-रूपी-ग्रंथ के चार खण्ड पूर्ण देखकर डॉ० राव को तृप्ति मिली। एक और हो जाय तो एक तरह से उनकी योजना पूरी हो जाती है। इस विषय में संगृहीत सामग्री से तीन-चार और छोटे ग्रंथ तैयार किये जा सकते थे। चौथे खण्ड के लिए संगृहीत सामग्री दो जिल्दों के लिए पर्याप्त थी। प्रकाशकों के आग्रहानुसार उन्होंने उसके कई भागों को छोड़कर चौथे खण्ड को बड़ा बना दिया था। उन्होंने शेष सामग्री एक अलग पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने के विचार से प्रकाशकों के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया था। नौ सौ पृष्ठों के इस खण्ड को उन्होंने श्रोत्रियजी को समर्पित किया था। यद्यपि श्रीनिवास श्रोत्रिय से मिले उन्हें लगभग दस वर्ष बीत गये थे, किन्तु उनके उपकार एवं प्राप्त ज्ञान-निधि को डॉ० राव भूले नहीं थे। स्मरण में ग्रंथ को समर्पित करने से बढ़कर और कोई उचित उपाय नहीं सूझा। अब खण्ड हाथ में आया तो अन्य खण्डों के साथ श्रोत्रियजी के पास स्वयं जाकर कृतज्ञता प्रदर्शित करने का निर्णय किया। इसके अतिरिक्त उनके तीसरे खण्ड की समालोचना करते हुए एक जर्मन विद्वान् ने लेखक द्वारा धर्मशास्त्र के बारे में लिखी गयी कई बातों की ऐतिहासिक सत्यता पर प्रश्न उठाये थे।

डॉ० राव को इस बात की थोड़ी आशंका थी कि श्रोत्रियजी की बहू से अपने भाई का विवाह हो जाने के कारण शायद उनका मन उनके प्रति खिन्न हो गया हो! यद्यपि उन्हें लगा कि जहाँ तक श्रोत्रियजी का स्वभाव, मनोधर्म है, वे ऐसे नहीं हैं। फिर भी, यह विचार आता था कि ऐसी बातों से किसी व्यक्ति की प्रतिक्रिया क्या होगी, यह कैसे कहा

सकता है ! डॉ० राव को राज और कात्यायनी के विवाह की खबर
क नहीं थी। विवाह के समय वे रत्ने के साथ कलकत्ता चले गये थे।
लौटने पर ही उन्हें पता लगा था जब नव दम्पति ने उनके पैर छुए।
उन्होंने अपने-आप से प्रश्न किया था कि यदि पहले से जानता तो क्या
मैं उसमें बाधा डालता ? हाँ, उससे वृद्ध श्रोत्रियजी के परिवार पर होने-
वाले परिणाम के बारे में राज को अवश्य बताता। उसके बाद 'लोगों
की अपनी-अपनी इच्छा'—सोचकर वे चुप हो गये थे।

रत्ने ने सलाह दी कि नंजनगुडू जाने के पहले उन्हें एक पत्र लिखा जाय और उनका उत्तर पाने के बाद ही योजना बनायी जाय। श्रोत्रियजी को देखने की उसकी भी इच्छा थी। रत्ने के साथ तीन-चार दिन के लिए नंजनगुडू आने की इच्छा व्यक्त करते हुए पत्र लिखा गया और तीसरे ही दिन उत्तर आ गया। अपने स्वभाव-सहज सौजन्य से उनके आगमन का स्वागत करते हुए श्रोत्रियजी ने लिखा था—"मेरा भी बुढ़ापा आ गया है। ऐसे समय आप-जैसे विद्वान् के साथ चार घड़ी बिताने से बढ़कर मेरा और क्या सौभाग्य हो सकता है ! अवश्य आने की कृपा करें।"

यह पत्र देखकर डॉ० राव का हृदय भाव-विभोर हो उठा। भारत की संस्कृति का वर्णन करने वाले उनके मन में श्रोत्रियजी का चित्र उस संस्कृति का प्रतीक-सा लगा। एक दिन शाम को चारों खण्ड और होल-डाल लिये रत्ने के साथ वे नंजनगुडू की ओर निकल पड़े।

नंजनगुडू रेलवे स्टेशन पर उतरकर एक कुली को होलडाल और पुस्तकों का थैला थमाया। श्रोत्रियजी के घर पहुँचे तो द्वार बंद था। दो बार खटखटाया तो एक पंद्रह साल के लड़के ने आकर द्वार खोला। यह समझने में डॉ० राव को समय न लगा कि यह श्रोत्रियजी का पोता है—राज की पत्नी की प्रथम सन्तान। उन्हें दीवानखाने में बैठाकर लड़का भीतर गया। दो मिनट बाद श्रोत्रियजी आये। सौजन्यपूर्वक दोनों को नमस्कार किया। अब उनके सिर के बाल झड़ गये थे। चेहरे की दाढ़ी सफेद हो गयी थी। पहले की तरह ही वे लाल किनार की धोती पहने थे और शरीर पर एक शाल ओढ़े हुए थे। दाँत अभी तक बने थे। लेकिन ललाट पर पहले की अपेक्षा अधिक झुर्रियाँ पड़ गयी थीं

और चेहरे पर चिंता की रेखाएँ दीख रही थीं। चलते समय तनिक झुकते थे। डॉ० राव और रत्ने दोनों ने उठकर उन्हें नमस्कार किया। तत्पश्चात् श्रोत्रियजी ने 'चीनी' को आवाज दी। उससे बिस्तर और थैला ऊपर रखने के लिए कहा। अतिथि के हाथ-पैर धो लेने के पश्चात स्वयं श्रोत्रियजी ने उन्हें पीने के लिए दूध दिया।

मँजले पर तीनों बैठे। डॉ० राव ने थैले से चारों खण्ड श्रोत्रियजी के सामने रखकर कहा—"यह है आपके आशीर्वाद का फल। एक खण्ड और शेष है।" श्रोत्रियजी खण्ड देखने लगे। उसका नाम, ग्रंथकार का नाम, प्रकाशन आदि पढ़ने-समझने लायक अंग्रेजी उन्हें आती थी। हर खण्ड के प्रथम पृष्ठ पर डॉ० राव ने कन्नड में लिखा था—

"पूज्य श्रीनिवासजी श्रोत्रिय को
श्रद्धापूर्वक,
—सदाशिवराव"

चौथे खण्ड का दूसरा पन्ना उलटा तो श्रोत्रियजी को आश्चर्य हुआ। अंग्रेजी में लिखे गये तीन-चार शब्द समझ में नहीं आये, फिर भी बड़े अक्षरों में छपे 'यह खण्ड नंजनगुडु के श्रीनिवासजी श्रोत्रिय को श्रद्धा-पूर्वक अर्पित है' वाक्य को समझ गये। उस पन्ने की ओर अँगुली से इशारा करते हुए कहा—"आपको यह नहीं करना चाहिए था।"

"ऐसी बात नहीं। आपने इस ग्रंथ-रचना के लिए आर्थिक सहायता दी थी। आपके ज्ञान से मैंने लाभ उठाया है। इसके अतिरिक्त आपके आशीर्वाद से मेरी संकल्प शक्ति को प्रेरणा मिली, कार्य को आगे बढ़ाया है। इस खण्ड को आपके अलावा और किसको समर्पित करता!"

"इसे किसी को भी क्यों समर्पित करना चाहिए", उन्होंने शांत स्वर, में कहा—"ऐसे ग्रंथों को लिखने के लिए भगवान् से आपको प्रेरणा मिली। उसके उपयुक्त साधन उपलब्ध करा देने के लिए उसी भगवान् ने कुछ लोगों को प्रेरित किया। यह मेरा सौभाग्य है कि उन लोगों में मैं भी एक निकला। मैंने सुना है कि बड़े महाराज ने, अपने जीवन-काल में, इसमें मदद दी थी। आपकी इस ज्ञान-पूजा में एक-एक फूल देना हमारा भी कर्त्तव्य है न! अपने कर्त्तव्य की दृष्टि से जो कार्य करते हैं, उसके लिए धन्यवाद, समर्पण की क्या आवश्यकता?"

डॉ० राव कुछ नहीं बोले। चुपचाप बैठे रहे। श्रोत्रियजी दस मिनट तक खण्ड के पन्ने उलटते रहे। चित्रों को देखते रहे। रत्ने की ओर मुड़कर पूछा—"हमारी बातचीत आपकी समझ में आती है न ?"

डॉ० राव समझ गये कि रत्ने के बारे में श्रोत्रियजी जानते हैं। उन्होंने कहा—"पूर्णतः नहीं। बातों के ढंग से भाव ग्रहण कर लेती है। घर के नौकरों से आवश्यक आठ-दस वाक्य बोल लेती है।" पाँच मिनट तक कुशल-समाचार होने के पश्चात् श्रोत्रियजी "थोड़ा आराम कीजिए, अभी आया" कहकर नीचे उतरे। वह उनकी पूजा का समय समझकर डॉ० राव अपने बीच हुआ वार्तालाप रत्ने को अंग्रेजी में सुनाने लगे। तत्पश्चात् श्रोत्रियजी के ग्रंथालय में जो मुद्रित एवं हस्तलिखित ग्रंथ थे, उन्हें वे दोनों देखने लगे।

रात के लगभग आठ बजे श्रोत्रियजी ऊपर आये और भोजन के लिए बुलाया। जहाँ बैठकर डॉ० राव ने इससे पहले भी भोजन किया था, उसी स्थान पर तीन पत्ते बिछा दिये गये थे। श्रोत्रियजी के "तुम भी खा लो बेटा" कहने पर चीनी भी खाने बैठ गया। "और आप ?" डॉ० राव ने पूछा। "मैं परोसूँगा।" श्रोत्रियजी ने कहा। डॉ० राव को पता न था। "और वे......?" सोचे बिना ही फिर प्रश्न किया। "वह बाद में बताऊँगा।" इस उत्तर से डॉ० राव सारी बात समझ गये। लगभग पंद्रह वर्ष पहले एक दिन भोजन करते समय प्रश्न किया था, "नंजुंड श्रोत्रिय कहाँ हैं ?" उत्तर में उन्होंने ऐसा ही कहा था। भोजन करते समय ऐसी अशुभ बात न कहने के विचार से ही ऐसा किया था। अब भी वैसा ही व्यवहार। लेकिन सत्तर पार कर चुके श्रोत्रियजी को इस तरह पकाकर भोजन कराते देखकर डॉ० राव को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे कुछ नहीं बोले। अपनी पत्नी के रहते समय जिस तरह अतिथियों को निःसंकोच भोजन कराते थे, उसी तरह आज भी वार्त्तालाप करते हुए भोजन कराया। भोजन गर्म और स्वादिष्ट था।

भोजन के एक घण्टे पश्चात् श्रोत्रियजी दीवानखाने में आये। इतने में चीनी ने तांबूल की थाली अतिथियों के सामने रखी। श्रोत्रियजी के आने पर डॉ० राव ने कहा—"आप पान नहीं खायेंगे ?" उत्तर में श्रोत्रियजी बोले—"नहीं, उसे भी छोड़े बहुत दिन हो गये। इसके अति-

रिक्त मैं अब पूर्ण गृहस्थ भी नहीं हूँ।"

"कितने दिन हुए? क्या हुआ था?"

"दो साल हुए। और क्या होगा? बुढ़ापा था। साठ साल की उम्र थी। इस युग में 'शतमानं भवति' केवल मंत्र में रह गया है।"—कहकर श्रोत्रियजी हँस पड़े।

डॉ० राव को बड़ा दुःख हुआ। और कोई पत्नी को खो बैठता तो शायद सान्त्वना की बात कहते। लेकिन यह सोचकर कि सामने बैठे हुए इस वृद्ध को सान्त्वना देने की क्षमता, आयु, ज्ञान या मन की परिपक्वता किसी भी दृष्टि से किसमें है, वे चुप रहे। फिर भी उन्होंने पूछा—"आप अन्यथा न समझें तो एक बात कहना चाहता हूँ।"

"कहिए, इसमें क्या है।"

"हम तीन-चार दिन रहने वाले हैं। आप हमें पकाकर खिलायें, यह मुझ से देखा नहीं जाता। वास्तव में चाहिए यह कि हम यह कार्य करें। लेकिन इसका (रत्ने का) जन्म-धर्म भिन्न है। कल से यह हम दोनों के लिए एक कमरे में अलग पकाया करेगी। एक सिगड़ी, दो पात्र, थोड़ा-सा चावल एक कमरे में रखवा दीजिए। बस!"

"आप दोनों के लिए मैं अलग थोड़े ही पकाता हूँ! हम तीनों के लिए जिस पात्र में पकाता हूँ, उसी में थोड़ा-सा चावल अधिक डाल देता हूँ। जिसमें दाल बनाता हूँ, उसी में थोड़ी अधिक दाल और पानी डाल देता हूँ। बस, रसोई की दौड़-धूप समाप्त! उससे इस बूढ़े को कष्ट कैसे हो सकता है? आप न हिचकिचायें।"

इधर-उधर की बातें होने के बाद विद्वत्तापूर्ण चर्चा शुरू हो गई। उस रात बारह बजे तक वे सब चर्चा करते रहे। तत्पश्चात् श्रोत्रियजी उन्हें मंजिले पर लिवा ले गये। वहाँ उन दोनों के लिए बिस्तर बिछा दिया गया था। "अब सो जाइए, कल बात करेंगे।"—कहकर वे नीचे उतर आये।

डॉ० राव पत्नी के साथ वहाँ चार दिन रहे। रत्ने के मन में श्रोत्रियजी के प्रति आदर-भाव जाग उठा था। बुढ़ापे की महत्ता उसने देखी थी।

स्वयं उसके पिता ने अपने बुढ़ापे में आयु की परिपक्वता का अनुभव किया था। इंग्लैंड में भी कई प्राध्यापक ऐसे थे। लेकिन उसने अनुभव किया कि श्रोत्रियजी का व्यक्तित्व असाधारण है। उसने भारतीय पुराण, साहित्य आदि विषयों से संबंधित अनेक ग्रंथों का अध्ययन किया था। भीष्म, वशिष्ठ, धर्मराज, राम आदि पात्रों की स्पष्ट कल्पना उसे थी। वह ठीक-ठीक यह बताने में समर्थ थी कि किसी विचित्र परिस्थिति में वे पात्र किस तरह व्यवहार करेंगे। अब श्रोत्रियजी को देखकर उसे वे पात्र याद आ गये। वह जानती थी कि उनकी बहू मेरे देवर से विवाह कर इस परिवार से बाहर गयी है। श्रोत्रियजी भी जानते हैं कि डॉ० राव के कारण ही कात्यायनी का राज से परिचय हुआ। लेकिन राज के बड़े भाई के प्रति तनिक भी क्रोध नहीं है। सत्तर पार करने पर भी उनके चेहरे की चमक, कांति कायम है। हर आचार विचार में सज्जनता, संस्कृति झलकती है। वे रोज रात के तीन बजे उठकर स्नान करने नदी पर जाते हैं और भगवान् की पूजा में लग जाते हैं। उससे मुक्त होकर सात बजे मेहमानों को काफी देते हैं। काफी केवल मेहमानों के लिए ही बनती है—घरवाले तो पीते ही नहीं। दस बजे भोजन। भोजन के पश्चात् दोपहर के तीन बजे तक उनके साथ वार्ता। आधे घण्टे बाद पुनः काफी और उपाहार। लेकिन तीन बजे वे कुछ नहीं लेते। शाम के साढ़े छह बजे तक विचार-विनिमय। फिर रात को भोजन बनाने के लिए नीचे उतरते। भोजन के पश्चात् बारह बजे तक चर्चा में लीन। क्षण-भर के लिए भी उनके चेहरे पर विषाद या आलस्य का चिह्न नहीं दीखता।

चर्चा करते समय उनके मुख से संस्कृत श्लोक निरन्तर निःसृत होते। कुछ शब्दों पर जोर देकर उच्चारण करते और कुछ शब्दों के मूल को छोड़कर। कहने के ढंग से ही रत्ले श्लोकों का अर्थ समझ जाती। यह गंभीर चर्चा डॉ० राव के साथ वे कन्नड़ में ही करते, लेकिन बीच-बीच में आने वाले संस्कृत श्लोकों और उनकी शैली में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों से वह उनके वार्तालाप को लगभग पूरा समझ जाती। जहाँ कहीं भी शंका उठती श्रोत्रियजी कमरे में रखे ग्रंथों को पढ़कर सुनाते। धर्मशास्त्र, पुराण, तत्वशास्त्र, साहित्य आदि ग्रंथों से उनका कमरा भरा

पड़ा था। कई बार तो अनायास निरंतर संस्कृत में ही बोलते रहते। उनका ज्ञान देखकर रत्ने को आश्चर्य हुआ। चर्चा समाप्त होने के पश्चात् श्रोत्रियजी रसोईघर में जाते, तब डॉ० राव चर्चा का सारांश रत्ने को अंग्रेजी में सुनाते। वह उसे शीघ्रलिपि में लिख लेती। तीसरे खण्ड में आये धर्मशास्त्र-संबंधी विषय के बारे में जर्मन विद्वान् ने जो प्रश्न उठाये थे, उसकी जो टीका की थी, उसे डॉ० राव ने कन्नड़ में समझाया तो श्रोत्रियजी ने स्पष्ट किया और अपने ग्रंथ-भंडार के ग्रंथों से उनके मूल को पढ़ सुनाया। सारी बातें डॉ० राव ने विस्तारपूर्वक नोट कर लीं। उन्होंने निश्चय किया कि उनके ग्रंथ को लेकर जो टीका की गयी, उसके उत्तर में एक ग्रंथ प्रकाशित कर देना चाहिए।

जिस दिन से डॉ० राव वहाँ आये थे, उसी दिन से उनके मन में एक विचार कौंध रहा था। उन्हें लग रहा था कि बुढ़ापे के कारण ही श्रोत्रियजी की पत्नी का स्वर्गवास हुआ। अगर वह होती तो इस उम्र में उन्हें इतना कष्ट न होता। श्रोत्रियजी किसी भी कार्य को कष्ट नहीं समझते। यह उनके मन की दृढ़ता का द्योतक था। लेकिन इस उम्र में वह इसी परिवार में रहती तो उन्हें तसल्ली होती, आराम मिलता। उनके पोते के लिए एक आधार बनती। डॉ० राव ने चीनी को गौर से देखा। लगभग पन्द्रह वर्ष का बालक अपने दादा की तरह ही ऊँचा-पूरा, विशाल चेहरा, कांतिपूर्ण आँखें। लेकिन उसी उम्र में असहज गांभीर्य आ चुका है। श्रोत्रियजी को अपने पोते के साथ हँस-हँसकर बोलते हुए डॉ० राव ने देखा था। लेकिन घर की परिस्थिति एवं दादा के जीवन ने उसमें गांभीर्य ला दिया है। उसकी माँ घर में होती तो न जाने क्या परिस्थिति होती।

डॉ० राव सोच रहे थे—"राज को इस घर का परिचय न था। कात्यायनी का हमारे घर आना और राज के साथ संबंध जुड़ना, मेरे परिचय के कारण ही हुआ। और उसका अंत ऐसा हुआ। मुझे इसके प्रारंभ और विकास का पता ही न लगा। मैं अपनी साधना में लगा रहा। इसके अतिरिक्त मेरा जीवन-पथ ही बदल गया, अपने घर से ही निकल पड़ा। उनके विवाह के समय भी मैं नगर में नहीं था। नगर में होता तो उन्हें एक बार समझाता। कुछ भी हो, इस संबंध में मुझे

श्रोत्रियजी से क्षमा माँग लेनी चाहिए।"

मैसूर लौटने के पहले दिन, रात के भोजन के पश्चात् रत्ने को ऊपर मँजले पर ही रहने की सूचना देकर डॉ० राव उतरकर श्रोत्रियजी के पास आकर बोले—"चर्चा के लिए आज कोई विषय नहीं है। अगर आप थके न हों तो हम नदी तक टहल आयें।"

"कोई थकावट नहीं", कहकर शाल ओढ़कर निकल पड़े। रत्ने को साथ न पाकर श्रोत्रियजी ने पूछा—"आपकी पत्नी नहीं चलेंगी ?"

"नहीं, वह कोई ग्रंथ पढ़ने में लीन है।"—डॉ० राव ने उत्तर दिया। मंदिर के सामने से होते हुए दोनों मणिकर्णिका घाट की सीढ़ियों पर पहुँचे।

ज्येष्ठ-आषाढ़ महीनों की बाढ़ के पश्चात् नदी शांत बह रही थी। शुक्ल-पक्ष की अष्टमी या नवमी का दिन रहा होगा। आधा चाँद चमक रहा था। इस चाँदनी में नदी के दोनों किनारे गंभीर हो पानी की गति का अवलोकन कर रहे थे। डॉ० राव श्रोत्रियजी के साथ पानी के निकट वाली एक सीढ़ी पर बैठ गये। कुछ देर तक दोनों पानी को देखते रहे। डॉ० राव ने बोलने के लिए मुँह खोला। लेकिन समझ नहीं पाये कि बात प्रारंभ कैसे की जाय। श्रोत्रियजी पूछ बैठे—"कहिए, क्या बात है ?"

"आपकी दृष्टि में विषय शायद महत्व नहीं रखता होगा! किसी एक पुराने विषय के बारे में बात करने की इच्छा हुई है।"

"कहिए!"

"मेरे छोटे भाई का विवाह, उसका विकास—मैं कुछ नहीं जानता था। जानता तो शायद कुछ करता! इस समय बहू को आपके साथ रहना चाहिए था। वैसे तो स्वभाव से मेरा भाई अच्छा है। इस परिवार के बारे में वह नहीं जानता था। उनकी ओर से मैं आपसे क्षमा-याचना करता हूँ।"

"यह क्या कह रहे हैं ? क्षमा-याचना किस लिए, किससे क्या हानि हुई है ?"

"आपकी दृष्टि में हर बात, हर वस्तु अच्छी है। लेकिन इस समय आपकी बहू आपके साथ होती तो अच्छा होता!"

"सब हमारी इच्छा, सुविधा के अनुसार हो तो इसे दुनिया कौन कहेगा ?" श्रोत्रियजी ने शांत स्वर में कहा—"अब भी मेरी पत्नी जीवित रहती तो अच्छा होता ! पुत्र जिंदा रहता तो और भी अच्छा होता ! मेरे माता-पिता जीवित होते तो कितना अच्छा होता। लेकिन लोग उतने ही दिन हमारे साथ रहते हैं, जितने दिन रहना लिखा है। उसके समाप्त होते ही वे दूर हो जाते हैं। इस बात को सदा स्वीकार कर लेना चाहिए—दुखी नहीं होना चाहिए।"

"अपनी बहू के प्रति आपके मन में कभी घृणा, तिरस्कार नहीं जागा ?"

"क्यों जागे ?" एक बार मंद मुस्कराकर पुनः शांत स्वर में कहा—"मेरे पुत्र का मुझ से जो संबंध था, उसके नदी में डूब जाने पर समाप्त हो गया। उसी तरह बीमारी के बहाने पत्नी भी दूर चली गयी। उनके प्रति मैं घृणा, तिरस्कार क्यों दिखाऊँ ? उन दोनों का मरकर मुझ से दूर होना, और बहू का जीते-जी दूर होना—इन दोनों में, मेरी दृष्टि में, कोई अन्तर नहीं। मेरे साथ का जो संबंध था, वह समाप्त हो गया। वह चली गयी—इसमें उसका क्या दोष ?"

"संतान की दृष्टि से कम-से-कम...।" डॉ० राव कहने जा रहे थे।

"आपका कहना सच है। हमारा बच्चे की दृष्टि से सोचने पर कभी-कभी चिंतित होना स्वाभाविक है। आप क्या सोच रहे हैं कि अपने गर्भ की संतान को छोड़ जाते समय उसे दुःख नहीं हुआ था ? उसे भी अपार दुःख हुआ था। लेकिन उस दुःख से भी बड़ी एक प्रकृति-सहज शक्ति ने उसे अपनी ओर खींचा। प्रकृति को ही तो माया कहते हैं। प्रकृति-सहज गुण-धर्मों से ही हम संसार में जी रहे हैं। यहाँ रहकर प्रकृति-गुणों से युक्त रहना, सामान्य कार्य है ! वह अगर इनसे प्रभावित हुई तो आश्चर्य की बात नहीं। इसके लिए हम उसके प्रति क्यों घृणा दिखायें ?"

इस तत्वज्ञान की दृष्टि से डॉ० राव अनभिज्ञ नहीं थे। लेकिन अपने जीवन-संग्राम में भी इसी दृष्टि से विचार करने वाले इस वृद्ध के प्रति उनके मन में और भी श्रद्धा उपजी। "आप अपनी बहू के बारे में कभी नहीं सोचते ?" डॉ० राव ने पूछा।

"जीवन में जिन्हें खो दिया है, उन्हें स्मरण करने से क्या लाभ ? मृत पुत्र एवं पत्नी के संबंध में सदा सोचते रहने पर मनोवल का ह्रास होता है। बचा हुआ कार्य क्या कम है ? पौत्र का पालन-पोषण करना और पढ़ाना चाहिए। मैं बहत्तर वर्ष का हुआ। पौत्र को एक स्तर तक पहुँचा कर प्रापंचिक जीवन से मुक्ति पाने का प्रयत्न करना चाहिए। कभी-कभी अन्यमनस्क हो जाने पर मन स्मरण-गति में अवश्यवह जाता है। जहाँ तक हो सके, मैं बीते दिनों को याद नहीं करता।"

इतना कहकर वे चुप हो गये। डॉ० राव का मन न जाने क्यों अपने जीवन की विगत घटनाओं को लेकर सोचने लगा—"श्रोत्रियजी ने अपने जीवन में कभी द्वन्द्वपूर्ण कार्य नहीं किया। इसीलिए उनकी दृष्टि सदा भविष्य के लक्ष्य की ओर रहना संभव है। लेकिन मेरे जीवन में बचा हुआ एक द्वन्द्व मुझे बार-बार उसका स्मरण दिलाकर, उसमें लीन करके विदीर्ण कर देता है। इससे छूटकारा कैसे मिलेगा ?"

इस विश्वास से कि अपनी समस्या से छुटकारा पाने का उपाय श्रोत्रियजी से मिलेगा, डॉ० राव ने बात प्रारंभ की—"मेरा दूसरा विवाह, परिस्थिति, कारण आदि आप जानते हैं ?"

"जानता हूँ !"

"इसके बिना मैं अपने कार्य को पूर्ण न कर पाता। ग्रंथ पूर्ण करने के लिए उसका मेरे साथ रहना अनिवार्य था। लेकिन पहली पत्नी निर-पराध है। क्या आप सोचते हैं कि ऐसी परिस्थिति में मेरा वैसा कदम उठाना अनुचित था ?"

"आपके कार्य को मैं कैसे अनुचित ठहरा सकता हूँ?"

"मैं जानता हूँ कि दूसरों के बारे में निर्णय देना आपका मनोभाव नहीं है। मैंने इस दृष्टि से नहीं पूछा। मेरी स्थिति में आप होते तो क्या करते ?"

"आपकी स्थिति में मैं होता तो क्या करता, यह कहना असंगत बात होगी। कभी एक दिन आपने ही अपनी कक्षा में कहा था—मेरे पुत्र ने घर आकर मुझे बताया था—एक भिक्षु सम्राट से कहता है कि मैं तुम-जैसा चक्रवर्ती होता तो रक्तपात नहीं कराता। और सम्राट ने उत्तर दिया था कि अगर मैं भिक्षुक होता तो युद्ध की बात ही मेरे

दिमाग में न आती।" वे एक मिनट चुप रहे। फिर कुछ सोचकर उन्होंने कहा—"आप कहते हैं कि ग्रंथ-निर्माण के लिए यह विवाह किया। ग्रंथ बुद्धिशक्ति की साधना है। बुद्धि-तत्व भी प्रकृति का एक पहलू है। बुद्धि साधना में उलझकर, उस साधना के लिए ही किया हुआ विवाह भी प्रकृति का एक आकर्षण है। कुछ लोग केवल शारीरिक आकर्षण से विवाह कर लेते हैं। यद्यपि उससे यह उत्तम आकर्षण है, किन्तु मूलतः भिन्न नहीं है। वास्तविक ज्ञान-सिद्धि बुद्धि से श्रेष्ठ है। इसमें किसी की मदद की आवश्यकता नहीं। आत्मा की पुकार दृढ़ रहनी चाहिए।"

डॉ० राव ने बीच में ही प्रश्न किया—"मानव जीवन जिस साधना के लिए तपस्या करता है, उसमें बाधक बनने वाले विवाह का महत्व ही क्या है? उस जीवनोद्देश्य की सिद्धि के लिए किये गये विवाह को प्रकृति प्रेरित कैसे कहा जा सकता है?"

"आपकी बात आपकी दृष्टि से ठीक है। परिवर्तनशील सामाजिक दायरे में विवाह का ध्येय ही बदलता जा रहा है। उसे उचित या अनुचित कहना अप्रकृत है। जाने-अनजाने किये गये हमारे विवाह को उससे संबंधित अन्य एक व्यक्ति की कोई गलती न होने पर उसे गौण कैसे मान सकते हैं?" अपने वैवाहिक जीवन को स्मरण कर श्रोत्रियजी आगे बोले—"कई बार मुझे भी वैसा प्रतीत होता था। मैं सदा संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन करता था। अपने में ही वेदांत, तर्क, मीमांसा का मनन-चिंतन करता रहता था। मेरी पत्नी संस्कृत की 'अ-आ-इ-ई' भी नहीं जानती थी। कन्नड़ में चार पंक्तियों का पत्र लिखना भी उसे नहीं आता था। फिर भी श्रद्धा-भक्ति से पति-सेवा करती थी। वंश-वृद्धि के लिए एक बेटे को जन्म दिया। देव-पूजा के लिए वांछित पुष्प-चंदन तैयार कर देती थी। बुद्धिशक्ति के स्तर पर उसमें और मुझ में आकाश-पाताल का अन्तर था। लेकिन वह अवश्य योग्य धर्मपत्नी बनी रही।"

डॉ० राव चुपचाप बैठे थे। उस प्रदेश में पूर्ण नीरवता छाई हुई थी। श्रोत्रियजी को लगा कि उनकी बात से शायद डॉ० राव को दुख पहुंचा है। फिर भी श्रोत्रियजी ने कहा—"जिस तरह यह कहना असंगत है कि आपकी स्थिति में मैं होता तो वैसा ही करता, उसी तरह यह कहना भी असंगत है कि वैसा नहीं करता। यह सब अपनी-अपनी जीवन-

दृष्टि पर निर्भर है। किसी अनिश्चित मार्ग पर चलने से जीवन में अनिवार्यतः द्वन्द्व उत्पन्न होता है। आपने जो साधना की है, वह साधारण नहीं है। उसे पूर्ण करना शेष है। आपके द्वितीय विवाह की आवश्यकता को मैं पूर्णतः समझ सकता हूँ। लेकिन प्रथम पत्नी को दूर क्यों रखा?"

"द्विपत्नी-रिवाज के प्रति द्वितीय पत्नी में तिरस्कार-भावना है। एक ही घर में एक पति की दो पत्नियों का रहना उसे पसन्द नहीं।"

"यह भी आधुनिकता का एक पहलू है। वह पूरी तरह गलत नहीं है। किसी ध्येय को पूर्ण करने के लिए ही एक पत्नी के रहते हुए भी उसने आपके साथ विवाह करना स्वीकार कर लिया था। उसी ध्येय को प्रधानता देकर उस द्विपत्नी-पद्धति के प्रति अपना जो तिरस्कार है, वह उसे घटा सकती थी। व्यक्ति या समाज के जीवन में हर पद्धति का अपना एक विशेष उपयोग रहता है। लेकिन विशेष संदर्भों में उस पद्धति को प्रधानता नहीं देनी चाहिए। जीवन के मूल ध्येय को समझ लेने के पश्चात् अन्य ध्येयों को उसके अनुरूप बना लेना कठिन प्रतीत नहीं होता।"

डॉ० राव का मन विचार में डूबा हुआ था। वे कुछ न बोले। कुछ समय दोनों मौन बैठे रहे। श्रोत्रियजी ने जब कहा—"सोने का समय हो गया है, अब चलें?" तो डॉ० राव उठ खड़े हुए। लगभग ग्यारह बजे लौटे तो दीवानखाने में बैठी रत्ने चीनी से बात कर रही थी। उनके आते ही चीनी अंदर चला गया। रत्ने ने डॉ० राव से कहा—"लड़का बड़ा बुद्धिमान है।"

दूसरे दिन सुबह की रेल से लौटने से पहले डॉ० राव श्रोत्रियजी के चरण छूने गये। श्रोत्रियजी ने संकोचवश चरणों को पीछे खींचकर कहा—"आपको ऐसा नहीं करना चाहिए। यह सब भगवान् के लिए है।" रत्ने ने झुककर नमस्कार कहा। "बार-बार आते रहिए। मैं वृद्ध हूँ, कहीं आ-जा नहीं सकता।" कहते हुए हाथ जोड़ नमस्कार कर अतिथियों को विदा किया।

डॉ० राव को रत्ने के साथ नंजनगुडू से मैसूर घर पहुँचने तक सवा

दस बज गये थे। आँगन में कुर्सी पर बैठकर राज बूट पहन रहा था। उसे देखकर डॉ० राव ने पूछा—"यह क्या ? कब आये ?"

"तीन दिन हुए। कात्यायनी भी आई है। हम दोनों का यहीं तबादला हो गया है।"

"कब से ?" पूछते हुए डॉक्टर राव कुर्सी पर बैठ गये। रत्ने कुली द्वारा लाये गये होलडाल और थैलों को भीतर लिवा ले गयी।

"परसों सोमवार को तबादले की सूचना में बताया गया कि चार दिनों में हमें यहाँ पहुँच जाना चाहिए। अपने आने की सूचना आपको पत्र द्वारा दी थी। हमारे आने के बाद उस पत्र को घर में पाया। उससे पहले ही आप जा चुके थे। पता लगा कि नंजनगूडू गये हैं।

"हाँ।"

"वे सब कुशल हैं ?" प्रश्न करते समय राज का मुख म्लान था, लेकिन डॉ० राव ने नहीं देखा।

"श्रोत्रियजी की पत्नी का स्वर्गवास हुए दो वर्ष हो गये।"

इतने में बातें करती हुई रत्ने और कात्यायनी वहाँ आईं। कात्यायनी कालेज जाने के लिए तैयार हो गयी थी। हाथ में दो पुस्तकें और एक नोटबुक थी। डॉ० राव को श्रद्धापूर्वक नमस्कार करने के पश्चात् राज के साथ वह कालेज चल दी। साढ़े दस बजे उन दोनों को 'पीरियड' लेना था।

नागलक्ष्मी और पृथ्वी, दोनों बंगलूर में थे। मैसूर में घर मिलने के बाद वे आयेंगे। मैसूर आने में नागलक्ष्मी को कोई उत्साह नहीं था। कात्यायनी को भी यहाँ आना पसन्द न था, लेकिन तबादले के विरुद्ध कुछ किया नहीं जा सकता था।

दोनों साथ में काम करते हों तो भी दोनों का एक साथ एक ही जगह तबादला करना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं था। डॉक्टर साहब का भाई होने के कारण ही ऐसी व्यवस्था की होगी! इस बार राज महाराजा कालेज में आया था। कात्यायनी पास के ही प्रथम श्रेणी के एक कालेज में भेजी गयी थी।

यह जानकर कि रत्ने और डॉ० राव नंजनगूडू गये हुए हैं, रत्ने से वहाँ के बारे में पूछने का कात्यायनी को कुतूहल था। राज भी वहाँ के

बारे में जानने का कुतूहल रखता है—इधर कुछ समय से। लेकिन कात्यायनी में केवल कुतूहल न था, अपने पहले वाले घर एवं अपने गर्भ से जन्मे पुत्र के बारे में जानने की उत्कट इच्छा थी। अपने तीसरे गर्भ-स्राव के पश्चात् उसका मन चीनी को देखने के लिए छटपटा रहा था। मन-ही-मन वह कल्पना करती कि अब बड़ा होकर वह कैसा दीखता होगा! वह माँ को याद करता होगा क्या? दादा-दादी के साथ कैसे रहता है आदि कुतूहल अनेक रूपों में प्रस्तुत होते। अपने सास-ससुर के बारे में भी जानने की इच्छा थी, उसमें। कई बार वह सोचती—"वे अब काफी वृद्ध होंगे! मैं वहीं होती तो उन्हें सुविधा रहती। मैं घर-बार की जिम्मेदारी सँभालती तो ससुर निश्चित हो, अपने संध्या-वंदन, देवार्चना में समय बिता सकते थे।"

उस दिन दोपहर के तीन बजे वह कालेज से लौटी। राज कहीं मकान ढूंढ़ने गया था। रत्ने से कह गया था कि लौटने में रात होगी। डॉ० राव पुस्तकालय गये हुए थे। रत्ने यह सोचकर घर में ही रही कि कात्यायनी को बुरा लगेगा। वह नंजनगुडू में डॉ० राव द्वारा लिखाये गये विषयों को टाइप करती रही। कात्यायनी के घर लौटकर, उपाहार कर लेने के पश्चात् दोनों ने परस्पर कुशल-समाचार पूछा। तत्पश्चात् कात्यायनी ने पूछा—"नंजनगुडू गये थे न? कहिए, वहाँ सब कैसे हैं?"

"अच्छे हैं।"

"केवल उतने से काम नहीं चलेगा। आप भी जानती हैं कि वहाँ की बातें जानने के लिए मैं क्यों आतुर हूँ। आप कन्नड़ तो नहीं जानतीं। लेकिन आप जो-कुछ भी जानती हैं, सविस्तार बताने की कृपा करें।"

"मुझे लगा कि वे बड़े ही अच्छे हैं। उस वृद्ध ने तो मेरे मन पर काफी प्रभाव डाला है।"

"दूसरे लोग कैसे हैं? मेरा बेटा, सास, लक्ष्मी?"

"सास को गुजरे दो साल हो गये।"

"यह अनपेक्षित बात सुनकर कात्यायनी को अत्यधिक दुःख ही नहीं हुआ, उसे लगा कि उसकी उपप्रज्ञा में उपस्थित रहकर मन को सान्त्वना

देते रहने वाला एक स्तम्भ ही टूट गया है। "अब फिर उस घर का क्या हाल है ? लड़के की देखभाल कौन करता है ?"

"अब वृद्ध ही देख लेते हैं। सुबह तीन बजे उठकर स्नान करते जाते हैं। छह बजे पूजा समाप्त होती है। लड़का इस बार एम० एस० एल० सी० की परीक्षा देने वाला है। सुबह उठकर स्नान, सन्ध्या-वंदन से मुक्त हो अध्ययन करता है। दस बजे दादा भोजन बनाकर परोसते हैं। शाम को पौत्र के स्कूल से लौटने पर वेदपाठ करते हैं। रात्रि की रसोई का काम भी वृद्ध ही करते हैं।"

"वह कैसा है ? माँ को याद करता है ? क्या दादी के स्वर्गवास से काफी असर पड़ा है ?"

"कल रात को डॉ० साहब वृद्ध के साथ बाहर गये थे। तब लड़के के साथ दो घण्टे से भी अधिक समय तक बातें करती रही थी। मेरी अंग्रेजी को पूर्णतः समझ लेने पर भी अंग्रेजी में आसानी से उत्तर नहीं दे पाता था। लेकिन संस्कृत में सुगमता से वार्तालाप कर सकता है। मैं अंग्रेजी में ही बोलती रही। वह संस्कृत में उत्तर देता गया। अभी-अभी वेदपाठ पूर्ण हुआ है। भगवद्गीता कण्ठस्थ है। रामायण-महाभारत स्वयं पढ़कर समझने की क्षमता रखता है। लगता है बड़ा बुद्धिशाली लड़का है—बिल्कुल दादा का प्रतिरूप। उन जैसा ही ऊँचा शरीर, विशाल छाती और भुजाएँ, चौड़ा चेहरा, कांतियुक्त आँखें। दोनों कानों में चमकती बालियाँ।"

"क्या उसे माँ की याद आती है, इस बारे में आपने कुछ पूछा ?"—अपनी समस्त आसक्ति को बटोरकर उसने प्रश्न किया। रत्ने तुरन्त उत्तर न दे सकी। वह सकपकाकर सोचती रही। पुनः कात्यायनी ने कहा—"आप निःसंकोच उत्तर दें। मेरी कसम है, आप जो कुछ जानती हैं, सच-सच बता दीजिए।"

"मैंने ही पूछा कि तुम्हारी माँ कहाँ है, कभी उसे देखने की याद है ? उसके चेहरे से पता लगा कि यह प्रश्न उसे जँचा नहीं। मैं समझती हूँ कि वह माँ के बारे में जानता है। मैं यह नहीं जानती कि उसे इस बात का पता है या नहीं कि मैं उसकी माँ की रिश्तेदार हूँ। बात बदलकर मैंने उसकी दादी के बारे में प्रश्न पूछे। लगता है, दादी के

प्रति बड़ा लगाव था। उसकी बात में यद्यपि संयम था—ऐसा उसकी आवाज और मुखमुद्रा से मैं समझती हूं। दादी के बारे में विस्तारपूर्वक बताया। उनकी मृत्यु का कारण, बीमारी की अवधि, उत्तरक्रिया का स्थान आदि। दादा के प्रति उसमें अगाध स्नेह-श्रद्धा है।"

"उम्र के योग्य उत्साह दिखाता है या सदा चिंता करता है?"

"मुझे लगता है कि दादी के रहते समय उसमें उत्साह था। अब उनके घर में लक्ष्मी है न, उससे बड़ा लगाव है। रात को उसके पास ही अपना बिस्तर बिछाता है। लक्ष्मी भी उसे बहुत प्यार करती है। उसके चेहरे पर उम्र से अधिक गांभीर्य दिखाई देता है। यह मैं स्पष्टतया नहीं बता सकती कि वह गांभीर्य अपने अध्ययन में उपलब्ध प्रगति का परिचायक है या घर की परिस्थिति का परिणाम।"

श्रोत्रियजी के संबंध में बताते हुए रत्ने बोली—"वैसे मनुष्य की मुझे कल्पना ही थी। रामायण, महाभारत-जैसे महाग्रंथों में मैंने पढ़ा था। उस कल्पना के अनुगुण एक सजीव मूर्ति को इस युग में यहाँ से पन्द्रह मील दूर के गाँव में देखने का मौका मिला। उनका ज्ञान अगाध है। मानसिक संतुलन विचित्र है। चेहरे पर स्थितप्रज्ञ का भाव द्रष्टव्य है। वह परिपक्वता केवल उम्र की नहीं है। अन्तःकरण से जागा विश्वास उनकी आँखों में चमकता है। फिर भी लगता है कि उस कोमल व्यक्तित्व के एक कोने में अव्यक्त कठोर भाव भी है। मुझे प्रतीत होता है कि संकल्पशक्ति और कर्त्तव्य-ज्ञान उनके जीवन के मार्गदर्शक हैं।"

रत्ने की बात समाप्त होने पर भी कात्यायनी मौन बैठी रही। उसके चेहरे पर गहरा विचार दृष्टिगोचर हो रहा था। एक अस्पष्ट वेदना भी उसमें मिली थी। सहज भाव से उस परिचित रत्ने ने कहा—"मैंने जो-कुछ अनुभव किया, वही बताया। मुझे ठीक तरह कन्नड़ नहीं आती। हो सकता है कि समझने में भूल हुई हो। इसको लेकर आप अधिक चिंता न करें। जीवन में यह सब होता रहता है।"

कात्यायनी चुपचाप बैठी रही। रात के भोजन के लिए रागप्पा क्या बना रहा है, यह देखने के लिए रत्ने भीतर गयी। कात्यायनी के मन में चीनी और श्रोत्रियजी के चेहरे घूम रहे थे। उनके चेहरे के स्मरण के आधार पर उसका मन चीनी के चेहरे की कल्पना कर रहा

था। रत्ने के कहे विवरण से वह कल्पना-चित्र और भी स्पष्ट होने लगा। दादी के प्रति उसका गहरा प्यार है। उसने उनके मरण का विवरण सुनाया, लेकिन माँ के बारे में पूछा तो उसे अच्छा नहीं लगा। मेरे बारे में जानता ही नहीं? रत्ने कहती है 'मैं समझती हूँ उसे मालूम है।'—अगर यह सच है तो मेरे बारे में उसकी कैसी तुच्छ भावना होगी! उसने सोचा, घरवालों ने बालक को बता दिया होगा कि 'तेरी माँ कुलटा थी, किसी के साथ भाग गयी है।' उसे पूर्ण विश्वास था कि श्रोत्रियजी ऐसी बात कभी नहीं कहेंगे। मरने से पहले सास ने वैसा कहा होगा। वे क्रोधी स्वभाव की थी। उन्होंने कहा हो तो भी कोई आश्चर्य नहीं। लड़का सूक्ष्म बुद्धि रखता है। किसी ने न बताया हो तो भी स्वयं समझता है। उसके मन में मेरे प्रति घृणा जागना भी स्वाभाविक है।"

"हे भगवान्! मेरे यहाँ चले आने से पहले ही मैं मर जाती तो बेटे के मन में घृणा जागने का प्रसंग ही क्यों आता? जितनी श्रद्धा से अपने पिता और दादी की याद करता है, उतनी ही या शायद उससे भी अधिक श्रद्धा से मुझे भी स्मरण करता! अपने ही बेटे से तिरस्कृत माँ के जीवन से बढ़कर क्षुद्र इस दुनिया में कोई नहीं हो सकता। ये सब विचार मेरे मन में पहले क्यों नहीं आये?"—यही सारी बातें सोच रही थी। इस द्वितीय विवाह के पश्चात् उसे भी साथ ले आती तो ऐसी नौबत ही नहीं आती। वह मुझे प्यार करता! मेरे प्रति श्रद्धा दिखाता! 'इन्हें' भी आदर देता। उसे वहाँ छोड़ा, यही मेरी बड़ी गलती है। ससुरजी ने ही कहा था न कि 'उसे ले जाना ही तेरा निर्णय है तो मैं कभी नहीं रोकूँगा, चुपचाप ले जा!' मंजले पर गयी, लेकिन मैं बच्चे को छोड़कर लौट पड़ी! किस शक्ति ने वैसा करने के लिए मुझे प्रेरित किया था? किस भावना के वश मैंने ऐसा किया था? उस समय मेरी अन्तरात्मा ने मुझे एक नये पथ पर चलाया। वही अन्तरात्मा एक और भँवर में फँस गयी है। हे भगवान्! इस द्वन्द्व का मूल क्या है?"—वह इसी तरह सोचती रही, लेकिन कोई उत्तर न मिला।

२१

पन्द्रह-बीस दिनों में राज को मकान मिल गया। राज और कात्यायनी वहाँ रहने चले गये। एक सप्ताह बाद राज बंगलूर गया, घर का सारा सामान लारी से रवाना कर दिया और पृथ्वी तथा नागलक्ष्मी को अपने साथ लेता आया। लक्ष्मीपुर का यह नया मकान बड़ा था और उसके चारों ओर बगीचा भी था।

उनके नये घर में जाने के पश्चात् डॉ० राव और रत्ने कुछ ऊब से गये। सुबह स्नान के बाद भोजन करते समय उनके साथ राज और कात्यायनी भी बैठते थे। रात के भोजन के पश्चात् कुछ समय तक सब बातचीत करते। रागप्पा को निर्देश दे-देकर कात्यायनी नये-नये खाद्य पदार्थ बनवाती। अब डॉ० राव का घर पुनः पहले की भाँति हो गया। उनका अध्ययन, नोट तैयार करना, पुस्तकालय जाना, आदि कार्य पूर्ववत् चलते रहे। पाँचवे खण्ड के लिए सामग्री का संग्रह किया जा रहा था। आजकल डॉ० राव का मन ग्रंथ-निर्माण के बीच अपने जीवन की विभक्त परिस्थिति के बारे में सोचता रहता था।

उन्हें श्रोत्रियजी की बात बार-बार याद आती। बुद्धि प्रकृति का एक स्वरूप मात्र है। बुद्धि की साधना में उलझना, इस साधना के लिए किया गया दूसरा विवाह भी, एक तरह से प्रकृति की ओर आकर्षण है। कुछ तो केवल शारीरिक आकर्षण से दूसरा विवाह करते हैं। उसकी अपेक्षा यह विवाह अधिक आकर्षक होते हुए भी मूलतः भिन्न नहीं है। वे उस प्रसंग के बारे में सोचने लगे, जिसमें उन्होंने रत्ने से विवाह किया था। रत्ने के बिना उनके ग्रंथ इतने शीघ्र पूर्ण न हो पाते। उसकी तरह सहयोग देने वाला यदि और कोई सहयोगी मिलता तो? लेकिन वैसा

कोई नही मिला था। इस तादात्म्य भाव से कि यह भी मेरा ही कार्य है, अपना जीवन उसी को अर्पित करनेवाला और कौन था? फिर भी डॉ० राव को याद आ रहा था और अब भी उनका अनुभव था कि अपनी साधना के बारे मे रत्ने प्रशंसा करती तो उनका मन आनन्द से भर जाता है। संसार के विद्वानों से प्राप्त पत्र भी उनमें स्फूर्ति भरते थे। रत्ने कहती कि यह हमारा ग्रंथ है, तो डॉ० राव का हृदय हर्षोल्लास से नाच उठता था। रात के भोजन के पश्चात् टहलते-टहलते विषय-चर्चा करते जाते तो स्फूर्तिवश रत्ने उनका हाथ अपने हाथों मे थाम लेती। घर लौटने पर डॉ० राव की कही बातो को नोट करने मे लगी रहती तो कई बार उनका मन कहता—"मेरे जीवन मे यही वास्तविक पत्नी है।" मन-ही-मन प्रश्न करते, "स्त्री के बदले यदि कोई पुरुष मेरी सहायता करने के लिए आगे आता तो क्या मैं ऐसी भावनाओं का अनुभव करता? क्या रत्ने के सहयोग के साथ-साथ इन भावनाओ से भी मैं बद्ध नही हुआ हूँ?"

दूसरी ओर उनका मन श्रोत्रियजी के वैवाहिक जीवन के बारे मे भी सोचता। "वे सदा संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन करते हैं। वेदांत, तर्क, मीमांसा, धर्मशास्त्र आदि विषयो का गहरा चिन्तन-मनन किया है। उनकी पत्नी नागु-जितना भी नहीं पढ़ी थी। फिर भी उन्हे मेरे समान द्वितीय पत्नी की आवश्यकता प्रतीत नही हुई; क्योंकि मेरे समान उन्हें ग्रंथ का निर्माण नहीं करना था। श्रोत्रियजी मेरे स्थान पर होते तो? तुलना यद्यपि असगत है फिर भी वे अकेले ही इस कार्य को निभाते! वेतन देकर एक टाइपिस्ट नियुक्त कर लेते! अन्य काम वे स्वयं करते। जिस पथ पर मैं चला, उस पर वे कभी न चलते!"

डॉ० राव का मन नागलक्ष्मी को बार-बार याद करता। "वह अब मैसूर में ही अपने बँगले से आधे मील की दूरी पर रहती है। मेरे साथ रहने, श्रद्धा-भक्ति से सेवा करने के लिए कितनी आतुर है! अब तक उसके प्रति किये गये मेरे अन्याय की ओर ध्यान न देकर, उसने स्वयं साथ रहने का प्रस्ताव किया था। वह पति तथा अपनी सौत रत्ने के लिए स्वादिष्ट भोजन तैयार करती थी, उसने हमारे स्वास्थ्य की देख-भाल करने की बात कही थी। उसमें निहित गृहणीत्व डॉ० राव को याद

आ रहा था। पति को अच्छी तरह खिलाये बिना वह नहीं मानती थी। उनके मना करने पर भी हर सप्ताह तेल मलती और स्नान कराती थी। कम पढ़ी-लिखी थी, किन्तु व्यक्तित्व-सम्पन्न थी। परिवार के सभी उसकी बात मानते थे। उसने कभी किसी पर अपना अधिकार जताने की चेष्टा नहीं की। उससे प्रभावित होकर हर एक ने उसकी श्रेष्ठता स्वीकार की। केवल स्नेह, विश्वास, सेवा से उसने यह शक्ति पाई है। हर व्यक्ति के साथ व्यवहार करते समय सदा उसका मातृत्व काम करता था। इसी ने उसके व्यक्तित्व में शक्ति भरी है।"

क्या इसी तरह अन्त तक उसे दूर रखना पड़ेगा? डॉ० राव का मन पत्नी के लिए सदा दुःखी रहता। जब वे बीमार पड़े थे, तब उससे यहीं रहने के लिए कहा था। वह इस प्रस्ताव से खिल उठी थी। जब तक अस्पताल में रहा, उससे आत्मीयता से बोलता रहा। पति की सेवा में हर क्षण अपने अंतःकरण को निछावर करती रही। घर आने के पश्चात् उनका मन फिर विद्या-जगत् की ओर मुड़ गया। उसके साथ वे अधिक नहीं बोलते थे। शायद रत्ने की उपस्थिति एवं उससे संबंधित सुप्त प्रज्ञा उसका एक कारण था—ऐसा वे अब भी सोच रहे हैं। तीनों के साथ रहने के लिए रत्ने तैयार नहीं थी। राज के बंगलूर रवाना होने से पहले, नागु ने डॉ० राव के चरण छुए तो उन्होंने उसे निहारा था। असंतोष उसके चेहर पर झलक रहा था। निराशा से उसकी आँखें भरी थीं, चेहरा मुरझा गया था। फिर भी चरण छूकर वह चली गई। वह मेरे लिए भी हृदय-विदारक घटना थी।

डॉ० राव का मन बार-बार सोचता—"इस द्वंद्व से मुक्ति पाने का उपाय क्या है? इन दो शक्तियों में से मैं किसे त्यागूँ, किसे अपनाऊँ? अध्ययन और ग्रंथ-निर्माण मेरे जीवन की साँस है। उसी तरह नागु की याद मेरी अंतरात्मा को जलानेवाली अग्नि है। इस साँस से वह अग्नि और भी अधिक प्रज्वलित हो जाती है। मैं इससे कैसे बच सकता हूँ? ग्रंथ-निर्माण, रत्ने—सबको छोड़कर क्या नागु के पास चला जाऊँ? रत्ने के लिए, जैसा कि वह कहती है, एक अलग घर बसाऊँ, या इस बँगले में रत्ने को छोड़ मैं नागु के साथ रहूँ? लेकिन ग्रंथ पूर्ण करने के लिए मेरा रत्ने के साथ रहना आवश्यक है। ग्रंथ-निर्माण ही छोड़ दिया जाय

तो ?"—ये विचार आते ही डॉ० राव को श्रोत्रियजी की एक बात याद आती—"अनिश्चित मार्ग पर चलने से जीवन में अनिवार्यतः द्वंद्व उत्पन्न होता है। लेकिन जिस मार्ग पर बढ चुके हैं उससे लौटने का प्रयत्न करने से द्वन्द्व दूना हो उठता है।" डॉ० राव का मन कह रहा था, श्रोत्रियजी की बात सच है। वे जानते थे कि ग्रंथ-रचना त्यागने या उसकी गति धीमी कर देने से मुझे शान्ति नहीं मिल सकेगी। अपनी देह-शक्ति का अनुभव होने पर उनका मन ग्रंथ को शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण करने के लिए छटपटाता था। उनकी अंतरात्मा में ध्वनि उठ रही थी कि मैं अधिक दिन जीवित नहीं रह सकूंगा। वे मरने से पहले प्रथम खण्ड किसी तरह पूर्ण करने का संकल्प कर चुके थे।

हर रोज उनकी मानसिक व्यथा बढ़ती जाती थी। शारीरिक शक्ति घटने लगी थी।

डॉ० राव को कोई बीमारी नहीं थी। लेकिन शारीरिक शक्ति और अध्ययन-क्षमता का ह्रास होता जा रहा था। खाने-पीने के प्रति भी रुचि घटती गई। दोपहर का भोजन पच नहीं पाता था, अत. भोजन में सिर्फ पाव-भर दूध लेने लगे। पढ़ने बैठते तो कई बार विषय समझ में न आता। नागलक्ष्मी की याद आती तो मन मूक हो जाता। कभी-कभी रत्ने, नागलक्ष्मी—दोनों उनके मानस-पटल पर अवतरित हो, उनके चित्त को विचलित कर देतीं।

उनके गिरे हुए स्वास्थ्य की ओर रत्ने का ध्यान गया। उन्हें डॉक्टर के पास ले गई। डॉक्टर ने जांच कर कहा—"कोई रोग नहीं है। लगता है हृदय-क्रिया में अन्तर आ गया है। लेकिन इससे कोई खतरा नहीं है। कई स्वस्थ लोगों को ऐसा होता है। हवा बदल दीजिए। आराम कीजिए। मैं टानिक और गोलियां लिख देता हूँ, उन्हें लेते रहें।"

हवा बदलने के लिए डॉ० राव तैयार नहीं हुए। उन्होंने कहा, "जल्द-से-जल्द ग्रंथ पूर्ण कर लेना चाहिए, हवा परिवर्तन या विश्रांति में समय नहीं बिताना चाहिए।" उनकी अन्तरात्मा कह रही थी कि वे

थोड़े ही दिनों के मेहमान हैं। पंचम खण्ड शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण करने का उनका संकल्प दृढ़ होता जा रहा था, लेकिन शारीरिक शक्ति जवाब दे रही थी। उनकी यह स्थिति देखकर रत्ने भयभीत थी। "डॉक्टर के आदेशानुसार क्यों नहीं चलते? यह कैसा अजीब हठ है?"—वह बड़-बड़ाई। उनके कारण उसने भी दो दिन दोपहर का भोजन त्याग दिया। उनका सदा निराशापूर्ण चेहरा देखकर, वह उनकी सुप्त चिंता का कारण खोजने लगी। एक दिन, रात्रि के भोजन के बाद दोनों टहलने निकले। टहलते-टहलते उसी स्थान पर पहुँच गये, जहाँ उन्होंने रत्ने से नागलक्ष्मी को साथ रखने का प्रस्ताव किया था। वे वहाँ अनजाने ही पहुँच गये थे। बैठते ही रत्ने को वह दिन स्मरण हो आया जब डॉ० राव ने नागलक्ष्मी के बारे में बात छेड़ी थी। उसने सोचा, शायद यही विचार उन्हें सता रहा है। इस स्थान के स्मरण से डॉ० राव का मन नागलक्ष्मी के बारे में सोचने लगा। रत्ने ने पूछा—"अवश्य ही कोई विचार आपको सता रहा है। आप मुझे क्यों नहीं बताते?"

"कैसा विचार? कुछ नहीं है।"

"मैं जानती हूँ, कहिए?"

सिर उठाकर डॉ० राव ने रत्ने का चेहरा देखा। दूर से पड़ रहे मंद-मंद प्रकाश में भी उसके चेहरे पर गांभीर्य दिखाई दिया। उन्होंने कहा—"तुम जानती हो तो मुझ से क्यों पूछ रही हो? समस्या तुम्हें मालूम है। निवारण भी तुम पर निर्भर है। मेरे हाथ में कुछ नहीं है।"

रत्ने चुप रही। मन मूक रहा। कोई भी विचार प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं कर रहा था। डॉ० राव बोले—"मेरी बीमारी में उसने काफी सेवा की। उस सेवा के पीछे केवल कर्त्तव्य-दृष्टि काम नहीं कर रही थी, बल्कि वह अपने समस्त संस्कार-युक्त श्रद्धा-भाव से एक हिन्दू पत्नी द्वारा की जानेवाली पूजा थी। उसे निर्लक्ष्य करके पछता रहा हूँ।" उसने कहा था, "जो हुआ, सो हुआ। अब भी सेवा करने का मौका दीजिए।" वह हम दोनों के लिए भोजन बनाने को तैयार थी। पत्नी होने के नाते वह एक सीढ़ी और ऊपर चढ़ गई है। मेरी धारणा है कि वह हम दोनों के लिए माँ के स्तर तक पहुँच गई है। मैंने जब तुमसे उसे अपने पास रखने के लिए पूछा तो तुम नहीं मानीं।"

इतना कहकर डॉ० राव चुप हो गये। रत्ने कुछ नहीं बोली—मौन बैठी रही। उनके बीच जो नीरवता छायी थी, उसे भंग करते हुए डॉ० राव ने कहा—"नंजनगुडु से लौटने के पहले दिन, रात्रि के भोजन के पश्चात् मैं श्रोत्रियजी के साथ बाहर गया था न ? नदी किनारे बैठ, हम लोगों ने यही बात की थी। अपने मन का दुखड़ा उन्हें सुनाया था। उन्होंने कहा था कि द्विपत्नी-पद्धति के प्रति जो तिरस्कार है, वह आधुनिकता का एक पहलू है और पूर्णतः गलत नहीं है। किन्तु प्रथम पत्नी के रहते वह विवाह के लिए तैयार हुई, तो किसी महान् ध्येय से ही ऐसा किया है। उसी ध्येय-साधना को संपूर्ण प्रमुखता देकर वह द्विपत्नी-पद्धति के प्रति अपने मन की तिरस्कार भावना कम कर सकती है। समाज के जीवन में व्यक्ति की हर पद्धति का एक विशिष्ट उपयोग रहता है, लेकिन अनिवार्य संदर्भों में उसी पद्धति को महत्व नहीं देना चाहिए। जीवन का मूल ध्येय स्पष्ट हो जाने पर, अन्य बातों को उसके अनुरूप ढाल लेना कठिन नहीं होता।"

डॉ० राव ने पुनः पूछा—"अब कहो, जीवन का मूल ध्येय पूर्णतः स्पष्ट हुआ या नहीं ?"

रत्ने कुछ नहीं बोली। दोनों पुनः मौन बैठे रहे। आध घण्टे के बाद उठते हुए डॉ० राव ने कहा—"चलो, चलेंगे।" अंधकार था। रत्ने उनका हाथ थामे चलने लगी। रात को नित्य की भाँति डॉ० राव अध्ययन कक्ष में पहुँचे। रत्न को टाइप करना था, इसलिए वह एक कमरे में टाइपराइटर के सामने बैठ गई। लेकिन उसका मन काम में नहीं लग रहा था। आधा पृष्ठ टाइप करने में उसने आठ गलतियाँ कीं। 'की-बोर्ड' से उँगलियाँ हटाकर वह चुपचाप बैठ गई। पति की बातें बार-बार याद आने लगीं। वह अपने-आप से पूछ रही थी—"मेरे जीवन का मूल ध्येय स्पष्ट हुआ या नहीं ?" अब दिन-प्रतिदिन क्षीण होती जा रही पति की काया की ओर उसका ध्यान चला गया। उसने भी यह महसूस किया कि पंचम खण्ड का कार्य अपेक्षाकृत धीरे हो रहा है। नागलक्ष्मी के गुण-स्वभाव के बारे में उसका मन सोचने लगा। उसकी नजर में नागलक्ष्मी बुरी नहीं है। एक महीने से अधिक जब वह यहाँ रही, तभी उसके जीवन-क्रम को बारीकी से परखा था। उसके

चेहरे पर विषाद छा गया। धर्मपत्नी होते हुए भी वह सदा नौकरानी की तरह रसोईघर में काम करती रही। "इसमें मेरा क्या दोष ?" "मेरी धारणा है कि वह हम दोनों को माँ के स्तर पर पहुँच गई है।" उसे डॉ० राव की बात स्मरण हो आई। रत्ने को लगा कि स्त्री-जीवन के विकास में नागलक्ष्मी सचमुच मुझ से अगली चोटी पार कर गई है। साथ ही पृथ्वी की भी याद आ गई।

रत्ने के मन में वैचारिक संघर्ष चल रहा था। विचारों से सम्बन्धित भावों की गति उससे भी तीव्र थी। नई मंजिल के पास पहुँच, हर्ष और अव्यक्त मनोव्यथा के साथ, एक सप्ताह बाद उसने अपने पति से कहा—"आप जाकर उन्हें भी ले आइए। तीनों साथ रहेंगे।"

इस प्रस्ताव पर डॉ० राव को तुरन्त विश्वास न हुआ। उन्होंने गौर से रत्ने का चेहरा देखा। उसकी आँखों से झलक रहे शान्त-गम्भीर भाव को देख उन्हें विश्वास हो गया।

एक बार जाग्रत आशा असफल होने पर नागलक्ष्मी का मन प्रक्षुब्ध हो उठा था। यदि अस्पताल में ही डॉ० राव उसे नकारात्मक उत्तर देते, तो उसकी आशा-रूपी लता अंकुरित ही न होती। अस्पताल में वे आत्मीयता से बोलते रहे। उससे पहले नागलक्ष्मी के मन में एक स्वाभिमान था। पति की सेवा, उनकी देखभाल के लिए तद्रूप रहे मन की शांति के लिए उसने उनके साथ रहने का प्रस्ताव किया था। अपने विवाह के बारह वर्ष बाद सौत के साथ रहना उसे भी पसन्द नहीं था, लेकिन पति-सेवा के निमित्त वह वैसा करने के लिए तैयार थी। अस्पताल से लौटने के पश्चात् पति ने उस बात का जिक्र भी नहीं किया; जिससे उसकी निराशा दूनी हो गई। उसे पूर्ण विश्वास था कि बंगलूर रवाना होने से पूर्व वे इस विषय पर अवश्य बात करेंगे। सोचा था, कम-से-कम राज से कहेंगे, 'नागु को यहीं छोड़ जाओ'। ऐसा नहीं हुआ तो अश्रु-पूरित नयनों से बँगले से निकल आना पड़ा।

बंगलूर लौटने के कुछ दिन बाद तक उसे जीवन व्यर्थ प्रतीत होने लगा था। उसे यह चिन्ता सता रही थी कि क्या यह जीवन इतना तुच्छ

है ? कुछ दिनों तक अपने खानपान में भी कोई नियम नहीं रखा। मैसूर में घटी इस घटना से राज और कात्यायनी को भी बुरा लगा। राज ने महसूस किया कि रत्ने के कुशल व्यवहार के कारण भाई ऐसा कर रहे हैं। लेकिन वह कुछ करने में असमर्थ था। अब भाभी के प्रति पहले की अपेक्षा अधिक ध्यान देने लगा। दीदी की मन:स्थिति को जानकर कात्यायनी का मन द्रवित हो उठा। खाने-पीने के प्रति उसकी उदासीनता देख कात्यायनी ने एक दिन कहा—"दीदी, 'रामनाम' लेखन की कापियाँ कितनी समाप्त कर दीं ?"

"मैंने गिनी नहीं।"

"मैसूर से लौटने के पश्चात् आपने शायद कुछ नहीं लिखा है ?"

"भगवान् का नाम लिखने से क्या होता है ? छोड़ दिया।" उसमें निराशा आ गई थी।

"अपने-अपने पूर्वार्जित कर्म के लिए भगवान् से क्यों नाराज होती हैं दीदी ? आपको मेरे यह बताने की क्या आवश्यकता है ? न जाने किस जन्म के धर्म-कर्म का फल इस जन्म में भोग रहे हैं। इस जन्म में भगवद्-नाम की ओर दुर्लक्ष्य करके अगले जन्म में कैसे भला होगा ? आप 'राम-नाम' लिखकर भक्तिपूर्वक पूजा करें तो आपके देवर के लिए भी अच्छा रहेगा। आप भविष्य में गृह-कार्य में कम और लिखने में अधिक समय व्यतीत कीजिए। पृथ्वी के कालेज से लौट आने पर स्याही तैयार कर दूँगी। कापियाँ कितनी बची हैं ?"

नागलक्ष्मी को इतने दिन भगवान् का नाम न लिखना उचित न लगा। अपनी इस गलती के लिए श्री राम से क्षमा-प्रार्थना की। दूसरे दिन से ही रामनाम लिखना प्रारंभ कर दिया। सुबह का भोजन तैयार करती। दोपहर को नाश्ता बनाती। "आप श्री रामनाम लिखिए" कहकर रात का भोजन कात्यायनी बनाती। कुछ दिनों में ही नागलक्ष्मी का मन नियन्त्रित हो गया। उसका मन उसे समझा रहा था, "भले ही कोई मुझे छोड़ दे, राम कभी नहीं छोड़ेगा।" उसने प्रार्थना की, "मैं चालीस पार कर चुकी हूँ। अब मुझे क्या होता है ? राज, कात्यायनी और पृथ्वी सुखी रहें और मैसूर में 'वे' भी स्वस्थ रहें।" मैसूर की घटना को भुला देने का प्रयत्न करती। अपने पति के प्रति अनजाने ही उसके मन में एक

कठोर भाव पल रहा था।

राज-कात्यायनी का मैसूर तबादला होने पर, नागलक्ष्मी वहाँ जाने के लिए उत्सुक नहीं थी। कात्यायनी में भी उत्साह न था। राज के लिए दोनों जगहों में कोई फर्क न था। पृथ्वी को बंगलूर भाता था। लेकिन कोई उपाय न था। सब मैसूर आ गये। पृथ्वी मैसूर में कालेज जाने लगा। मैसूर आने के चार दिन बाद ही नागलक्ष्मी का मन विचलित हो उठा। अस्पताल और बँगला उसके संतुलन को विचलित कर देते। लेकिन मनःस्थिति संतुलित कर वह लेखन-कार्य में लग गई। अब तक पैंतालीस लाख से भी अधिक 'रामनाम' लिख चुकी थी। एक सौ दस नोटबुकें भर गई थीं। जल्दी-से-जल्दी, मरने से पहले, एक करोड़ नाम लिखने के दृढ़ संकल्प से वह उसमें अधिक समय देने लगी। शनिवार की पूजा पहले की अपेक्षा अधिक व्यवस्थापूर्वक चलने लगी।

एक दिन दोपहर का एक बजे का समय था। घर के बरामदे में बैठकर लिखने में वह लीन थी। घर में और कोई न था। सब कालेज गये हुए थे। लगा कि किसी ने फाटक खोला है। उसने गर्दन उठाकर देखा। उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। डॉ० राव चले आ रहे थे। अप्रत्याशित यह बात समझने से पहले ही वे घर में प्रविष्ट हो चुके थे। नागलक्ष्मी की समझ में कुछ नहीं आया। तुरन्त लिखना रोक दिया। सारी चीजें वहीं छोड़कर, भीतर चली गई। डॉ० राव प्रांगण में आकर एक कुर्सी पर बैठ गये। नागलक्ष्मी का मन पूर्व घटनाओं को स्मरण कर दुःखी था। लगभग दस मिनट बैठने के बाद डॉ० राव ने आवाज दी—"नागु!" वह नहीं बोली। पुनः आवाज दी। भीतर से उत्तर न पाकर उन्होंने पुनः पूछा—"क्या मेरी आवाज सुनाई नहीं देती? तुम्हें ले जाने के लिए आया हूँ।"

अब भी वह नहीं बोली। डॉ० राव ने यही पुनः दुहराया। वह भीतर से बोली—"मैं यहाँ अपनी इस हालत में सुखी हूँ। मुझे ले जाने की जरूरत नहीं।"

"नागु, तुम ऐसा नाराजी में कह रही हो। तुम्हारे बंगलूर चले जाने के बाद से मैं बड़ा दुःखी हूँ—पछता रहा हूँ। अब रत्ने भी मान गई है।"

"किसी की स्वीकृति से मुझे वहाँ नहीं जाना है। मैं कहीं भी नहीं जाना चाहती।" उसकी ध्वनि में कंपन अनजाने ही बढ़ गया था।

"ऐसा मत कहो, नागु ? सोच-समझकर बोलो। मैं आ गया हूँ...।" बीच में ही उनकी बात काटकर बोली—"कोई भी आये। मैं सोच-समझकर ही बोल रही हूँ।"

डॉ० राव पांच मिनट बैठे रहे। नागलक्ष्मी बाहर नहीं आई। अंत में खड़े होकर उन्होंने कहा—"अच्छा नागु, मैं जाता हूँ। तुम सोचो। राज से भी कहता हूँ। चाहो तो रत्ने को ही भेज दूं।"

"राज सब जानता है। राज ही क्यों, किसी के भी कहने पर नहीं जाऊँगी। उससे कहने पर आपकी बात हलकी होगी। मुझे बुलाने के लिए आपकी पत्नी को आने की आवश्यकता नहीं। किसी के भी घर की चाकरी करूँगी तो दो जून का खाना मिल जायेगा। मेरी भी कोई इज्जत है। आप लौट जाइए।"

वे एक मिनट खड़े रहे फिर धीरे-धीरे बाहर आ गये। कम्पाउण्ड का फाटक बंद करने की आवाज जब नागलक्ष्मी के कानों में पड़ी, तो वह सिसक-सिसककर रो पड़ी।

आध घण्टे बाद कात्यायनी आई। उसने पूछा—"दीदी, लगता है आप रो रही थीं ?" नागलक्ष्मी ने इस बारे में कुछ नहीं बताया। 'रोने से क्या लाभ', धीरज बंधाकर, कात्यायनी चुप हो गई।

डॉ० राव सीधे पुस्तकालय गये। रत्ने ने पूछा—"क्या कहा उन्होंने ?"

"स्पष्ट कह दिया कि नहीं आती। इस उत्तर की मैंने कभी अपेक्षा नहीं की थी।"

"मैं जाऊँ क्या ?"

"नहीं, कोई लाभ नहीं !"

लगभग एक सप्ताह तक डॉ० राव का मन भयानक तूफान-सा उद्वेलित रहा। अब तक वे यही समझ रहे थे कि "नागलक्ष्मी पर अपने पतित्व का अधिकार है, लेकिन अब वह भाव छिन्न-भिन्न हो चुका है। किसी अमूल्य वस्तु को खोने-सा उन्हें प्रतीत होने लगा। विवाह से पहले जिस तरह अनाथालय का विद्यार्थी था, उसी तरह आज भी अनाथ हूँ।"

भाव उन्हें घेरे जा रहे थे। ऐसी असहायता, दुर्बलता का अनुभव इसके पहले कभी नहीं किया था। उनका मन कह रहा था, अपने जीवन में अब तक किये कार्य, प्राप्त यश एवं ज्ञान, असफल हो गये हैं।

डॉ० राव ने अधिक दिनों तक इन भावों को मन पर हावी नहीं होने दिया। पंचम खण्ड उन्हें याद आ रहा था। उनकी अंतरात्मा बार-बार पुकार उठती कि वे अब अधिक दिन जीनेवाले नहीं हैं। खण्ड पूर्ण करने के संकल्प को या[illegible] कर[illegible]र्वक एक [illegible]ने से बोले—"अब

चित्र आँखों के सामने आ जाता। पत्नी को खोकर भी, इस ढलती उम्र में पोते के लिए कैसा कर्तव्यनिष्ठ जीवन बिता रहे हैं! रत्ने की बात उसे याद आ रही थी—"सकल्प-शक्ति और कर्तव्य-ज्ञान उनके जीवन के पथ-प्रदर्शक हैं।" वह जानती थी कि "उनकी संकल्प-शक्ति अगाध है। जीवन के प्रति उनका विश्वास ही इतना गहरा था। हम अपने आपको अनन्य भाव से धर्म को सौंप दें, तो वह धर्म ही हमारा हाथ पकड़कर चलाता है—इस विश्वास में उन्होंने जीवन बिताया है। यह अनन्य भाव उनमें कर्तव्य-ज्ञान के रूप में प्रकट होता है। उनके जीवन में दो प्रवृत्तियों दो दृष्टियों, दो ध्येयों को कोई स्थान नहीं है। अपनी जीवन-दृष्टि के योग्य कर्त्तव्यों में लीन हो, चंचल प्रवृत्तियों को प्रबल प्रयत्नों से वश में कर, वे जीवन शक्ति की रक्षा कर लेते हैं। यही उनकी मनःशांति का रहस्य है।"—वह सोच रही थी।

अपने जीवन में ऐसी स्थिति आई थी तब उसने माना था—'प्रकृति चिर-चेतन, चिर-नूतन है, उसे धर्म में बांधना अधर्म है।' प्रकृति की क्षुद्र मूल शक्ति ने उसकी बुद्धि फेर दी थी। वह नहीं जानती थी कि बुद्धि भी प्रकृति का ही अंश है। अब वह सोचने लगी कि धर्म बुद्धि से श्रेष्ठ है, अपनी प्रवृत्तियां उस पर निछावर कर देनी चाहिए। 'एक वंश की अभिवृद्धि के लिए दूसरे वंश को दानकर, उस वंश का बीज अपने में धारण कर वृक्ष-रूप ग्रहण करना—क्या वह वंश अपने सार्थक्य को पाता है?' श्रोत्रियजी की बात उसे याद आ रही थी। नये वंश को अर्पित होकर श्रोत्रियजी के परिवार के प्रति जो कर्तव्य उसे करना चाहिए था, उसने वह नहीं किया—यह भाव उसे तड़पा रहा था। वह सोच रही थी, 'मरते समय सास और इस बुढ़ापे में ससुर की सेवा करके बेटे का पालन-पोषण करती तो मेरे जीवन में यह द्वन्द्व न उठता।'

गर्मी की छुट्टियों के पश्चात् कालेज खुला। विद्यार्थियों का प्रवेश पूरा न होने के कारण पढ़ाई प्रारंभ नहीं हुई थी। ज्येष्ठ मास की मूसलाधार वर्षा प्रारंभ हो गई थी। कात्यायनी छाता लेकर कालेज जाती। राज की अनुपस्थिति में जो नाटक संघ बंद हो गया था, उसका अब राज ने पुनरुद्धार किया। नाटक के रिहर्सल के लिए राज

साइकिल से जाया करता था। वर्षा की बूंदें गिरने पर कात्यायनी को नंजनगुडू का स्मरण हो आता। 'इसी समय कपिला भर आती है। सोलह वर्ष पहले इसी ऋतु में एक दिन उसका पहला पति नंजुंड श्रोत्रिय इस नदी में डूब गया था। ऐसा न होता तो उसके जीवन में यह द्वन्द्व ही न उठता'—वह इस विचार में वह जाती थी। पहले पति के स्मरण के साथ उसे चीनी की याद सताने लगती। साथ में श्रोत्रियजी का भी स्मरण हो आता। एक दिन नंजनगुडू जाकर चीनी को देखने और श्रोत्रियजी के चरण-स्पर्श करने का मन हुआ, जिससे मन को शांति मिले। लेकिन वहाँ जाने में उसे डर भी लगा। 'मैं जाऊँ तो क्या वे कठोर वचन नहीं बोलेंगे? क्या पश्चात्तापवश उनके चरण छूने पर वे सहानुभूति से मुझे आशीर्वाद देंगे? क्या चीनी को देख सकूँगी? कुछ दिनों के अन्तर से वहाँ जाती रहती तो मन को सान्त्वना मिलती रहती।' इन्हीं विचारों में उसने तीन-चार दिन बिता दिये। लेकिन जाने का साहस न कर सकी। कालेज में नियमित रूप से पढ़ाई प्रारंभ होने वाली थी। इस विचार से कि अब पढ़ाई की तैयारी करने और पढ़ाने से दिल बहल जायेगा, मन की व्याकुलता घटेगी। पहले दिन का कोर्स तैयार करके वह कालेज गई। वहाँ पता लगा कि कालेज के एक भूतपूर्व प्राध्यापक की मृत्यु हो गई है, अतः उन्हें श्रद्धांजलि देने के लिए आज कालेज बंद रहेगा। विद्यार्थी अपने-अपने घर लौटने लगे थे। प्राध्यापकों के कक्ष में कोई न था। बाहर पानी बरस रहा था। कात्यायनी वहीं बैठ गई। उसका अन्तःकरण आज नंजनगुडू जाने के लिए करता। उसका चित्त इतना व्यग्र हो उठा कि वह महसूस करने लगी कि अगर आज नंजनगुडू नहीं गई तो अवश्य पागल हो जाऊँगी। बिना अधिक सोचे उठी। अपनी किताबें एवं नोटबुक अलमारी में रखीं और बाहर निकल पड़ी। पानी अब भी बरस रहा था। वह छाता खोल सीधे चामराजपुर स्टेशन की ओर चल पड़ी। नंजनगुडू लौटनेवाली बड़ी-सी छात्र-सेना भी वहाँ उपस्थित थी। आध घण्टे बाद ट्रेन आई। कात्यायनी महिलाओं के डिब्बे में जा बैठी।

ट्रेन यात्रा में उसे अपना विद्यार्थी-जीवन याद आने लगा। दो वर्ष तक वह इसी गाड़ी से आती-जाती थी। इसी मौसम में उसका मन

दूसरे के प्रति आसक्त हुआ था। दक्षिण मैसूर स्टेशन पार करने के बाद चामुंडी पहाड़ी पर उसकी दृष्टि पड़ी। वह दिन स्मरण हो आया जब वह अकेली इसके शिखर पर पहुँची थी। सोचने लगी, 'उस दिन पहाड़ी की चोटी पर बैठकर जो संकल्प किया था, यदि उसी के अनुसार चलती होती तो आज यह नौबत न आती। पहाड़ी के साथ-साथ श्रोत्रियजी का चित्र भी आँखों मे समाने लगा। स्टेशनों को पार करती जा रही ट्रेन कपिला नदी के पुल से गुजर रही थी। खिड़की से पूरी नदी उसने देखी। उसी गंभीरता से नदी बह रही थी। दोनों किनारे के वृक्ष खड़े थे। दूर से दिखाई दे रहे मंदिर, स्नान-घाट अपनी उम्र की दुहाई दे रहे थे। चार मिनट मे नंजनगुड़ पहुँची। ट्रेन मे उतरी तो कात्यायनी का हृदय काँपने लगा। विद्यार्थी और यात्री स्टेशन से चले गये थे, किन्तु वह वही खड़ी रही। स्टेशन से बाहर जाने की हिम्मत ही नहीं हो रही थी। लगभग पंद्रह मिनट तक इसी अनिर्णय में गोते खाती रही कि टिकट कलेक्टर ने आकर टिकट माँगा। टिकट देकर बाहर आई। आगे बढ़ते हुए वह डर रही थी कि रास्ते मे कोई परिचित न मिल जाय। वर्षा के कारण रास्ते मे कोई नही था। सीधे जाकर घर के सामने खड़ी हो गई, जो कभी उसका था।

द्वार बंद था, किन्तु ताला नही लगा था। वह समझ गयी कि वर्षा के दिनो मे द्वार बंद रखा जाता है। सीढियों पर पड़ी छाप से लग रहा था कि कोई अभी-अभी बूट पहने बाहर से भीतर गया है। इच्छा हुई कि द्वार खोलकर भीतर जाऊँ। लेकिन अन्तस् से निकल रहे अधैर्य के धूएँ ने उसे घेर लिया। सारा शरीर काँपने लगा। वह देख रही थी कि उसके हाथ-पैर जोर-जोर से काँप रहे हैं। वर्षा और ठिठुरा देनेवाली ठंड मे भी उसका सारा शरीर एकबारगी पसीने से तर हो गया। उसमे अव्यक्त भय समा गया था। सोचने का प्रयत्न किया कि ऐसा क्यो? लेकिन बुद्धि निष्क्रिय हो चुकी थी। दरवाजे पर दस्तक देने के लिए हाथ उठाना चाहा, लेकिन असफल रही। इतने में भीतर से किसी के बोलने की आवाज सुनाई दी। सोचा, कोई न कोई बाहर आयेगा तो द्वार खोलेगा और मुझे देखेगा। भय से वह स्तंभित हो गयी और अनजाने ही लौट पड़ी। कदम रास्ते पर पड़ रहे थे। वर्षा

में छाता खोलना भी भूल गयी थी। वह वापस लौट रही थी। स्टेशन पहुँचने पर ही उसे होश आया।

प्लेटफार्म पर एक मालगाड़ी खड़ी थी। सामने से जा रहे एक कुली से पूछा—"मैसूर की गाड़ी कितने बजे आयेगी ?" उत्तर मिला—"इस मालगाड़ी में एक पैसेंजर-कैरिज लगा है, बैठ जाइये।

टिकट लिया, मालगाड़ी के पीछे लगी उस बोगी में बैठ गयी। कुछ ग्रामीणों के अलावा अधिक यात्री नहीं थे। गाड़ी वहाँ से चली। नदी के पुल को पार करने तक कात्यायनी का शरीर काँपता रहा।

दूसरे दिन भी वर्षा हो रही थी। पहले दिन रात-भर नींद न आई। आज भी वह खोयी-खोयी-सी रही। उसे साढ़े दस बजे जूनियर इंटर-मीडिएट कक्षा में पहला पाठ लेना था। कक्षा में उसके प्रविष्ट होते ही विद्यार्थी खड़े हो गये। उन्हे भी कालेज की पढ़ाई का यह प्रथम अनुभव था। कुर्सी पर बैठकर कात्यायनी उपस्थिति लेने लगी। लगभग १२० विद्यार्थियों के नाम पुकारकर अन्यों के नाम की ओर न देख, उपस्थिति का चिह्न लगा दिया। कक्षा की खिड़की से चामुंड़ी पहाड़ी दीख रही थी। कल की तरह ही आज भी उसकी चोटी बादलों से आवृत है। फिर भी वह गांभीर्य लिये घने रूप में खड़ी थी। उसमें पल रहे हरे वृक्ष, बादलों के कुहरे से काले प्रतीत हो रहे थे। रंग पहाड़ी को गंभीर रूप प्रदान कर रहा था। उपस्थिति रजिस्टर मेज पर रख, पहाड़ी को देखती रही। पढ़ाने की ओर उसका ध्यान ही नहीं गया। पाँच मिनट चुपचाप बैठे रहने के बाद विद्यार्थी अब धीरे-धीरे फुसफुसाने लगे। दो मिनट बाद उनकी आवाज तेज होने लगी। उसने अपनी दृष्टि पहाड़ी से हटा, खड़े होकर कहा—"मेंटेन साइलेंस प्लीज।"

विद्यार्थी चुप हो गये। इस वर्ष जो काव्य पढ़ाना था, वह पढ़ाना प्रारंभ करने ही वाली थी कि द्वार से एक विद्यार्थी ने पूछा—"मे आई कम इन ?" (क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ ?)

"कम इन" (आइये) कहकर द्वार की ओर घूमकर देखा। उसका चेहरा गंभीर था। आँखें उसी लड़के पर अटकी रहीं। विशाल चेहरा,

बड़ी-बड़ी आँखें, लंबी नाक, ऊँचा शरीर, सँवरे बाल, भाल पर अक्षत का टीका। कमीज पेंट के अन्दर और पैरों में जूते थे। हाथ में भीगा छाता। उसके ढंग से पता लगता था कि वह उन कपड़ों को पहनने का अभ्यस्त नहीं है। श्रोत्रियजी-सा ही गठा शरीर, ऊँचाई और मुखमुद्रा। 'मेरे पहले पति भी लगभग ऐसे ही थे।'—कात्यायनी ने सोचा।

लड़का दीवार के पास से चलकर पीछे वाली एक खाली बेंच पर बैठ गया। कात्यायनी की आँखें उसे ही देख रही थीं। इतने में विद्यार्थियों ने पुनः फुसफुसाना शुरू किया। पुस्तक खोलकर उसने पढ़ाना प्रारंभ किया। वह दो वाक्य भी बोल न पाई थी कि उसी लड़के के पास के विद्यार्थी ने उससे कुछ कहा। उसने खड़े होकर कहा—"मैडम, मेरी उपस्थिति ?"

कात्यायनी का ध्यान पुनः उसकी ओर चला गया। उसे देखते हुए मेज पर रखा उपस्थिति रजिस्टर उठाकर पूछा—"यूअर नेम प्लीज ?" (आपका नाम ?)

"एन० श्रीनिवास श्रोत्रिय।"

कात्यायनी का हाथ धीरे-धीरे काँपने लगा। चेहरे पर पसीना छूटने लगा। माथे पर पसीने की छोटी-छोटी बूँदें दीख पड़ने लगीं। खड़े होने में असमर्थ था, वह बैठ गयी। सब नामों के सामने उसने उपस्थिति लगा दी। अपने अनियंत्रित स्वर को नियंत्रित कर उसने पुनः पढ़ाना शुरू किया। लेकिन क्या कहना चाहिए, भूल गयी। कुछ सूझ नहीं रहा था, दिमाग शून्य हो गया था। अट-शट बोलने की अपेक्षा न पढ़ाना ही उचित समझ, विद्यार्थियों से चुपचाप बाहर जाने के लिए कह दिया और प्रथम बेंच के विद्यार्थियों के बाहर जाने से पहले वह स्वयं द्वार के पास आकर खड़ी हो गयी। उस कमरे में एक ही द्वार था। एक-एक कर विद्यार्थी बाहर जा रहे थे। वह इस विश्वास से वहाँ खड़ी थी कि 'अंतिम बेंच पर बैठा चीनी मेरे पास आयेगा—मुझ से बोलेगा, मैं उसे पहचानती हूँ। वह जानता ही है कि मैं कौन हूँ।' इस विश्वास का कोई कारण नहीं था। मन ने कारण जानने का प्रयत्न भी नहीं किया। आधे से भी अधिक विद्यार्थी बाहर जा चुके थे। वह पीछे से आ रहा था। पास के विद्यार्थी से कुछ बोला। 'अब क्या वह आ ही

गया ! मुझ से अवश्य बात करेगा ! वही चेहरा ! बचपन में भी उसकी मुखमुद्रा ऐसी ही थी !' वह पास आ ही गया। लेकिन अध्यापिका को वहाँ खड़े पाकर, सिर झुकाकर बायें हाथ की पुस्तकों को हाईस्कूल के विद्यार्थियों की तरह छाती से सटाकर दरवाजे से बाहर निकल गया। उसने कात्यायनी से बात नहीं की। उसे बड़ी निराशा और असह्य वेदना हुई।

धीरे-धीरे चलकर वह प्राध्यापकों के कमरे में बैठ गयी। एक कागज लेकर लिखने लगी कि 'दोपहर का पाठ मैं नहीं ले सकूँगी।' उसे चपरासी को देकर नोटिस बोर्ड पर लगाने का आदेश दिया और घर चल दी। इस बात का उसे असह्य दुःख हो रहा था कि उसने अपनी माँ को नहीं पहचाना। लेकिन शाम तक वह अपने मन को समझाने में समर्थ हो गयी। 'मैं जान गयी कि वह कौन है। लेकिन वह कैसे जान सकता है कि मैं कौन हूँ ? यद्यपि रत्ने ने कहा था कि वह माँ के बारे में जानता है, फिर भी उसे क्या मालूम कि मैं ही उसकी माँ हूँ ? आज कालेज का प्रथम दिन और पहली पढ़ाई थी। मेरा नाम उसे शायद ही मालूम हो ! नाम जानने पर अपने-आप मुझे पहचानेगा'—आदि सोचकर मन को सान्त्वना दी और रात वितायी। दूसरे दिन उसे वह कक्षा नहीं लेनी थी। उसके अगले दिन फिर साढ़े दस बजे कक्षा लेनी थी।

अगले दिन उपस्थिति रजिस्टर लिये कक्षा में प्रवेश करने से पहले ही सब विद्यार्थी आ चुके थे। कुर्सी के समीप जाते ही उसने अंतिम बेंच की ओर नजर दौड़ाई। चीनी आ चुका था। उसी बेंच पर बैठा था। उसने भी कात्यायनी की ओर देखा। क्या वह मुझे पहचानता है ? उसमें यह आशा जागी कि आज पढ़ाई पूरी होने के पश्चात् वह आकर मुझ से बोलेगा। उपस्थिति लेते समय बिना भूले चीनी का नाम पुकारा। उसके खड़े होकर 'प्रेजेन्ट मैडम' कहते समय उसका मुख देखने लगी। पुस्तक खोली, पढ़ाई शुरू की। बीच-बीच में चीनी को ध्यान से देखती जाती। लेकिन उसका ध्यान पुस्तक की ओर ही था। पैन से नये शब्दों के अर्थ लिख रहा था। कात्यायनी किसी तरह पढ़ा रही थी। विद्यार्थी भी निःशब्द हो सुन रहे थे। घंटी बजी। कात्यायनी

पुस्तक बंद कर, उत्सुकतापूर्वक कक्षा के द्वार के बाहर आकर खड़ी हो गयी। एक और पीरियड होने के कारण कोई विद्यार्थी बाहर नहीं निकला। चीनी भी नहीं निकला। इस आशा से पाँच मिनट तक वहीं प्रतीक्षा करती रही कि चीनी उससे मिलने आयेगा। पढ़ाने के लिए दूसरे अध्यापक को दूर से आते देख, वह वहाँ से चल दी।

शंका हुई कि क्या वह उसे पहचानता है ? उन्हें पढ़ानेवाले अध्यापक-अध्यापिकाओं के नाम विद्यार्थी पहले ही दिन जान लेते हैं। वह मेरा नाम जानता होगा ! अपनी माँ का नाम, और अब वह क्या कर रही है, इस विषय में क्या वह कुछ भी नहीं जानता ?—कात्यायनी के मन में अनेक प्रश्न उठ रहे थे। 'यदि केवल दादा के साथ ही रहता तो इस विषय में शायद कुछ न भी जानता, लेकिन मरने से पहले दादा ने पूरी कहानी कह डाली होगी। लक्ष्मी ने भी इस बारे में कुछ तो अवश्य कहा होगा।'—उसने तर्क किया। यह प्रश्न भी उठा कि 'क्या वह मुझे, मेरी पहचान को अस्वीकार कर रहा है?' तब उसे लगा मानों कोई त्रिशूल से उसकी कोख बेध रहा हो। मन को यह सान्त्वना देकर कि उसने इतने दिन बिताये, अब विषय को पूर्ण जाने बिना दुःख करना उचित नहीं। उस दिन उसे दोपहर के तीन बजे यही कक्षा लेनी थी। कक्षा में जाकर उसने पढ़ाना शुरू किया। घंटी के बाद बाहर आकर खड़ी हो गयी। रोज की तरह सब विद्यार्थियों के निकलने के बाद वह आ रहा था। यह जानते हुए भी कि अध्यापिका वहाँ खड़ी है, वह बिना देखे जाने लगा ! कात्यायनी ने उसे आवाज दी—"श्रीनिवास!"

वह रुक गया। अन्य विद्यार्थी बढ़ गये। उसका साथी दस गज दूर जाकर खड़ा हो गया था। कात्यायनी ने उसे देखकर कहा—"तुम जाओ, वह बाद में आयेगा।" वह चीनी की ओर देखता हुआ चला गया।

श्रीनिवास श्रोत्रिय सिर झुकाये खड़ा था। यह देखकर कात्यायनी ने पूछा —"किस गाँव के हो ?"

"नंजनगुड्, मैडम !"

"तुम्हें रोज आना-जाना पड़ता है न ?"

"जी हाँ !"

"रेल से ?"

"जी हाँ !"

वह सिर झुकाये बोल रहा था। उसके पास सरककर कात्यायनी ने कहा—"चलो, आज हमारे घर चलो।"

उसने कोई उत्तर नहीं दिया। पुनः चलने के लिए कहा तो वह बोला—"ट्रेन का समय हो रहा है, मैडम।"

"ट्रेन साढ़े पाँच बजे की है न ? अभी तो चार बजे हैं।"

लड़का क्षण-भर निरुत्तर खड़े रहने के बाद "नहीं मैडम, मुझे देर हो रही है" कहकर, उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना संयत कदम बढ़ाते हुए चला गया। कात्यायनी को विश्वास हो गया कि वह मेरे बारे में जानता है। यह सोचकर कि अध्यापिका के घर बुलाने पर उसे ठुकराना और उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही यों चले जाना, उद्दंडता का द्योतक है, उसे क्रोध आ गया। लेकिन अध्यापिका की दृष्टि से उसके व्यवहार को देखकर कुछ निर्णय न कर सकी। उसके मन में यह भी शंका उठी कि लड़के के व्यवहार का निर्णय लेने के बदले वही मेरे पूर्व व्यवहार को याद कर, अपने उस व्यवहार से उसे पर्याय रूप में मेरे सम्मुख प्रकट करना तो नहीं चाहता ? उसका चित्त व्यग्र हो उठा। उसे महसूस हुआ कि उसके नीच अस्तित्व को स्वयं उसकी आत्मा धिक्कार रही है। उपस्थिति रजिस्टर और पाठ्य-पुस्तकें लिये वह धीरे-धीरे नीचे उतरी। स्टाफ-रूम में गयी। उपस्थिति रजिस्टर मेज पर रखा और छाता लेकर वर्षा में ही घर चल पड़ी।

दिन-भर कात्यायनी का मन व्यथित रहा। उसकी अंतरात्मा कह रही थी कि 'चीनी यह अवश्य जानता है कि मैं उसकी माँ हूँ। अगर मेरे बुलाने पर चीनी पास आकर मुझ से पूछता कि मैंने ऐसा क्यों किया, तो मैं क्या उत्तर देती ? निर्लज्ज होकर उस संदर्भ का विवरण देकर शायद समझाती कि मुझे ऐसा क्यों करना पड़ा ? उससे शायद क्षमा माँग लेती ? सम्मुख खड़े होकर गालियाँ देता, धिक्कारता, तो चुपचाप सह लेती ! लेकिन उससे संबंध और परिचय को मानो अपने लिए अपमानजनक समझ, मुझसे दूर भागता प्रतीत होता है।' वह सोच रही थी—'क्या यह प्रतिकार की भावना है या पूर्व योजित म

से दी जा रही सजा है ?' शाम को राज के घर आने पर भी उसके मन में यही विचार चल रहे थे। सन्ध्या को सिरदर्द होने लगा। रात्रि को भोजन करते समय राज ने इसका अनुभव किया। पूरबी दूकान से सिरदर्द की गोलियाँ लाया। आज राज की आँख जल्दी लग गयी। कात्यायनी करवटें बदलती रही। उसे लगा मानो चीनी उसे धिक्कार रहा है, घूर-घूरकर देख रहा है। आधी रात को उसकी आँख लगी। उसने एक स्वप्न देखा—"नहीं मैडम, मुझे देर हो रही है" कहकर और उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना उसके चले जाने का चित्र कात्यायनी की आँखों के सामने बार-बार आ रहा है। वह जाग उठी। सारा शरीर पसीना-पसीना हो गया। शरीर भार-सा प्रतीत होने लगा। इन विचारों से बचने का कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। उसी पलंग पर सोये राज की ओर करवट लेकर उसका आलिंगन किया। उसे लगा कि एक तरह का संरक्षण मिला। कसकर आलिंगन कर उसे अपने पास खींच लिया। राज जाग उठा। उसके ललाट पर हाथ रखा। "अरे तुम्हें तो बुखार है, पसीने से सारा शरीर तर हो गया है!"—वह उठ बैठा। उसे रोना आ गया। पति की गोद में सिर रखकर वह सिसक पड़ी। वह कुछ समझ न पाया। बार-बार पूछने पर भी कात्यायनी ने कारण नहीं बताया।

कात्यायनी एक सप्ताह बुखार से छटपटाती रही। बीमारी से मुक्त होकर कालेज जाने लगी। कुर्सी पर बैठे-बैठे ही मन्द ध्वनि में पढ़ाती। श्रीनिवास श्रीप्रिय कालेज आता था। उसी बेंच पर बैठता था। मन काबू में रखने का पूरा प्रयास किया, किन्तु असमर्थ रही। वह बार-बार उसे देखती। चीनी तो सिर झुकाये पुस्तक की ओर नजर रखता। बीच-बीच में नये शब्दों के अर्थ लिख लेता। 'वह मुझे नहीं पहचानता' यही सोचकर कात्यायनी अपने मन को समझाती रही। उसने निश्चय किया कि एक दिन पुन. चीनी को बुलाकर अपना परिचय दूँ।

एक दिन साढ़े दस बजे चीनी का पीरियड था। स्टाफ रूम में दस पैंतीस पर कात्यायनी ने चपरासी को बुलाकर कहा—"जूनियर इंटर

साइन्स, 'डी' सैक्शन में एन० श्रीनिवास श्रोत्रिय नाम का एक विद्यार्थी है, उससे कहो कि मैंने बुलाया है। साथ ही विद्यार्थियों से कहो कि मैं आज कक्षा नहीं लूंगी।"

पाँच मिनट में चपरासी लौट आया। उसके पीछे श्रीनिवास श्रोत्रिय था। उसकी बाईं कलाई में घड़ी और हाथ में किताबें तथा दाहिने हाथ में छाता था। उसके आने पर कात्यायनी खड़े होकर बोली—"आज गाड़ी के लिए देर नहीं होगी, चलो हमारे घर, बेटा! मेरे निमंत्रण को तुम्हें ठुकराना नहीं चाहिए।"

कोई जवाब दिये बिना लडका मेज की ओर देखता रहा। उसे बोलने का मौका न देकर कात्यायनी उसका हाथ पकड़कर बोली—"चलो, घर चलें।" उसने अनुसरण किया। उस दिन वर्षा नहीं हो रही थी। कात्यायनी आगे-आगे चल रही थी और पीछे-पीछे चीनी। कालेज कैंपस से निकलकर रामस्वामी चौक से आगे बढ़े तो उसकी ओर देखकर बोली—"साथ-साथ चलो। संकोच से मेरे पीछे-पीछे क्यों चलते हो!" और खुद चीनी के साथ चलने लगी। उस दिन जूतों के बदले खड़ाऊँ पहन रखी थीं। जूते के काटने से घाव दिखाई दे रहा था। रास्ते में उसे सूझा नहीं कि क्या बोलना चाहिए। चीनी तो कर्त्तव्य-निष्ठ विद्यार्थी-सा साथ चल रहा था।

घर में नागलक्ष्मी अकेली थी और रसोईघर में रामनाम लिखने में मग्न थी। राज और पृथ्वी कालेज गये हुए थे। नागलक्ष्मी ने कभी-कभी राज या कात्यायनी के विद्यार्थियों को घर आते देखा था, इसलिए बिना सिर उठाये वह रामनाम लिखने में लगी रही। भीतर से एक प्लेट में दही-भात, एक लोटा पानी और एक लोटा दूध लेकर कात्यायनी आई। उन्हें मेज पर रख, चीनी को पास बुलाया। खड़ाऊँ बाहर दरवाजे के पास छोड़कर वह कमरे में कात्यायनी की बतायी कुर्सी पर बैठ गया। उसका मुख संकोच व संभ्रातिवश लाल हो उठा था। परिस्थितिवश अनभिज्ञ भाव से दृष्टि झुकाये रहने पर भी लगता था कि वह कुछ सोच रहा है।

"यह लो खाओ" कहकर कमरे का द्वार बंद कर, कात्यायनी उसके सामने वाली कुर्सी पर बैठ गयी।

"नहीं मैडम, मेरा भोजन हो चुका है।"

"यह भोजन नहीं है। थोड़ा-सा सा: लो। गुरु की दी हुई चीज को अस्वीकार नहीकरना चाहिए।

प्लेट को स्पर्श किये बिना वह बोला—"यह मेरे लिए अधिक है।"

"जितना खा सकते हो, उतना ही खाओ।"

उसने प्लेट उठाई और चम्मच एक तरफ रख हाथ से खाने लगा।

कात्यायनी ने पूछा—"घर नजनगुड़ू में बताया था न ?"

"जी हाँ।"

"तुम्हारे पिताजी का नाम क्या है ?"

"नंजुड श्रोत्रिय।"

"माता-पिता हैं ?"

"जी नहीं।"

"दोनों नहीं हैं ?"

"नहीं।" वह सिर झुकाये ही उत्तर दे रहा था। वास्तव में दही-भात उसे नहीं चाहिए था। यह समझ कात्यायनी बोली—"ज्यादा हो तो प्लेट छोड़ दो और उसी में हाथ धो लो।" प्लेट नीचे जमीन पर रख, पानी का लोटा उठाया और खिड़की के सीकचों के बाहर हाथ बढ़ाकर धोया। आकर फिर कुर्सी पर बैठ गया। कात्यायनी पूछने लगी—"तुम्हारी देखभाल कौन करता है ?"

"मेरे दादा।"

"क्या नाम है उनका ?"

"श्रीनिवास श्रोत्रिय।"

"अकेले तुम्हारी देखभाल में तुम्हारे दादा को कष्ट होता होगा ?" चीनी ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। पुनः बात करने का कोई उपाय न सूझा। पाँच मिनट तक कुछ सोचने के बाद कात्यायनी ने कहा—"हमारे एक संबंधी नजनगुड़ू से अच्छे परिचित हैं। उन्होंने बताया था कि तुम छोटे बच्चे थे तभी तुम्हारे पिता नदी में डूबकर स्वर्गवासी हो गये और तुम्हारी माँ जिंदा हैं।"

चीनी कुछ न बोला। नजर नीचे जमीन में गड़ाये रहा। "है न ?" कात्यायनी ने पूछा। "मैं नहीं जानता।" उसका उत्तर था। फिर पाँच

"कुछ नहीं, पहले की घटना है।"

राज को वे दिन याद आये जब तीन बार गर्भपात के कारण पत्नी बीमार हो गयी थी। इससे उसे दुःख हुआ। "उसे याद करके क्या मिलने वाला है?" पति ने सान्त्वना दी। उस रात कात्यायनी को बुखार आ गया। उसके पास बैठकर राज ने देखभाल की थी। इंजेक्शन दिलाया था। नागलक्ष्मी धीरज बँधा रही थी। तीसरे दिन उसका बुखार उतर गया। चौथे दिन तांगे में बैठकर कालेज तो गयी, लेकिन पढ़ा न सकी। और दो-तीन दिन के बाद नियमित रूप से पढ़ाई प्रारम्भ की। चीनी की कक्षा में जाते समय उसे महान् पराजय का अनुभव होता था। चीनी की ओर न देखने का निश्चय कर वह कक्षा में गयी थी। उसकी इच्छा को तिरोहित कर मन का वेग बह रहा था। निर्बाध रूप से आँखें अंतिम बेंच की ओर चली गयीं। वह वहाँ नहीं था। उसने सारी कक्षा में नजर घुमायी। चीनी का पता न था। उपस्थिति लेते समय जान-बूझकर उसका नाम पुकारा। लेकिन कोई उत्तर नहीं मिला। वह घबरा गयी। दिल धड़कने लगा। दो सप्ताह इसी तरह बीत गये। वह कक्षा में नहीं आ रहा था। एक दिन कालेज के कार्यालय में पूछताछ की। रजिस्टर देखकर संबंधित क्लर्क ने बताया कि एल० श्रीनिवास श्रोत्रिय ने ट्रांसफर सर्टिफिकेट ले लिया है। चार दिन हो गये। उसने इस सत्र की फीस भर दी है।

कात्यायनी समझ गयी कि यह मेरे प्रति उसका तिरस्कार है। उसने सोचा—'यहाँ से वह किस कालेज में गया होगा? पता लगाना कठिन नहीं है। लेकिन उस लोहे को ढूंढ़ने से क्या फायदा, जो झुकता नहीं!' यह सोचकर उसने अपने मनोभाव को स्पष्ट तो कर लिया, उसे ढूंढ़ने का विचार तो त्याग दिया, लेकिन उसके ऐसे बरताव को सहने की शक्ति कात्यायनी में नहीं थी।

चीनी अपनी मां के बारे में न जानता हो, ऐसी बात नहीं थी। जब वह माध्यमिक शाला में पढ़ रहा था, तभी उसके कुछ सहपाठी उसे चिढ़ाते थे। उन सहपाठियों ने घर में अपने माता-पिता के मुँह से

सुना था। दादी के जीवनकाल मे चीनी ने उससे एक दिन प्रश्न किया था, तब मुख्यांश बताया था—"इस बारे में नही बोलना चाहिए, बेटे! तेरे दादा को यह नही भाता। हर व्यक्ति का पाप-पुण्य अपने-अपने साथ रहता है।" लोगो द्वारा यह बात भी दादी के कानों में पड़ी थी कि कात्यायनी बंगलूर के कालेज मे अध्यापिका है। यह बात चीनी भी जान गया था। वह माँ के नये पति का नाम भी जानता था। दादी की मृत्यु के पश्चात् इस बात को कभी चर्चा नही हुई। दादा इस विषय मे कभी कुछ नही बोले। यह जानकर कि दादा को यह नही रुचता, उसने नही पूछा। लक्ष्मी भी श्रोत्रियजी की राय के कारण मौन रहती थी। इस विषय मे तीनों मे कभी बात नही हुई, मानो उसमे उनका कोई संबंध न हो। पौत्र की धार्मिक शिक्षा दादा के मार्ग-दर्शन मे चल रही थी। वे वेद-उपनिषद् पढ़ाते, उनका अर्थ बताते। वे धर्म-कर्म, कर्त्तव्य, मानव जीवन का उद्देश्य आदि विषयों पर भी भाषण देते। सारे विषय उसकी समझ मे पूरी तरह नही आते थे, तो भी दादा के जीवन के प्रति उसमे भययुक्त भक्ति निहित थी। इस उम्र मे भी उनकी कर्त्तव्यनिष्ठा, पास-पडोसी से प्राप्त पूज्य भाव मिश्रित गौरव, स्वयं भोजन बनाना आदि विषयो से बालक काफी प्रभावित हुआ था। सप्ताह मे एक बार तेल मलकर लक्ष्मी उसे स्नान कराती थी। स्नान के पश्चात् उसके ललाट पर काला टीका लगाकर कहती—"मुन्ने, पहले यज्ञेश्वरको नमस्कार करो, फिर दादा के पैर छूओ।" यदि वह पूछता, "तुम्हे ?" तो वह कहती—"श्रीनप्पा को नमस्कार करना ही मानो समस्त देवताओ को नमस्कार करना है। मुझे कभी नमस्कार न करना।" वह दादा के व्यक्तित्व से पूर्णतः प्रभावित हो चुका था।

जिस दिन कालेज मे पढ़ाई शुरू होने वाली थी, उससे पहले दिन ही आया था। इस बात का पता लगने पर कि उस दिन छुट्टी है, वह साथियो के साथ नंजनगुड़ लौट गया था। उसका हाईस्कूल का सहपाठी वकील वेंकटराव का पुत्र चक्रपाणि, अब भी उसका सहपाठी था। वे दोनो एक ही 'डिवीजन' मे थे। दूसरे दिन चक्रपाणि सुबह की रेल से कालेज आया था और चीनी के दस बजे की गाडी से आने के कारण पीछे की बेंच

पर उसने जगह रखी थी। कात्यायनी के पीरियड के समय पहुँचने पर चीनी सीधा चक्रपाणि के पास जाकर बैठ गया था। उसके पश्चात् मैडम की कक्षा देखकर उसे विस्मय हुआ था। महिला-अध्यापकों के अध्यापन का ढंग जानने के कुतूहल में कुछ देर अध्यापिका को देखता रहा। फिर पढ़ाई की ओर ध्यान देने लगा था। पीरियड के पश्चात् विद्यार्थियों को प्रयोगशाला में जाना था। वे वहाँ गये लेकिन उस दिन वहाँ किसी ने पीरियड नहीं लिया। विद्यार्थियों के बाहर आने के पश्चात् चक्रपाणि ने चीनी से पूछा—"अंग्रेजी की मैडम का नाम जानते हो?"

"नहीं तो? क्या नाम है?"

"मिसेस कात्यायनी राजाराव।"

"अर्थात् उनका विवाह हो गया है?"

"हाँ, कहते हैं इनके पति महाराज कालेज में असिस्टेंट प्रोफेसर हैं।"

चीनी तुरन्त जान गया था कि वह कौन है। फिर भी उसने चक्रपाणि से पूछा—"ये पहले से यहीं पढ़ाती हैं?"

"नहीं सुनते हैं कि पहले बंगलूर सेंट्रल कालेज में पति-पत्नी पढ़ाते थे। पिछले साल यहाँ तबादला हुआ है। इनके पति राजाराव नाटक बहुत सुन्दर पढ़ाते हैं। मैं आज सुबह अपनी मामी के घर गया था। मेरी मामी की बेटी महाराज कालेज में बी० ए० में पढ़ रही है, उसी ने सब बताया है।"

"सब का क्या मतलब है?"

"उनका विधवा विवाह है" कहकर तुरंत जैसे जिह्वा काटकर चक्रपाणि ने बात बंद कर दी। चीनी का मुख इतने से ही खिन्न हो चुका था। चक्रपाणि को अध्यापिका का पूर्ण परिचय था। उसने अपने मित्र का दिल दुखाने के लिए यह बात नहीं कही थी। मित्र से संबंधित एक मुख्य बात कहने की आतुरता से बात शुरू की थी।

चीनी अपनी माँ, जो अब उसकी अध्यापिका भी थी, के प्रति अनजाने ही एक-दो दिनों में आकर्षित हो चुका था। कक्षा में, पढ़ाई के समय, उनकी आँख बचाकर उन्हें देखने का प्रयत्न करता। पहली

यार के अनपेक्षित बुलावे से वह भ्रमित हो गया था। तुरंत बहाना बना कर छुटकारा पा लिया था। महाराज कालेज, जो पास ही था, जाकर उसके पति को देखने का कुतूहल हुआ। एक दिन वहाँ पहुँचकर एक विद्यार्थी से पूछा—"अंग्रेजी के प्रोफेसर राजाराव क्या आज क्लास लेनेवाले हैं ?"

"सीनियर बी० ए० हॉल में अब उनका पीरियड है।"

'हॉल कहाँ है ?"

'मैं वहीं जा रहा हूँ।"

चीनी भी उसके साथ हो गया। वह हॉल में जा बैठा। राजाराव आये। चीनी उन्हें देख रहा था। राजाराव बर्नार्ड शा कृत 'सेंट जॉन' नाटक पढ़ा रहा था। चीनी उसे पूर्णरूपेण समझ नहीं पाया था, लेकिन अध्यापक की अभिनयपूर्वक बोलने की कला और सुललित रूप में अंग्रेजी का उच्चारण-प्रवाह उसे आकर्षक लगे। नयी अध्यापिका को अपनी माँ समझकर उसका मन निर्विकार न था। लेकिन राजाराव के प्रति किसी तरह का निकट भाव नहीं जागा। इसके विपरीत, अनजाने में ही, एक तिरस्कार का भाव उपज रहा था। बीच में ही उसे अपने पिता का स्मरण हुआ। उसने कभी पिता को नहीं देखा था। घर में उनका कोई फोटो भी नहीं था। चीनी का मन बेचैन होने लगा था। पढ़ाई चल रही थी। उठकर तुरंत बाहर आने की इच्छा हुई, लेकिन पीरियड पूर्ण होने तक इस भय से बैठा रहा कि न जाने वे क्या कहेंगे।

चीनी का मन अनजाने विचित्र भावनाओं में उलझ गया था। अपनी माँ से मिलकर बात करने की इच्छा एवं आतुरता मन में जाग रही थी। उसका मन प्रश्न कर रहा था—'वे नये पति के साथ क्यों गईं ?' उसे दादी ने बताया था कि वे इसी राजाराव की छात्रा थीं। राजाराव नाटक भी प्रस्तुत करते हैं। उसे सारी बातें याद आईं। वह सोचने लगा—'उत्तम ढंग से नाटक खिलाने वाले राजाराव और इसमें परस्पर प्रेम जागा होगा! उन्होंने इनके साथ...मेरी माँ ने ऐसा क्यों किया ? एक बार उसने सोचा, जाकर पूछा जाय कि आपने ऐसा क्यों किया? अगर उन्होंने पूछा कि यह पूछनेवाले तुम कौन होते हो?'—

इस विचार से अपने कुतूहल को दबा लिया। 'अगर वे घर त्याग कर इनसे शादी न कर लेतीं तो इस उम्र में दादा की मदद कर सकती थीं। फिर भी उनकी चिन्ता किये बिना ही वे निकल गयीं। लेकिन मुझ बालक को कैसे छोड़ गयीं?'—आदि प्रश्न उसे सता रहे थे। उसे खाना नहीं रुचा, नींद नहीं आई। इसी तरह दो-तीन दिन बीत गये। एक बार सोचा कि इस बारे में दादा से ही क्यों न पूछा जाय! लेकिन वे इस बारे में कुछ सुनना नहीं चाहेंगे! इसके अतिरिक्त उन्हें भी दुःख पहुंचेगा। यह विचार भी त्याग दिया। निश्चय किया कि जिस तरह दादा समस्याओं को हजम कर शांत चित्त रहते हैं, उसी तरह मुझे भी रहना चाहिए। हर रोज संध्या-वंदन के समय वह १०८ गायत्री मंत्र अधिक जपने लगा।

दादा द्वारा बार-बार कही हुई बात 'मनुष्य अपने-अपने कर्म-धर्म के अनुसार चलता है—दूसरों के व्यवहार के बारे में हमें नहीं सोचना चाहिए'—उसे याद आई। अपनी माँ के चालचलन के संबंध में सोचना छोड़ देने का प्रयत्न किया। चीनी में अद्भुत संकल्प शक्ति थी। हर विषय में वह दादा का पोता था। उन व्यवहारों को निभाने में सफल भी हुआ। वह सोच रहा था—"भविष्य में एक-न-एक दिन मुझे बुला कर वह कहेगी कि मैं ही तेरी माँ हूँ, तब मैं क्या करूंगा?" हाँ, मैं आपका बेटा हूँ, कहकर उसे स्वीकार कर लूँ?—यह विचार भी आता था। 'वैसा करने पर हम दोनों का संबंध बढ़ता है। हो सकता है कि उनके प्रति मेरे मन में विश्वास बढ़ जाय। मैं उन्हीं के साथ रहना चाहूँ, तब दादा की स्थिति क्या होगी? माँ की तरह मैं भी उन्हें त्याग दूँ? ये विचार उसे तिरस्कार से जलाने लगे। 'दोनों जगह मैं बेटा बनकर रहूँ?' चीनी शास्त्रों का काफी ज्ञान पा चुका था। अपने वंश, उस वंश से संबंधित धर्म-कर्म आदि की उसे पूरी प्रतीति थी। रोज संध्या-वंदन कर, मंत्र पढ़ कर नमस्कार करते समय उनका अर्थ मन में मुहर-सी लगा जाता था। अपने वंश के महत्व के गौरव की रक्षा करना ही नहीं, अपितु ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि उसकी वृद्धि होकर वह अधिक प्रकाशवान हो। उसे दादा की ये बातें याद आ रही थीं। वह पुराणों में पढ़ चुका था कि चंद्रवंशी, सूर्यवंशी

राजाओं ने अपनी वंश-प्रतिष्ठा की रक्षा की ! काश्यप गोत्र में जन्म लेकर, श्रोत्रिय वंश का बेटा, मैं, अन्य कुटुम्ब के लोगों के साथ बेटे के रूप में कैसे व्यवहार करूँ ? बुजुर्गों के साथ, चाहे वे कोई भी हों, पुत्र भाव से व्यवहार करता, उसके संस्कार मे घुल-मिल गया था। लेकिन उसका मन सोच रहा था—'अपने वंश को त्याग कर और दूसरे वंश की माँ के साथ संबंध जोड़कर उनके घर आना-जाना कैसी विडम्बना है—विपर्यास है ?'

वह सोच रहा था—'यदि किसी दिन मुझे बुलाकर वे अपना परिचय दें तो क्या करना चाहिए ?' माँ को कर्कश उत्तर देकर वह उनका जी दुखाना नहीं चाहता था। यह उसके दादा का उपदेश था। उसने निर्णय कर लिया था कि इस नये संबंध से दूर रहना चाहिए—मानों उसके बारे में वह कुछ जानता ही नहीं। इसी निर्णय के अनुसार उसने कात्यायनी से व्यवहार किया, लेकिन उस घर से बाहर निकलने के पश्चात् वह रो पड़ा था। एक पेड़ के पास खड़े होकर सिसक-सिसककर रोया था। रूमाल से आँसू पोंछते हुए सीधा कालेज के पिछवाड़े स्थित खेल के मैदान में पेड़ के नीचे जा बैठा था।

वह रोज कालेज जाता था। 'वे पुनः मुझे बुलायें तो ? मेरे सामने रोने लगीं तो ? उनके सामने मुझे रोना आया तो ?'—वह प्रश्न कर रहा था। कालेज के सूचना-बोर्ड से पता लगा कि वे चार दिन की छुट्टी पर हैं। वे चार दिन बाद कालेज आयेंगी। तब क्या किया जाय ? वह भी पुनः उन्हें देखना चाहता था। कभी-कभी उसका मन आतुर होकर सोचता कि कह देना चाहिए कि मैं ही आपका बेटा हूँ—मेरा नाम चीनी है। लेकिन तुरंत दादा की बात याद आयी—'किसी भी वस्तु के संसर्ग से उसके प्रति व्यामोह बढ़ता है। व्यामोह बढ़ने के बाद उससे छुटकारा पाना सरल नहीं है। अतः बुरी वस्तुओं के संसर्ग से सदा दूर ही रहना चाहिए।' सोचा उन्हें देखना नहीं चाहिए। इस कालेज को ही छोड़ देना चाहिए। तत्पश्चात् चार-छह दिन में मन नियंत्रण में आ जायेगा।

एक दिन रात को उसने दादा से कहा—"मैं जिस सरकारी कालेज में पढ़ रहा हूँ, वहाँ पढ़ाई ठीक नहीं होती। मैसूर में कुछ

लोगों का विचार है कि शारदा विलास कालेज में प्रवेश पाना ठीक है। क्या ट्रांसफर सर्टिफिकेट लेकर मैं उस कालेज में चला जाऊँ?" पहले तो श्रोत्रियजी ने उसके सुझाव को स्वीकार नहीं किया, फिर पूछा—"नये कालेज में प्रवेश मिल जायेगा?"

दूसरे दिन चीनी शारदा विलास कालेज गया। पूछताछ कर लौटा और दादा से कहा—"सीट है, सर्टिफिकेट ले आने के लिए कहा है। अब कालेज में इस सत्र की पूरी फीस लिये बिना वे सर्टिफिकेट नहीं देते। नये कालेज में फिर से फीस भरनी पड़ेगी। सात रुपये चाहिए। मैं नये कालेज में ही जाना चाहता हूँ।"

दादा ने मुस्कराकर कहा—"पैसे संदूक में हैं, ले लो। बताओ कि अर्जी में क्या लिखूं? अच्छी पढ़ाई वाला कालेज होना चाहिए।"

चीनी तीन दिन में नये कालेज का विद्यार्थी बन गया। फिर भी कई दिनों तक उसका मन अनियंत्रित ही रहा।

निराशा से आवृत कात्यायनी का स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन बिगड़ता जा रहा था। न बुखार है, न सिरदर्द ही। बिस्तर पर भी नहीं पड़ी रहती। लेकिन काया दिन-प्रतिदिन क्षीण होती जा रही थी। उसका शरीर, जो पहले पुष्ट था, अंदर-ही-अंदर कीड़े खाये पत्ते की तरह हो रहा था। राज ने उसे डॉक्टर को दिखाया। डॉक्टर ने टानिक लिखकर दिया और फल-अण्डे लेने की सलाह दी। और आये मरीजों को वैसे भी लौटाना, डॉक्टरों की प्रवृत्ति के विरुद्ध होता है! न चाहने पर भी, राज के विवश करने पर वह रोज अण्डे खा रही थी। फल घर में आते। पहले की अपेक्षा अधिक दूध लेने लगी। लेकिन उसका शारीरिक स्वास्थ्य तो विपरीत दिशा में ही प्रगति कर रहा था। अब वह पति से भी अधिक नहीं बोलती। कालेज के पश्चात् घर लौटकर कमरे में अकेली बैठ जाती। मन शून्य रहता। सामने की दीवार या खिड़की के उस पार के वृक्षों को एकटक देखती रहती। यह सोचकर निःश्वास छोड़ती कि अपनी शाखा से तिरस्कृत वृक्ष कितना ही हरा-भरा हो, तो भी इससे क्या लाभ?—कभी सोचती नंजनगुडू चली जाऊँ।

तब उसका शरीर शिथिल हो जाता, काँप उठता। अधिक विचलित हो उठती। स्वप्न में बड़बड़ाने लगती। कभी-कभी स्वप्न में स्पष्ट विचार भी निकल जाते थे। पास ही राज सोता था। वह पूछ बैठता—"इस तरह स्वप्न में क्या बड़बड़ा रही हो"—तो चुपचाप सो जाती। एक दिन स्वप्न में अंग्रेजी में पूछ रही थी—"धर्म-कर्म का निर्णय करने वाला मूल तत्त्व कौन-सा है?" राज को नींद नहीं आ रही थी। उसने भी अंग्रेजी में ही उत्तर दिया, "समस्त जीवों का सुख ही धर्म का मूल तत्त्व है।"

स्वप्न में ही वह बोली—"सुख-मात्र को धर्म नहीं कहा जा सकता। वह किस प्रकार का सुख है? इंद्रिय सुख है? मानसिक सुख है? धार्मिक जीवन की तृप्ति से मिलने वाला सुख है? इनके विश्लेषण के बिना कहा जाने वाला सुख-तत्त्व धर्म का मूल नहीं हो सकता।"

राज फिर बोलना चाहता था लेकिन कात्यायनी का बड़बड़ाना बंद हो गया था। दूसरे दिन उठी तो राज के मुख से यह बात सुनकर उसे विश्वास नहीं हुआ। इस तरह कई दिन बीत गये। राज ने मनोवैज्ञानिक के पास चलने की बात कही तो वह 'मेरे मन को किसी और को देखने की आवश्यकता नहीं, सर्वोत्तम सूत्र है, अपने-आपको पहचानो'—कहकर राज को चुप करा दिया।

एक दिन आधी रात को अचानक राज की नींद खुल गयी। देखा तो बगल में कात्यायनी नहीं थी। वह उठ बैठा। कमरे का द्वार खुला था। वह बाहर आया। बाहर का दरवाजा भी खुला था। सड़क पर देखा तो एक फर्लांग की दूरी पर चामुंडीपुर की ओर धीरे-धीरे कदम बढ़ा रही स्त्री की आकृति दिखाई पड़ी। पहचानकर राज उस ओर दौड़ा। उसके पास पहुँचकर पूछा—"कहाँ जा रही हो?" कात्यायनी की आँखें खुली थीं। लेकिन मुखमुद्रा सुषुप्त थी। लगता था सामने खड़े व्यक्ति को वह पहचान नहीं सकी। स्वप्न में बोलने वाले की तरह कहा—"चामुंडी पहाड़ी पर।

"क्यों जा रही हो?"

"क्यों? ऊँचाई पर पहुँचे बिना जीवन ही क्या है? सारे स्वप्न में तो मैं उतरती ही रही। अब जागी हूँ। चढ़ने जा रही हूँ।"

"मेरे साथ आओ। सुबह दोनों जायेंगे।"

"आप कितने विवेकी हैं।" कहकर उसकी भुजा थपथपायी। राज उसका हाथ पकड़ घर ले आया। बाहर का दरवाजा बंद कर, उसे शयन-कक्ष में ले गया। पलंग पर लिटाकर, कमरे के दरवाजे को अच्छी तरह से बंद कर दिया। क्षण-भर में उसकी आँखें मुँद गयीं। पाँच मिनट तक भ्रमित-सा बैठे रहने के पश्चात् कात्यायनी को हिलाकर पूछा—"नींद आ गई ?"

"नहीं, सदा जगी रहती हूँ।" लेकिन उसकी साँस की गति और मुख से स्पष्ट लगता था कि नींद आ गयी है।

"जानती हो अब किससे बोल रही हो ?" राज का प्रश्न था।

"हाँ।"

"मैं कौन हूँ ?"

"पुरुष!"

"तुम कौन हो ?"

"प्रकृति !"

राज की छाती काँप उठी। उसके ललाट पर पसीना आ गया। वह समझ रहा था कि पत्नी की सुप्त प्रज्ञा में कौन-सी शक्तियाँ उठ रही हैं। इस बात को और स्पष्ट समझने के उद्देश्य से उसने पूछा—"प्रकृति चिर-नूतन है न ?"

"प्रकृति न चिर-नूतन है और न चिर-चेतन ही। धर्म-पथ को ठुकराना जीवन नहीं है।"

लगभग दस मिनट विचारमग्न रहने के बाद राज ने पूछा—"प्रकृति, तुम्हें मुझ से क्या प्रयोजन है ?"

कात्यायनी नहीं बोली। इतने में उसे गहरी नींद आ चुकी थी। वह राज के झकझोरने पर भी नहीं जागी। राज को रात-भर नींद नहीं आई। बिस्तर से उठा और खिड़की के पास आरामकुर्सी पर बैठकर सोचने लगा। वह उस स्थिति की बात सोच रहा था जब मनुष्य बंधन-मुक्त होकर जीते थे। धर्म से, आचार परंपराओं से, मानव के स्वतंत्र, पूर्ण सुखमय जीवन में आनेवाली बाधाओं के बारे में सोच रहा था। उसी दृष्टि से अपने एक आदर्श समाज की कल्पना की

थी—अपनी दृष्टि में उसका चित्र खींचा था। राज स्वभावतः सज्जन है। उसने कभी किसी के प्रति बुरा नहीं सोचा। यथाशक्ति मदद करने में उसका विश्वास था। उसकी जीवन-दृष्टि कुछ भिन्न थी। उसी दृष्टि से कात्यायनी को उकसाकर उससे विवाह कर लिया था। अब यह जीवन किस ओर जा रहा है?—इस निराशापूर्ण प्रश्न का उत्तर खोजने में ही सारी रात बीत गयी। सुबह पाँच बजे कात्यायनी जागी तो राज के पास आकर पूछा—"ये आँखें लाल क्यों हैं? रात सोये नहीं क्या? यहाँ क्यों बैठे हैं?"

"तुम्हें कुछ भी याद नहीं?"

वह कुछ समझ न सकी—"आप क्या कह रहे हैं? कौन-सी बात?"

उसे पास बैठाकर आदि से अंत तक सारी बात कह सुनायी। कात्यायनी की आँखों में आँसू भर आये। 'यहाँ आइए' कहकर पति का हाथ पकड़ पलंग के पास गयी। तत्पश्चात् उसे अपनी गोद में लिटाकर बोली—"मेरे कारण आपको कितना दुःख होता है? मैं कुछ नहीं जानती। अब आप मेरी गोद में सो जाइए। मैं थपकियाँ देती हूँ।"

जलती हुई आँखों को उसने मूँद लिया। पति की पीठ पर थपकी देते समय कात्यायनी की आँखें भर आईं और अश्रुकण उसके गाल पर ढुलक पड़े।

"तुम क्यों रो रही हो?"—आँखें मूँदे-मूँदे ही उसने पूछा।

"अनजाने में आपका जी दुखाया। प्रायश्चित्त के रूप में रो रही हूँ। अब मत बोलिए, सो जाइए।"—कहकर पति को अपने सीने से लगा लिया।

दिन-प्रतिदिन कात्यायनी के बिगड़ते स्वास्थ्य से राज विह्वल था। वह समझ नहीं पा रहा था कि पत्नी का इलाज किस तरह करे। उसकी मनःस्थिति ज्यों-ज्यों अधिक प्रक्षुब्ध होती जाती थी, त्यों-त्यों वह पति से अधिकाधिक प्रेम की अपेक्षा करती थी। राज उससे न बोलकर किसी कार्य में लगा रहता तो सोचती कि शायद मेरे प्रति उनका प्यार कम होता जा रहा है। वह किसी

कारणवश रूठ जाता तो भयभीत होती कि कहीं वे भी मुझे छोड़ न दें। एक दिन पलंग पर बैठे पति के चरणों को स्पर्श कर उसने पूछा—"आप अगर मुझे इस तरह दूर रखेंगे तो मेरा क्या होगा? क्या मेरे प्रति आपकी सहानुभूति भी नहीं है?"

"मैंने ऐसा क्या किया है? व्यर्थ ही तुम भयभीत हो रही हो।" उसने पत्नी को सान्त्वना दी—"तुम्हारे प्रति मुझे कोई शिकायत नहीं है। मैं हरदम प्रयत्न करता हूँ कि तुम्हारा स्वास्थ्य सुधर जाय। लेकिन वह गिरता जा रहा है। क्या कम-से-कम मेरे लिए धीरज धारण नहीं कर सकतीं?"

"उसके लिए मैं कितना प्रयत्न कर रही हूँ, यह आप समझ नहीं सकते। मेरे कारण आपको कितना दुःख होता है? आप बहुत ही अच्छे हैं। मैं आपको अपेक्षित सुख न दे सकी।" आलिंगन करते-करते उसके आँसू बह चले।

पत्नी के मनोरोग को वह जानता था। उसके गर्भ से जन्म लेने वाले बच्चों में से एक भी बच जाता तो उसके मन को शांति मिलती। वह जानता था कि कात्यायनी समझती है कि उन तीन बच्चों की मौत, उसके पाप-कर्मफल के कारण ही हुई है। एक दिन उसने स्वप्न में भी कहा था कि 'एक वंश के बीज को धारण करने के बाद दूसरे वंश को धारण करना पाप है। उस पाप के फलस्वरूप ही तीनों बच्चे जन्म लेने से पहले ही स्वर्ग सिधार गये।' वह पूर्णतः समझ गया कि पाप-पुण्य के मंथन में वह जर्जरित होती जा रही है। जैसे-जैसे वह पत्नी की असहायता समझता गया, वैसे-वैसे उसे अधिक प्यार करने लगा। जहाँ तक हो सकता उसके साथ समय बिताता।

राज एक दिन रात के आठ बजे भाई के बँगले पर गया। डॉ० राव की शारीरिक स्थिति भी बिगड़ गयी थी। वे बरामदे में एक आरामकुर्सी पर बैठे थे। रत्ने भीतर थी। किसी ग्रंथ का अवलोकन कर रही थी। दोनों की कुशल-क्षेम पूछने के पश्चात् राज ने कात्यायनी की मनःस्थिति का जिक्र किया। उसे भी नंजनगुडू के श्रोत्रियजी के बारे में जानने का कुतूहल था। यह सोचकर उसने कात्यायनी से इस संबंध में नहीं पूछा था कि प्रश्न से उसकी मनःस्थिति और बिगड़ सकती थी।

अतः राज ने पहली बार भाई से पूछा। डॉ० राव ने सारी बातें बतायी—"एक वर्ष पहले हम दोनों वहाँ गये थे, उस समय हमने भी महसूस किया था कि इस परिस्थिति में वह उनके पास रहती तो उचित होता।"

राज गंभीरता में डूब गया। कुछ समय बाद उसने पूछा—"अब भी कात्यायनी जाकर उनसे क्षमा माँग ले तो उन्हें तसल्ली मिलने के साथ-साथ इसका मन भी नियंत्रित हो जायेगा क्या ?"

"इस संबंध में मैंने उनसे बात की थी। वे इन-सबको मानों भूल ही गये हैं। ऐसे विषयों के बारे में वे सोचते ही नहीं, जिनसे उनका संबंध टूट गया है। किसी भी बात में उनकी आसक्ति नहीं है—अनासक्ति ही मानो उनका जीवन है। अगर उनसे मिलकर क्षमा माँगने से उसे मानसिक शांति मिलती है, तो वैसा करने दो। वह भी उचित ही है।"

इस विषय में राज ने कात्यायनी के साथ बात छेड़ी तो वह भयभीत हो उठी। उसकी अपनी भीतरी शक्ति ने उसे कँपा दिया। कातर होकर उसने पूछा—"इस संबंध में आपने अपने भैया से क्यों बात की ? मैं कदापि वहाँ नहीं जा सकती। उनके सम्मुख बेहोश होकर गिरने की अपेक्षा यहीं मरना उचित समझती हूँ।"

राज निरुपाय हो गया। "नागु की तरह तुम भी रामपूजा क्यों नहीं करती ? कम-से-कम प्रारंभ तो करो। मन को शांति मिलेगी।" उसने कहा।

"उसकी कोशिश में हूँ। मुझ-जैसी से श्रीराम प्रसन्न नहीं हो सकते। मैं विश्वास खो चुकी हूँ।"

राज की विह्वलता दिन-प्रतिदिन बढ़ती रही। कुछ दिन बाद वह भी अन्तर्मुखी हो गया। कालेज में नाटक के बहाने रोज सुबह साइकिल द्वारा किसी भी मार्ग से नगर के बाहर चला जाता और वृक्ष के नीचे बैठ जाता। पहले की भाँति साइकिल चलाने की शक्ति अब उसमें नहीं थी। दिसम्बर शुरू हो चुका था। जाड़े की छुट्टियाँ प्रारंभ हो गयी थी। एक दिन वह एकाएक हुणसूर के रास्ते पर निकल पड़ा। उसे उस रास्ते की जैसे कोई जानकारी नहीं थी। लगभग सात-आठ मील जाने के बाद वह झरना दिखायी पड़ा, जहाँ वह पहले कात्यायनी के साथ आया था। साइकिल से उतर वह झरने के किनारे-किनारे

चलने लगा। उस हरियाले प्रदेश में आया जहाँ वे दोनों बैठा करते थे। राज को आश्चर्य हुआ कि गांव के लोग वहाँ के पेड़-पौधों को काट चुके हैं। उसी प्रदेश में बहते, चैतन्यपूर्ण झरने पर एक बांध बना दिया गया है। उसके पानी को खेतों की ओर मोड़ दिया गया है। प्रकृति ने अपनी आजादी खोकर मानव-योजना के सम्मुख सिर झुका लिया है। उस बांध पर चढ़कर राज ने देखा। संगृहीत पानी, निश्चल आइने के समान दिखाई दे रहा था। पानी की ओर झुककर उसने अपने चेहरे को देखा। वह घबरा गया। वह वृद्ध-सा दिखाई दे रहा था। चेहरा सूख गया था। सिर के पके हुए सफेद बाल पानी में भी दिखाई पड़े। ललाट पर झुर्रियां पड़ रही थीं। उसने सोचा, 'मैं इकतालीस वर्ष का हो गया।'

२३

पंचम खण्ड के कार्य में रत्ने और डॉ० राव दोनों निरंतर लगे रहे।

इस खण्ड में भारत में अंग्रेजों के आगमन से लेकर आज तक इस देश में प्रचलित सांस्कृतिक परिवर्तनों का विवरण देना था। इसके उपयुक्त सामग्री काफी थी। संसार के इस भाग पर आंग्ल साम्राज्य की स्थापना और इस देश के सांस्कृतिक जीवन में व्याप्त असंतोष का कारण दिखाना था। खण्ड के अंतिम दो अध्यायों में "भारत की प्राचीन संस्कृति अब भी जीवित रहकर आगे विकसित हो सकती है?" इस प्रश्न की चर्चा करके ग्रंथ समाप्त करने की योजना थी। रत्ने यथाशक्ति इस बात पर ध्यान दे रही थी कि डॉ० राव को अधिक परिश्रम न करना पड़े। विषय-निरूपण की मूल दृष्टि एवं अपने दृष्टिकोण का विवरण डॉ० राव दे रहे थे। इस दृष्टिकोण की पुष्टि एवं खंडन करने

वाले अन्य ग्रंथों को रत्ने स्वयं ढूंढ़कर पढ़ती और उनके महत्वपूर्ण अध्यायों, पृष्ठों की ओर डॉ० राव का ध्यान दिलाती। उनके स्वास्थ्य के प्रति सतर्क रहती और हर रोज रात को घुमाने ले जाती। रात को जल्दी सो जाने का आग्रह करती, ताकि देर तक न पढ़ सकें।

एक दिन रात के लगभग ग्यारह बजे का समय था। डॉ० राव अपने कमरे में कुर्सी पर बैठे,मेज पर रखे हुए कागजों की टिप्पणियों पर निशान लगा रहे थे। उनके पीछे रखी हुई आरामकुर्सी पर रत्ने कोई पुस्तक पढ़ रही थी। उसके हाथ में एक पेंसिल थी। टिप्पणी लिखते हुए डॉ० राव की आंखों के सामने अचानक अंधेरा छा गया। पलकों को दो-तीन बार झपकाया,लेकिन हाथ की लेखनी भी दिखाई नहीं पड़ी। धीरे से, बायें हाथ से अपने चश्मे को नाक से हटाकर मेज पर रखते-रखते अर्द्ध मूर्च्छावस्था में अंधेरा छा गया। हिलने-डुलने की शक्ति न रही। लेकिन अपनी स्थिति बतलाने का होश था। अतः क्षीण स्वर में रत्ने को पुकारा। रत्ने ने आंख उठाकर देखा। डॉ० राव को बायीं ओर अचानक असह्य दर्द होने लगा। सांस लेना भी कठिन प्रतीत हो रहा था—मानो किसी ने उसे रोक रखा हो। आंखें मूंदकर,दर्द सहने के लिए अधर काटकर उन्होंने अपने बायें हाथ को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया, लेकिन व्यर्थ। वे अपने दाहिने हाथ को ऊपर उठाकर छाती पर रख ही रहे थे कि रत्ने दौड़ी आई और उनके सिर को अपने सीने में टिका लिया। एक मिनट तक डॉ० राव के मुख पर यम-यातना खेलती रही। यह यातना धीरे-धीरे घटने लगी। उन्होंने रत्ने की बांह पर अपना सिर रख दिया।

रत्ने भयभीत हो गयी। यह समझने में उसे दो मिनट लग गये कि यह दिल का दौरा है। इस कठिन परिस्थिति में भी अधीर न हो, उनकी नाक के पास हाथ रखकर देखा। सांस धीरे-धीरे चल रही थी। तुरन्त रामप्पा को दो बार आवाज दी। भीतर कमरे में रामप्पा सोया था। ओढ़े हुए दुपट्टे सहित वह दौड़ा। "बगल वाले प्रोफेसर को बुला लाओ। 'रन अप' (दौड़ो)। इन्हें मृत्यु घेर रही है।" उसने अपनी टूटी कन्नड़ में कहा। रामप्पा दौड़ा गया। दो मिनट में प्रोफेसर आ पहुंचे। डॉ० राव का चेहरा ध्यान से देखकर उन्होंने रत्ने से

कहा—"अब 'अटैक' बीत गया है। प्राणों के लिए कोई खतरा नहीं। आप इन्हें ऐसे ही लेटे रहने दीजिए।" रागप्पा की ओर मुड़कर कहने लगे—"तुरन्त इस कुर्सी के पास एक पलंग पर बिस्तर बिछा दो। और ध्यान रखना कि पलंग लाते समय तनिक भी आवाज न हो। ठहरो, मैं भी आता हूँ।" स्वयं जाकर, डॉ० राव के शयन-कक्ष से एक पलंग रागप्पा के सहयोग से लाये और उनकी कुर्सी के पास ही लगा दिया। तकिया रखने के पश्चात् रत्ने की सहायता से उन्हें धीरे से उठाया, और बिस्तर पर छाती के पास तकिया रखकर बैठाया। अब रत्ने से बोले—"मैंने ऐसा 'केस' देखा है। यहाँ अधिक प्रकाश नहीं रहना चाहिए। इस कमरे की बत्ती बुझाकर आप यहीं रहिए। मैं तुरन्त अपनी कार ले जाकर 'हार्ट स्पेशलिस्ट' डॉक्टर आनन्दराव को बुल लाता हूँ।"

प्रोफेसर वहाँ से चले गये। दो मिनट में उनकी कार के जाने की आवाज आई। रत्ने ने कमरे की बत्ती बुझा दी। रागप्पा वहीं खड़ा था। रत्ने मंच के पास आकर खड़ी हो गयी। वह अचानक भयभीत हो उठी थी। वह जानती थी कि डॉ० राव का स्वास्थ्य क्षीण होता जा रहा है। वह यह भी जानती थी कि डॉ० राव अपनी पहली पत्नी के बारे में काफी व्यथित हैं। इस चिन्ता को दूर करने के लिए वह स्वयं जाकर नागलक्ष्मी को ले आने के लिए तैयार हुई। वह प्रयास व्यर्थ समझ, डॉ० राव ने ही उसे ऐसा करने से रोका था। यद्यपि उनकी गिरती तंदुरुस्ती को देख रही थी, तो भी उसने इस बात की स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी कि अचानक इस नाजुक स्थिति को पहुँच जायेंगे। बगल वाले कमरे से पड़ने वाले मंद प्रकाश से डॉ० राव का शरीर अस्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा था। रत्ने ने अपनी अँगुलियाँ उनकी नाक के पास ले जाकर देखा। साँस धीरे-धीरे चल रही थी। "अब 'अटैक' बीत चुका है, प्राणों के लिए कोई खतरा नहीं है।' प्रोफेसर की बात याद आने पर उसने दीर्घ साँस ली। फिर भी एक तरह का शून्य उसे घेरे हुए था। मन को अनिष्ट का अस्पष्ट-सा चित्र दूर से दिखाई दे रहा था। उसे स्मरण हो आया कि विद्या, कला, संशोधन आदि में अपने समस्त जीवन को अर्पित करने वालों का अंतकाल सामान्यतः इसी तरह का होता है।

इतने में बाहर से कार का आवाज सुनाई दी। वह कमरे से बाहर निकल ही रही थी कि प्रोफेसर डॉक्टर के साथ भीतर आ गये। बिस्तर पर बैठकर टार्च के प्रकाश में उनकी जाँच की, लेकिन इस बात का ध्यान रखा कि उनके चेहरे पर प्रकाश न पड़े। जांच के पश्चात् बाहर आकर डॉक्टर ने कहा—"अभी दो गोलियाँ देता हूँ। उन्हें पीसकर खिलाइए। कल आकर पूर्ण जांच करूँगा। एक सप्ताह के पश्चात् अस्पताल ले जाकर 'एक्स-रे' लेकर देखेंगे। इस बीच वे माँगें तो दूध, फलों का रस दीजिए। खतरा नहीं है। चिन्ता न करें। कल सुबह मेरे आने में देर हो जाय तो कमरे की खिड़की में परदा लगा दीजिए। अधिक हवा नहीं लगनी चाहिए।"

गोली देकर डॉक्टर चलने लगे तो रत्ने भी बाहर आई। प्रोफेसर ने उससे पूछा—"इन्हें घर छोड़, आते समय क्या आपके देवर राजाराव को साथ लेता आऊँ?"

"हाँ। इनकी पत्नी को भी साथ लेते आइए।"

एक मिनट सोचकर प्रोफेसर ने कहा—"मुझे लगता है उनका आना उचित न होगा। यहाँ इनको भावोद्रेक नहीं होना चाहिए।" और डॉक्टर की ओर मुड़कर पूछा—"मैंने कहा न, इनकी प्रथम पत्नी और इस देवी का कोई मनमुटाव है। उन्हें बुलाना क्या उचित होगा?"

"हर्गिज न बुलायें।"—डॉक्टर ने कहा।

डॉक्टर के जाने के बाद, गोली पीसकर रत्ने ने डॉ० राव को खिलायी। डॉ० राव को पूरा होश था। रत्ने के यह पूछने पर कि दूध पियेंगे या फलों का रस, उन्होंने नकारात्मक सिर हिला दिया। उनके पलंग के पास की कुर्सी पर रत्ने बैठ गयी। डॉक्टर के आश्वासन से उसे थोड़ी-सी तसल्ली मिली थी, किन्तु उसके मन में व्याप्त शून्य न घटा। मन कह रहा था, भले ही अब हालत सुधर जाये, लेकिन पूर्ववत् वे अध्ययन-कार्य नहीं कर सकेंगे। वह जानती थी कि जिस व्यक्ति को एक बार हृदरोग होता है वह दुबारा हो जाय तो उसका बचना दुस्साध्य है। शून्य मन भविष्य के बारे में सोच न सका। बाहर रामप्पा दीवार से पीठ टिकाये बैठा था। वह दिङ्मूढ़ हो चुका था।

इतने में पड़ोसी प्रोफेसर की पत्नी, उनकी दो पुत्रियाँ, ज्येष्ठ पुत्र,

सब वहाँ आ गये। दो दिन की मुलाकात के अतिरिक्त रत्ने का इनसे अधिक परिचय न था। रत्ने सदा कार्य में व्यस्त रहती थी, अतः वे अधिक नहीं बोलते थे। जोर से न बोलकर, द्वार पर मौन खड़े रहे। रागप्पा ने भीतर आकर रत्ने को उनके आने की सूचना दी। रत्ने बाहर आई। प्रोफेसर की पत्नी अंग्रेजी अच्छी तरह जानती थी। वह एम०ए० थी। उनकी दोनों लड़कियाँ कालेज में पढ़ रही थीं। बेटा अन्तिम वैद्यकीय परीक्षा की तैयारी कर रहा था। "कैसे हैं?" प्रोफेसर की पत्नी ने पूछा।

"डॉक्टर ने कहा है कि 'अटैक' बीत गया है और प्राणों के लिए खतरा नहीं है। आपके पति का भी यही ख्याल है।"

"कोई चिंता न करें। एक बार 'हार्ट अटैक' होने के पश्चात् पूर्ववत् कार्य करते हुए बहुत साल तक जीनेवालों की कमी नहीं है। उनके लिए अपने जीवन-विधान को डॉक्टर की सलाह के अनुसार स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। इन्हें अधिक कार्य करने के कारण ही ऐसा हुआ होगा।" प्रोफेसर का पुत्र यह कह ही रहा था कि बँगले के सामने कार रुकी। प्रोफेसर के साथ कार से उतरते हुए राज का चेहरा उद्विग्न दिखाई दे रहा था। पास आते ही उसने रत्ने से पूछा—"कैसे हैं?" "गोली दी है।" रत्ने ने कहा। अपनी चप्पलें वहीं छोड़, प्रोफेसर भीतर आये। राज तो नंगे पैर ही आया था। उसने उनका अनुसरण किया। इतने में डॉ० राव को नींद-सी आ गयी थी। बाहर आकर प्रोफेसर ने कहा—"थोड़ी नींद आ रही है। आप लोग उन्हें न उठायें। किसी तरह की आवाज भी न होने पाये।" और अपनी पत्नी की ओर देखकर कहा—"फल के रस की आवश्यकता पड़ सकती है। घर में फल हों तो ले आओ।" रत्ने ने कहा—"घर में फल हैं।" लेकिन उन्होंने कहा—"हमारे पास भी जो हों, ले आने दीजिए। मौसंबी का रस दीजिए। रात का भोजन कर चुके हैं। उन्हें कुछ भी खाने के लिए विवश न करें। हमारे पास ग्लुकोज़ है। दो चम्मच वह भी डाल दीजिए।"

फल और ग्लुकोज़ दे, रत्ने को पुनः सान्त्वना देकर प्रोफेसर के घर के लोग चले गये। "कोई चिंता न करें। राजाराव यहीं रहेंगे। कल सुबह आऊँगा।" कहकर प्रोफेसर भी चल दिये। डॉ० राव भीतर सो रहे

थे। रागप्पा को वहीं रहने का आदेश दे, रत्ने को रसोईघर में ले जाकर राज ने धीरे से पूछा—"भैया को क्या हुआ है? विस्तार से बताइए!"

सारे विषय को विस्तारपूर्वक बताने के बाद रत्ने ने पूछा—"घर में क्या कहकर आये हैं? नागलक्ष्मी को मालूम है क्या?"

"नहीं! मुझ अकेले को बाहर बुलाकर प्रोफेसर ने सारी बात बतायी और घर में किसी को न बताने की सलाह दी। मैं घर कह आया हूँ कि मदुरा तक जाकर सुबह लौटूँगा।"

"कल नागलक्ष्मी को बता दें क्या?"

"उसके आने से इनकी शुश्रूषा में सुविधा रहेगी।"

"नहीं, शायद आप इनकी पृष्ठभूमि नहीं जानते।"—रत्ने ने उस दिन की बात बतायी जब डॉ॰ राव, नागलक्ष्मी को लेने गये थे।

राज ने पूछा—"आपने या भैया ने मुझे क्यों नहीं बताया?"

"बताने से कोई लाभ नहीं था। उसका मन अब बहुत कठोर हो गया है, यह मानकर वे चुप रह गये थे।"

"तब उन्हें न बताया जाय। कल से कुछ दिनों के लिए कात्यायनी को यहाँ भेज दूँगा। नागु से कुछ बहाना किया जा सकता है। मैं भी, जहाँ तक हो सके, अधिक समय यहीं रहने का प्रयत्न करूँगा। रात को घर जाऊँगा।"

वे दोनों उस कमरे में आये जहाँ डॉ॰ राव सोये हुए थे। पलंग के दोनों ओर आरामकुर्सी रखकर दोनों बैठ गये। कहने पर भी रागप्पा नहीं सोया।

अगले दिन उनकी जाँच के पश्चात् डॉक्टर ने कहा—"फिलहाल जाँच के लिए इन्हें अस्पताल ले जाने की आवश्यकता नहीं है। एक सप्ताह बीतने दीजिए। फिर कुछ दिन अस्पताल में रहने दीजिए। अस्पताल से लौटने के पश्चात् लगभग दो महीने तक इसी तरह कमरे में लेटे रहना पड़ेगा। इस बात का ध्यान रहे कि भावोद्रेक की कोई घटना न हो। संगीत, तबला, मृदंग किसी की ध्वनि उन्हें सुनाई न दे। कोई उन्हें बारम्बार देखने न आये। पूरी विश्रांति चाहिए। मेरी सलाह के अनुसार औषधोपचार चलता रहा तो आप उन्हें तीन महीने में चलता-फिरता पायेंगे। मैं दो दिन में एक बार आकर इन्हें

देख जाऊँगा।" राज ने डॉक्टर से विशेष आदर के साथ बात की और कार में बैठा आया।

उसी दिन सुबह दस बजे राज घर पहुँचा तो सबसे पहले कात्यायनी को कमरे में बुलाकर सारी बातें बतायीं। कात्यायनी को बड़ा दुःख हुआ। राज ने सलाह दी कि कुछ दिन उनकी शुश्रूषा करने से वह अपनी भी चिंता भूल सकती है। नागलक्ष्मी के पास जाकर उसने पूछा—नागु, "रत्ने सख्त बीमार है, क्या कुछ दिनों के लिए कात्यायनी को वहाँ भेज दें?" नागलक्ष्मी ने 'हूँ' कहकर स्वीकृति दे दी। उस दिन से दो घंटे के लिए पास में ही स्थित कालेज जाने के अतिरिक्त कात्यायनी सदा रत्ने के साथ ही रही। अपनी कमजोरी के कारण वह स्वयं उनकी सेवा करने में असमर्थ थी, लेकिन उसकी उपस्थिति रत्ने को धीरज बँधा रही थी।

एक सप्ताह के पश्चात् डॉ० राव को अस्पताल में भर्ती करा दिया। रत्ने भी वहीं रहती। कात्यायनी घर लौट आई।

डॉक्टर की सलाह के अनुसार डॉ० राव लगभग एक महीना अस्पताल में रहे। फिर दो महीने घर में नियमित दवा-शुश्रूषा के बाद डॉक्टर ने बाहर जाने की अनुमति दे दी। उन दिनों में विश्वविद्यालय ने उन्हें वैद्यकीय छुट्टी दे दी थी। वे रोज दो बार टहलने जाते। सुबह वे अकेले हाथ में एक छड़ी लिये कुक्कर ग्राम के तालाब के पिछवाड़े से टहलते हुए लौटते। डॉक्टर ने स्पष्ट कहा था कि ऊबड़-खाबड़ रास्ते से न जाया करें। दोपहर को वे पुस्तकालय नहीं जाते। कालेज जाकर एम०ए० कक्षा को पढ़ाकर घर लौट आते। रत्ने पुस्तकालय जाती। दो महीने बीतने पर पुनः सूक्ष्म परीक्षण के पश्चात् डॉक्टर ने कहा—"आपके हृदय की स्थिति नाजुक है। ग्रंथ-रचना, लिखाई-पढ़ाई आदि सभी कार्य पूर्णतः बंद कर देने चाहिए। कालेज जाकर बैठे-बैठे, ज्यादा-से-ज्यादा एक घंटे पढ़ा सकते हैं। महीने में एक बार यहाँ आकर मुझ से जाँच करवा आगे भी औषधि लेनी पड़ेगी। ऐसे स्थानों पर न जायें जहाँ बस, मोटर आदि वाहनों का आवागमन अधिक हो। कभी

भूलकर भी न दौड़ें। ऐसा हो तो आप अभी दस वर्ष जी सकते हैं। इन सूचनाओं का उल्लंघन करने पर कब क्या होगा, यह मैं नहीं कह सकता !"

डॉक्टर की चेतावनी ने रत्ने को कँपा दिया। उसने नियम बना लिया कि डॉ० राव एक पंक्ति भी न पढ़ें। पंचम खण्ड की रूपरेखा उसे ज्ञात थी। उस खण्ड के लिए वह स्वयं सामग्री संग्रह करने में लगी रही। उसने निश्चय कर लिया कि 'स्वयं समस्त कार्य करके अंतिम प्रति तैयार करना, एक बार उन्हें पढ़-सुनाकर उनके विमर्श के आधार पर उसे सुधारना, उनके न लिखने के बदले उनके निर्देशन में स्वयं लिखना चाहिए।' उसकी इस स्नेहपूर्ण आज्ञा को डॉ० राव ने स्वीकार कर लिया। रत्ने को अब अपने भविष्य की चिन्ता हो रही थी। गाँव में माता-पिता की मृत्यु को कई साल बीत गये थे। भाई के साथ जो पत्र-व्यवहार होता था वह भी बंद था। इसका कारण उनके बीच मनमुटाव नहीं, अपितु अपने पति के ग्रंथ-निर्माण में व्यस्तता थी। अन्य लेखन कार्य नियमित रूप से चालू रखना रत्ने के लिए मुश्किल था। उसने जीवन में कभी यह नहीं सोचा था कि 'पति के मरने पर अपनी स्थिति क्या होगी ?' जीविकोपार्जन के लिए पति पर निर्भर रहना, उसकी दृष्टि में मूर्खता थी। अब भी डॉ० राव के न रहने पर वह खाने और कपड़े-लत्तों के लिए चिन्तित नहीं है। लेकिन उनके पश्चात्, इस जीवन में क्या रहा ? बच्चे ? किसे अपना समझकर जिये ? उसकी आँखों के सामने अर्थहीन एवं दूर भविष्य दीख पड़ने लगा। अपने पति को किसी तरह बचा लेने के लिए कमर कसकर, सतर्कता से उनके स्वास्थ्य की ओर ध्यान देने लगी।

डॉ० राव कुछ दिन डॉक्टर की सलाह के अनुसार ही चलते रहे। लेकिन कुछ दिनों में वे ऊब-से गये। शरीर को एक ही जगह स्थिर रखना उनके वश की बात थी, लेकिन अपने मन को निष्क्रिय स्थिति में रखना, उनके लिए असाध्य था। श्रोत्रियजी की कही बात याद आ रही थी—'बुद्धि प्रकृति का ही एक स्वरूप है।' डॉ० राव सोच रहे थे—"अगर क्रियाशीलता प्रकृति का मूल गुण है तो फिर बुद्धि निष्क्रिय कैसे रह सकती है ? वृत्तिरहित स्थिति को बुद्धि प्राप्त कर ले तो मनुष्य

को मुक्ति मिल जायेगी।" उनका मन कई वार मुक्ति के वारे में सोचता रहता। भारतीय दर्शन के अनुसार मुक्ति क्या है, इस समस्या से भी परिचित थे। इस प्रश्न पर अब वे व्यक्तिगत आस्था से सोच रहे थे। मुक्ति को बौद्धिक-क्रिया से कुछ भी प्राप्त नहीं करना है। जब वह स्वयं आत्मा का मूल गुण अर्थात्, ज्ञान है, फिर बुद्धि की कसरत से उसे क्या मतलव? इस अर्थ में मुक्ति मिलेगी? वे सोचने लगे। उसके लिए की जाने वाली साधना, अष्टांगयोग आदि उनके मन में आने लगे। यह सोचकर वे चुप रह जाते कि—"मेरा मार्ग ही भिन्न है। इस आयु में, इस स्थिति में, वह लक्ष्य मेरे लिए कठिन अवश्य है।" कभी-कभी दर्पण में अपना मुख देखकर वे सोचते—"मैं पचास वर्ष का हो गया। सिर के बाल गिर गये हैं, लगभग गंजा हो गया हूँ। केवल दस-बीस वाल रह गये हैं। जिस मार्ग पर अब तक चलता रहा हूँ, उसी पर आगे बढ़ूँ तो कम-से-कम वह कार्य तो पूर्ण होगा। संकल्प पूर्ण होने से पहले ही त्याग दूँ और दूसरे आदर्श को अपना लूँ तो दोनों में एक भी उपलब्ध न होगा। मेरे इस जीवन में एक ही उद्देश्य शेष रहा है, और वह है ग्रंथ पूर्ण करना।"

रत्ने द्वारा संगृहीत सामग्री को, उसकी सलाह पर कान न देकर डॉ० राव देख रहे थे। पहली वार हृदरोग का शिकार बनने से पूर्व खण्ड के लिए संगृहीत समस्त सामग्री का उन्होंने मनन किया था। उनके मन में यह शंका उठी थी कि 'क्या इस खण्ड को मेरे वदले रत्ने पूर्ण कर सकती है?' रत्ने की बुद्धिशक्ति एवं विषय पर उसके अधिकार के वारे में उन्हें कोई शंका नहीं थी। लेकिन उन्हें यह याद आ रहा था कि ग्रन्थ उसके लेखक की अंतःशक्ति का मूर्त रूप है। उन्होंने मन में ही निर्णय कर लिया कि 'जिस हाथ ने प्रथम चार खण्डों को लिखा, उसी से पंचम खण्ड भी लिखना चाहिए। रत्ने कितने ही प्रयत्न से क्यों न लिखे, वह खण्ड में प्रथम खण्डों की अंतःशक्ति को अभिव्यक्त नहीं कर सकती। अतः मुझे ही लिखना चाहिए।' उस महीने में जब हृदय-जाँच के लिए वे डॉक्टर के पास गये, इस विषय का उल्लेख किया। अब तक इस विशेषज्ञ डॉक्टर को अपने रोगी की विद्वत्ता का परिचय हो चुका था और उसे अपने रोगी के प्रति गर्व भी था। डॉ० राव के विचार सुनकर

उन्होंने कहा—"ऑफकोर्स ! (अवश्य) आपके मन को मैं पहचानता हूँ । इस तरह के रोग में कब क्या होगा, कोई भी विशेषज्ञ नहीं बता सकता । फिर भी यदि आप कोई कार्य न करें तो दस वर्ष और जी सकते हैं । आपका खण्ड लगभग छह सौ से भी अधिक पृष्ठों का होगा न ?"

"हाँ !"

"लिखने के मूड में आने के पश्चात् आप इस नियम का पालन शायद नहीं कर सकेंगे कि दिन में इतने ही पृष्ठ लिखें ?"

"कठिन है । सामान्यतः किसी लेख को प्रारम्भ करने के पश्चात् एक सप्ताह में वह विषय मुझे अपने वश में कर लेता है । उसके बाद मैं आजाद नहीं रहता । वह अपने ही ओघ एवं गति में लेखनी को बहा ले जाता है । उसके समाप्त होने तक मन तनिक भी नहीं थकता । लेकिन बौद्धिक क्रिया के बहाव का साथ देने में असमर्थ होकर कई बार शरीर थक जाता है । फिर भी लेखन कार्य समाप्त होने तक मुझे किसी तरह की शारीरिक थकावट मालूम ही नहीं होती ।"

प्रशंसा की दृष्टि से डॉक्टर ने सिर हिलाकर पूछा—"मुझे क्या करने को कहते हैं ?"

"लेखन कार्य प्रारम्भ किये बिना मैं जी नहीं सकता । बौद्धिक निष्क्रियतापूर्ण इस अस्तित्व का कोई मूल्य ही नहीं है । संसार का विद्वज्जगत् यह सुनना नहीं चाहेगा कि 'सदाशिवराव नामक एक ग्रन्थ-कर्त्ता हृदय-रोगी बनकर, मौत से डरकर कई वर्ष जीता रहा ।' विद्वत्-जगत् बड़े चाव से प्रतीक्षा करता हुआ पूछ रहा है, 'चार खण्ड लिखने वाले का पाँचवाँ खण्ड भी आया कि नहीं ?' उसे लिखे बिना मेरे जीवन का रत्ती-भर भी मूल्य नहीं । उसे पूर्ण करके मरूँ तो मेरे जीवन का लक्ष्य भी पूर्ण हो जाता है । मैं लेखन कार्य प्रारम्भ करता हूँ । लगभग चार महीने में प्रथम प्रति तैयार हो जाये तो बस ! तत्पश्चात् मैं मर जाऊँ तो भी मेरी पत्नी उसका परिष्कार कर सकती है । एक बार प्रारम्भ करने के पश्चात् पूर्ण होने तक क्या मुझे जीवित रख सकेंगे ?"

इन बातों को बोलने वाली उनकी जिह्वा ही नहीं, उनका सारा व्यक्तित्व अपनी समस्त आशा-आकांक्षाओं से प्रस्फुटित हो रहा था ।

डॉक्टर गंभीरतापूर्वक सोच रहे थे। उनके ओठों पर एक बार एक लघु मुस्कान दौड़ गई। उसे डॉ० राव ने नहीं देखा। वैद्यकीय शोध में निरंतर जीवन खपाने वाले वैज्ञानिकों के जीवन से डॉक्टर का परिचय था। उन्होंने सोचा—"ज्ञान-वृद्धि की साधना में इस तरह कोई भी न मरे तो मानव की सभ्यता जाने कितने निम्न स्तर पर होती !" डॉक्टर के मन में एक विचार उठा—"मुझ हृदय रोग-विशेषज्ञ से प्राप्त विश्वास से इनका लाभ होता है तो उस महान्, ग्रंथ के निर्माण में मैं क्यों बाधक बनूँ !" उन्होंने डॉ० राव का हाथ पकड़कर कहा—"आप कोई चिंता न करें। मैं अपने सारे अनुभव का उपयोग करके आपकी देखभाल करूँगा। यह भी विश्वास दिलाता हूँ कि बीच में आपको कुछ नहीं होगा।"

डॉ० राव का मन खुशी से नाच उठा। डॉक्टर को धन्यवाद देने के लिए शब्द नहीं मिले। डॉक्टर ने ही अपनी कार में डॉ० राव को बँगले तक पहुँचाया। उस रात डॉ० राव ने अपने निश्चय और डॉक्टर द्वारा दिलाये गये विश्वास के बारे में रत्ने को कह सुनाया तो वह स्तब्ध रह गयी। दो मिनट में उसकी आँखों में आँसू भर आये। आँसू देखकर डॉ० राव ने कहा—"तुम भी साधारण स्त्री की तरह रो रही हो ?"

"मैं मनुष्य नहीं हूँ क्या ? आपका कर्त्तव्य केवल विद्वज्जगत् के प्रति है, पत्नी के प्रति कोई कर्त्तव्य नहीं है ? आपका और उसका कोई संबंध ही नहीं ?"

निरुत्तर हो डॉ० राव ने सिर झुका लिया। रत्ने के प्रश्न ने उनके मर्म को स्पर्श कर दिया। 'मेरे लिए, मेरी साधना के लिए, अपने सारे सगे-संबंधियों को छोड़ अपना समस्त जीवन अर्पित कर देने वाली को मैंने क्या दिया ?'—यह प्रश्न उनके मन में पहली बार उठा। इसने मुझ से कोई अपेक्षा नहीं की। और मेरा कुछ दिन जीना ही उसे मिलने वाली आशा है, उन्होंने सोचा। "मैं मर गया तो रत्ने का क्या होगा ?" यह प्रश्न उठते ही उनका मन विह्वल हो उठा। एक दिन रात-भर सोचते रहे। दूसरे दिन कहा—"मैं नहीं लिखूंगा। लेकिन शीघ्र ही तुम्हीं लेखन कार्य प्रारंभ कर दो। मैं उसे पढ़कर सुधार दूंगा,

जांच दूंगा।"

रत्ने फूली न समायी। उसने पति का हाथ पकड़ स्नेह से दबा दिया। लगभग एक ही सप्ताह में लेखन कार्य प्रारंभ कर, दस दिनों में लगभग पचास पृष्ठ लिख डाले। इस विचार से कि हस्तलिखित लेख को पढ़ने में डॉ० राव को कष्ट होगा, उसे टाइप कर उनके सम्मुख रखकर बोली—"एकबारगी ही मत पढ़िए। दिन में चार पृष्ठ के हिसाब से देखिए।" डॉ० राव ने उसे देखा। रत्ने की अंग्रेजी की शैली, विषय-ज्ञान और विषय-प्रतिपादन करने की श्रद्धा-रुचि देखकर प्रशंसा में उन्होंने सिर हिला दिया। ये उनके जाने हुए विषय हैं। लेकिन अन्य चार खण्डों में निहित अंतःसत्व इस लेखन में नहीं था। रत्ने ने भी इस बात को स्वीकार किया।

डॉ० राव का जीवन यथावत् चल रहा था। वे टहलने जाते। यथेष्ट फल खाते। लेकिन ध्येय-साधना के अभाव में उनको जीवन असह्य लगने लगा। जिस व्यक्ति ने सदा क्रियाशील जीवन बिताया, उसे लगने लगा कि निष्क्रियता की अपेक्षा मरण ही श्रेयस्कर है। इस दुःख ने एक-दो सप्ताह में ही चेहरे और स्वास्थ्य पर असर दिखा दिया। इसे रत्ने ने भी समझा था। एक दिन डॉ० राव ने उससे कहा—"रत्ने, तुमने मेरे इस निष्क्रिय शरीर को चाहकर मुझ से विवाह नहीं किया था। जिस उद्देश्य से तुमने मेरा हाथ पकड़ा है, उसे पूर्ण करने दो। जिस तरह सामान्य स्त्री सोचती है कि पति के मरने पर मेरा क्या होगा, वैसे तुम मत सोचो। तुम उन स्त्रियों में अपना नाम मत लिखाओ।"

रत्ने का मुख गंभीर हो गया। उसकी आँखें चमक उठीं। पूरी रात वह सोचती रही। सुबह होते-होते वह एक निष्कर्ष पर पहुँच गयी थी। अब सुबह डॉ० राव जल्दी उठ, स्नान करके टहलने जाते थे। उस दिन उनके लौटते समय, रत्ने ने छह महीनों से निष्क्रिय पड़ी उनकी लेखनी को धोया और स्याही भरकर रख दिया। उनकी मेज पर लिखने के लिए आवश्यक कागज, सामग्री तैयार रखी। लौटने के पश्चात्, स्नान, उपाहार आदि से निपटने के बाद रत्ने उनका हाथ पकड़कर लिखने के कमरे में लिवा ले गयी। और बोली—"इतने

दिन मेरी बुद्धि पर अज्ञान का परदा पड़ा था। आप लिखिए। लेकिन अधिक श्रम न करें। सीमित रूप से लेखनी चलाइए। संभाव्य स्थानों में मुझ से लिखवाइए। मैं शीघ्रलिपि में लिख लूंगी। मैं हमेशा इसी कमरे में आपके पीछे ही एक कुर्सी पर बैठकर कार्य करती रहूँगी।"

डॉ० राव ने रत्ने का चेहरा देखा। उसकी आँखों में स्नेह और चमक थी।

२४

चीनी जब से कालेज जाने लगा है, तब से उसका संस्कृत, वेद, उपनिषद्, आदि का अध्ययन पूर्ववत्, नहीं चल रहा है। सुबह नौ बजे घर से निकलता है तो लौटते समय शाम के साढ़े छह बजते हैं। लौटकर हाथ मुँह धोकर संध्या-वंदन के बाद रात को भोजन करता। फिर श्रोत्रियजी लगभग दो घण्टे सस्वर वेद मन्त्र कण्ठस्थ कराते। छुट्टियों के दिनों में तो दोपहर में भी अध्ययन चलता था। चीनी को पहले से अधिक घी-दूध दिया जाने लगा। वह स्वयं रसोई में हाथ बँटाने आता तो श्रोत्रियजी मना करते हुए कहते, "तुम पढ़ लो, बेटे।" प्रथम वर्ष में जूनियर इन्टरमीडियेट में उत्तीर्ण होकर सीनियर कक्षा में पहुँच गया था। कार्य नियमित रूप से चल रहे थे।

आश्विन के बाद कार्त्तिक बहुल चतुर्दशी को श्रोत्रियजी के पिता का श्राद्ध था। आज वे बहुत अधिक थक गये थे। कारण, एक तो उपवास और दूसरे काम अधिक। इसलिए भोजन पकाने के लिए उन्होंने कुप्पय्या को बुलवाया था। वह एक दिन पहले आ गया। रसोईघर साफ किया। शुद्धाचरण में पानी लाया। मसाला तैयार

किया। श्राद्ध-कर्म कराने स्वय सुब्बय्य शास्त्री आये। श्रोत्रियजी अपने माता-पिता का श्राद्ध बडी श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक करते। देव-कार्य और पितृ-कार्य इन दोनों मे उन्हे समान भक्ति थी। उनका पूर्ण विश्वास है कि वंश के पूर्वज पितरों के तृप्त हुए बिना किसी भी वंश का उद्धार नही हो सकता। 'पूर्वभक्ति' कहलाना हो तो भी कर्मठ भक्तिपावन ब्राह्मणो को बुलाया जाता था। ऐसे ब्राह्मण रोज संध्या-वन्दन और गायत्री का जप करके सात्विक जीवन बिताने वाले होते हैं! ये भर-पेट भोजन करके श्राद्ध के कृत्य को सन्तोषजनक रूप से कराने की शारीरिक क्षमता रखने वाले होते हैं। एक भी दाँत न गिरा हो आयु ऐसी होनी चाहिये। वेदमन्त्रों के शुद्ध उच्चारण की शक्ति तो आवश्यक है। वे अपने यहाँ हर श्राद्ध मे काफी दान देते। हर वर्ष ब्राह्मणो को ताँबे की गंगाजली, पंचपात्र, एक जोड़ा पद्धा, एव चाँदी के दो-दो रुपये श्रद्धा से देकर साष्टाग नमस्कार करते थे। श्राद्ध की पहली रात, वे उपवास शुरू करते और दूसरे दिन सुबह एक हजार आठ गायत्री जपने तक एक बूँद जल भी ग्रहण नही करते थे।

कल श्राद्ध है। कृप्पय्या ने सब तैयारियाँ कर दी थी। श्रोत्रियजी ने एक अलग कमरे में चूल्हा जलाया और उस दिन का भोजन बना लिया। पहली पंक्ति के ब्राह्मणों को भी बुला चुके थे। दोपहर को लगभग तीन बजे ऊपरी मंजिल पर अपने अध्ययन-कक्ष मे श्रोत्रियजी कोई पुस्तक ढूँढ रहे थे। श्राद्ध से सबधित एक प्रश्न उनके मन मे उठा था। शायद गोभिल स्मृति मे इसका उत्तर दिया गया है! उत्तर मे कहे गये श्लोक लाख प्रयत्न करने पर भी स्मरण नही आ रहे थे। इस ग्रंथ की मुद्रित प्रति उनके पास नही थी। स्मरण हुआ कि छुट्टे कागजो की बनाई किसी बही मे उन्होने लिख रखा है। हस्तलिखित ग्रंथों से भरे सदूक मे ढूँढने लगे। उसमे हस्तलिखित पत्र, पुराने पत्र, मुद्रित अर्ध-जीर्ण पुस्तकें भरी थी। एक घण्टे तक ढूँढने पर भी वांछित पुस्तक नहीं मिली। सदूक बंद करने ही वाले थे कि उनकी दृष्टि अचानक एक कागज पर गई। कागज की जीर्ण स्थिति और मोटे अक्षर उन्हे अपरिचित से लगे थे। उनकी दृष्टि 'नमस्कार' शब्द पर पडी। यह सोचकर कि पहले किसी ने मुझे लिखा होगा, उसे देखा। पढते-पढते

आश्चर्य ही नहीं हुआ, मन विचित्र समस्या में उलझ गया। लिखा था :

"श्री ।। नंजुंड को किट्टप्पा का नमस्कार। उभय कुशलोपरि। पंद्रह वर्ष बाद तुम्हें पत्र लिखने की इच्छा हुई। अत्यन्त दुःख के साथ यह पत्र लिखना पड़ रहा है। तुम अपने ही छोटे भाई को धोखा देने वाले नीच हो। कई लोगों को तुमने धोखा दिया है। छोटे भाई से द्वेष के कारण धोखे से हड़पी गयी जायदाद कहीं छोटे भाई को न मिल जाय, इससे तुम दोनों को ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए था। हरि-कथावाचक श्यामदास की कथा हम सब जान गये हैं। परम पावन श्रोत्रिय-वंश की पिछली सात पीढ़ियों के पितरों को तुम्हारी धृष्टता के कारण नरक जाना पड़ रहा है। यदि तुम्हारी जायदाद कुत्ते-सियार खा जाते, तो भी मैं या मेरे बच्चे उसकी इच्छा नहीं करते। तुम्हारे पाप-पुण्य भगवान् देखेगा! तुम्हें शाप देकर पितर रौरव नरक जायें। नमस्कार। किट्टप्पा, एडतोरे मुकाम।"

बचपन में श्रोत्रियजी ने किट्टप्पा का नाम सुना था। वे श्रोत्रियजी के पिता के छोटे भाई थे। कभी-कभी घर में होने वाली बातचीत से वे यह जान गये थे कि भाई-भाई में बड़ा द्वेष था। लेकिन मेरी माँ के पितरों से परम पावन श्रोत्रिय-वंश के पितरों को नरक प्राप्त होने-जैसा कौन-सा कार्य हुआ है? वह कौन-सा पाप-कर्म है जो उनके छोटे भाई को मिलने वाली जायदाद को हड़पने के लिए किया गया था? ये श्यामदास जी कौन हैं? कल श्राद्ध होने के कारण श्रोत्रियजी का मन दिन-भर देव, पितरों के बारे में ही सोचता रहा। पितरों के नरक जाने की बात बताने वाले इस पत्र से उन्हें बड़ा क्लेश हुआ। इस बात को जान लेने की इच्छा हुई। लेकिन कौन बतायेगा? अब स्वयं उन्हें तिहत्तर वर्ष हो गये। तिथि रहित लिखा गया पत्र न जाने कितना पुराना है? उस समय की बातों को अब कौन जानता होगा? एकाएक उन्हें लक्ष्मी की याद आई। वह भी इसी घर में जन्मी है। स्त्रियाँ पड़ोसी स्त्रियों से ऐसी बातें जान जाती हैं, जिनका पुरुषों को पता नहीं होता। यह सोचकर वे नीचे उतरे कि लक्ष्मी अगर इस बारे में कुछ बता सकी, तभी कुछ होगा। लक्ष्मी बीच घर में बैठी तरकारी साफ कर रही थी। उसके पास जाकर श्रोत्रियजी ने पूछा—"तुमने श्याम-

दास नामक व्यक्ति का नाम सुना है ?"

लक्ष्मी कुछ समझ न सकी। उसकी मुखमुद्रा को देखकर श्रोत्रिय-जी ने कहा—"हो सकता है कि मेरे जन्म के पहले की बात हो ! हमारे घर से संबंधित विषय है।"

"हाँ, सुना है।" क्षण-भर यह सोच कि कहीं गलती हो गयी है, वह तुरंत चुप हो गयी।

उनके हाथ में जो कागज था, उसे पढ़कर उन्होंने पूछा—"पितरों के नरक जाने-जैसा कौन-सा कार्य था ? हरि-कथावाचक श्यामदास की क्या कथा है ? कहो।"

"मैं कुछ नहीं जानती, शीनप्पा। इतना सुना है कि ये हरिकथा कहने के लिए इस गाँव में आया करते थे, बस !"

श्रोत्रियजी फिर ऊपर गये। किसी के प्रति शंका करना उनका स्वभाव नहीं था। लेकिन आज उनका कुतूहल संदेह की चरम सीमा को पार कर रहा था। 'हाँ, सुना है।' तुरंत लक्ष्मी का बात रोक देना, उन्हें स्मरण हो आया। पुनः नीचे आये। लक्ष्मी के सम्मुख खड़े हो, अपने हाथ को आगे बढ़ाकर कहा—"लक्ष्मी, तुम मेरा हाथ पकड़ लो।"

कुछ न समझते हुए वह बोली—"क्यों ?"

"मैं जैसा कहता हूँ, वैसा ही करो।" उन्होंने लक्ष्मी का दाहिना हाथ पकड़कर कहा—"मेरा हाथ पकड़कर बोल रही हो। झूठ बोलोगी तो तुम्हें नरक मिलेगा। सच-सच कहो ! क्या इस कागज के बारे में तुम कुछ नहीं जानतीं ?"

लक्ष्मी ने सिर झुका लिया। श्रोत्रियजी के प्रश्न दुहराने पर वेदना मिश्रित ध्वनि में उसने कहा—"मुझे क्यों इस संकट में घसीट रहे हो, शीनप्पा ?" लेकिन श्रोत्रियजी ने नहीं छोड़ा। निरुपाय हो, अन्त में स्वीकार किया—"रात को चीनी के सो जाने के पश्चात बताऊँगी।"

रात के भोजन के पश्चात्, चीनी सो गया। अब श्रोत्रियजी ने पुनः पूछा। "यहाँ नहीं, ऊपर चलो।"—स्वयं उन्हें ऊपर अध्ययन-कक्ष में ले गयी और द्वार बंद करके पूछा—"यह सुनकर क्या करोगे ? व्यर्थ ही हठ क्यों कर रहे हो ?"

"हठ नहीं, न जाने इतना कुतूहल क्यों है ? बुरे-से-बुरा विषय हो, तो भी सुनाओ। उसे विस्मृत करने की क्षमता मुझ में है। मुझपर तुम्हारा जो विश्वास है, तुम्हें आज उसकी कसम है। तुम इस बारे में जो कुछ जानती हो, सविस्तार बताओ।"

"अच्छा, बैठो। तुमसे बढ़कर कौन-सी चीज है ?" वह चादर पर बैठ गयी। सामने बिछे हुए व्याघ्र-चर्म पर श्रोत्रियजी विराजमान हुए। किसी भी परिस्थिति में शांत रहने वाला उनका मन अब उत्कंठित हो रहा था। उन घटनाओं का स्मरण करते समय लक्ष्मी की आँखें मानों विगत जीवन की ओर देख रही थीं।

•

दुष्ट प्रवृत्ति के नंजुंड शास्त्री, छोटी आयु में ही, अपने पिता के स्वर्गवास के समय घर के मुखिया थे। अट्ठाईस वर्ष की आयु में उस परिवार का सारा अधिकार उनके हाथ में आ गया था। तब उनका छोटा भाई किट्टप्पा श्रोत्रिय चौबीस वर्ष का था। बड़ा भाई दुष्ट प्रवृत्ति का था तो छोटा भाई उदार। बड़ा भाई हर कार्य को लाभ की दृष्टि से देखता था, और छोटा भाई भावुक था। बड़े की अपेक्षा छोटे के मन में भगवान्, धर्म आदि के प्रति अधिक विश्वास था। बड़ा भाई कुरूप था। किट्टप्पा श्रोत्रिय हृष्ट-पुष्ट थे। उनकी पत्नी में अपने पति के वे सारे सद्गुण निहित थे। नंजुंड श्रोत्रिय की पत्नी तो मानों उसी के लिए थी। जब भाई-भाई ही परस्पर विरुद्ध थे, तो इन स्त्रियों में कैसे पटती ? विवाह के एक वर्ष पश्चात्, किट्टप्पा की पत्नी गर्भवती हुई और एक पुत्र को जन्म दिया। चौबीस वर्ष की उम्र में भी नंजुंड की पत्नी अच्चम्मा गर्भवती नहीं हुई। एक दिन दोनों स्त्रियों में झगड़ा हो गया। 'मनुष्य के पाप-पुण्य के आधार पर भगवान् उसे संतान देता है'—कहकर किट्टप्पा की पत्नी ने उसे नीचा दिखाया।

अपने पिता के श्राद्ध के दिन भाई-भाई में झगड़ा होता था। छोटा भाई अगर कहता कि दक्षिणा के रूप में ब्राह्मणों को चाँदी का रुपया देना चाहिए, तो नंजुंड भौंहें तानते हुए कहता—"स्वयं कमाओ तब देना, अपने जीते-जी पावली से अधिक नहीं दूंगा।" 'तुम', 'तुम्हारा

-बाप' जैसी गाली-गलौज भाइयों में कई बार हो चुकी थी। एक बार यह झगड़ा जबान तक सीमित न रहा। हाथापाई की नौबत आ गयी। किट्टप्पा ने बड़े भाई को दो-चार चपतें जड़ दीं। अच्चम्मा भी झगड़े में शामिल हो गयी। अकेले को दो का सामना करते देख, किट्टप्पा की पत्नी भी शामिल हो गयी। इस झगड़े के एक महीने बाद तक किट्टप्पा गुर्राता रहा, किन्तु नंजुंड दूसरे ही दिन मुस्कराकर छोटे भाई से बोलने लगा। "अपने ही पास रखो अपनी हेंकी, तुम बेशर्म हो।"—कहकर छोटे भाई ने उसे चिढ़ा दिया।

इस घटना के एक वर्ष पश्चात् भाई-भाई में इतना झगड़ा हुआ कि दोनों ने बँटवारा करने का निश्चय कर लिया। बँटवारा कराने के लिए चार पंचों के साथ किट्टप्पा के ससुर आये। नंजुंड श्रोत्रिय के ससुर भी आये। पंचों के सम्मुख घर-बार का विवरण देते समय नंजुंड श्रोत्रिय ने जमीन पर लिये हुए बीस हजार रुपये का ऋण बताया। अपने ससुर के भाई के नाम का कर्ज पत्र भी था। 'यह कर्ज झूठा है'—कहकर किट्टप्पा चिल्लाया। वह कोर्ट में भी गया। लेकिन उसी के हस्ताक्षर के पत्रों को नंजुंड श्रोत्रिय ने अदालत में प्रस्तुत किया। छोटे भाई को पत्रों का विवरण न समझाकर उसने पहले ही उसके हस्ताक्षर ले लिये थे। सब हिसाब कर, किट्टप्पा ने, फिर अपने हिस्से में भाई दो एकड़ जमीन बेच दी; बाल-बच्चों के साथ गाँव छोड़ दिया। एडतोरे के पास एक गाँव के मंदिर में अर्चक के रूप में उसका जीवन चलता रहा। लेकिन बड़े भाई के प्रति जो रोष था, कम नहीं हुआ। नंजुंड श्रोत्रिय रात में तीन बार खेती-बाड़ी और उसमें सिंचाई देखने जाते। यह उनकी आदत थी। एक दिन रात में घर के पिछवाड़े गुंडल नदी के तट के पास वे एक पेड़ के नीचे बैठे थे। किसी ने पीठ में जोर का मुक्का मारा। श्रोत्रिय के मुख से 'हाय' निकलने के पहले ही दूसरे व्यक्ति ने उसके मुँह में कपड़ा ठूँस दिया। जिसने पहले मारा था, उसने नंजुंड की धोती फाड़कर, उसके हाथ-पैरों को बाँध दिया। नंजुंड के विवस्त्र शरीर पर आक्रमणकारियों ने पेड़ की डालियाँ तोड़कर खूब मार लगाई। बाद में उसे वहीं छोड़ दिया। दूसरा कोई अँधेरे में यह कहकर भाग गया कि "तुमने मेरे साथ जो

धोखा किया, उसका फल चखो।" नंजुंड जान गया कि किट्टप्पा है। लेकिन वह कुछ बोल न सका, क्योंकि मुँह बँधा था।

अच्चम्मा घर में सो रही थी। सुबह उठी तो सोचा कि पति खेत की ओर गये हैं, वह अपने काम में लग गयी। सुबह पानी देखने के लिए गयी हुई एक महिला ने हाथ-पैर बँधे, विवस्त्र नंजुंड श्रोत्रिय को देखा और अच्चम्मा को आकर बताया। पास-पड़ोस के लोगों ने जाकर बंधित दुर्योधन को मुक्त किया और जब पता लगा कि उसे बाँधने वाला कोई गंधर्व नहीं, यह उसके भाई किट्टप्पा की करतूत है, तो वे सब मन-ही-मन हँसे। पन्द्रह दिन तक नंजुंड श्रोत्रिय ने शरीर पर पत्तों का लेप किया। किट्टप्पा के विरुद्ध कोर्ट में केस भी किया, लेकिन सबूत के अभाव में वह रद्द कर दिया गया।

बँटवारे के कुछ ही दिनों में नंजुंड श्रोत्रिय की आमदनी बढ़ने लगी। उसने देवरस ग्राम के पास नयी जमीन खरीद ली। सोना-चाँदी गिरवी रख, पैसा ब्याज पर उधार देने लगा। कई बार ब्याज आभूषणों के मूलधन से अधिक हो जाता तो ऋणों का छुड़ाना कठिन हो जाता। परिणामस्वरूप वे आभूषण उसी के हो जाते। लगभग दस वर्ष में घर में पैसा-ही-पैसा हो गया। पहले छोटा घर था, बाद में एक मंजिल का नया घर बँधवा लिया। सोना-चाँदी काफी हो गया था। अच्चम्मा सिर से लेकर पैर तक सोने के आभूषणों से लदी रहती थी। लेकिन दम्पति को एक चिन्ता ने घेर रखा था। "इस जमीन-जायदाद का उत्तराधिकारी कोई नहीं है। भविष्य में यह सब किसे मिलेगा ?" दान-धर्म का विचार तो उन्हें स्वप्न में भी न था। निःसंतान मर जाने पर, कानून के अनुसार यह सारी जायदाद छोटे भाई एवं उसके बच्चों को मिल जायेगी—यह विचार उन्हें आग-सा जलाने लगा। किट्टप्पा का मारना, नंगा करके बाँध देना आदि इस द्वेपाग्नि पर हवा का काम कर रहे थे। लेकिन वह अड़तीस का था, अच्चम्मा चौबीस की। अब उन्होंने धर्मस्थल के 'मंजुनाथ' की मनौती मानी। संतान होने पर, बच्चे की पाँच वर्ष की आयु में उसके वजन-तुल्य चाँदी देने का संकल्प किया और भगवान् के नाम पर पीतवस्त्र में चाँदी की पावली बाँध रखी। नंजुंड श्रोत्रिय ने एक ब्राह्मण से ललिता-

सहस्रनाम जपवाये। उसे रोज तीन पैसे और तांबूल देने लगे। किसी ने कहा कि नागदेव की प्रतिष्ठा करने से संतान होती है। पंद्रह रुपये खर्च कर, नदी के किनारे स्थापना की और दो ब्राह्मणों को भोजन कराया। लेकिन संतान नहीं हुई।

इसी संदर्भ में श्यामदास से नंजुंड श्रोत्रिय का परिचय हुआ। वे ऊँचे, आजानुबाहु व्यक्ति थे। विशाल चेहरा, बड़ी-बड़ी आँखें और लंबी नाक। श्यामदास का परिवार हरिकथा प्रवचन करता हुआ गाँव से दूसरे गाँव भटकता रहता था। वे कोल्लेगाम के रहनेवाले थे। सुरीले कंठ से निकलता लय-संगीत, शुद्ध उच्चारण के साथ निःसृत होते संस्कृत श्लोक, उनकी हरिकथा में रंग भरते थे। नंजुंड श्रोत्रिय को संस्कृत का ज्ञान था। उसने उन्हें घर बुलाकर पूछा कि संतान प्राप्ति के लिए क्या करना चाहिए। उनकी सलाह के अनुसार तिरुपति हो आने पर भी कोई लाभ नहीं हुआ। श्रोत्रिय ने एक बार मैसूर जाकर जाँच करायी। उसने डॉक्टर की राय पूछी तो पता लगा कि संतानोत्पत्ति के आवश्यक गुणों का उसमें अभाव है। अतः यह सोच-कर चुप बैठ गये कि किसी भगवान् से कुछ न होगा। दत्तक लेने का विचार आया। पास-पड़ोस के कुछ लोगों से पूछताछ की। कोई भी इसके लिए तैयार नहीं हुआ। इतने में उसके कानों में एक खबर पड़ी कि एडतोरे में किट्टप्पा कह रहा है कि निःसंतान भाई के मरने के बाद सारी जायदाद कभी-न-कभी उसके बच्चों को ही मिलेगी। यह सुनकर नंजुंड श्रोत्रिय का सारा शरीर जलने लगा। वह गरज उठा—'भले ही मेरे पितरों को नरक मिले, उस चांडाल की संतान को अपना एक पैसा भी नहीं मिलने दूँगा।' निःसंतान होने की निराशा, संतान पाने की असमर्थता और छोटे भाई के प्रति द्वेष-भाव, सब के सब एक साथ उसे जला रहे थे। लेकिन कानून के अनुसार यह सारी जायदाद किट्टप्पा के बच्चों को ही मिलेगी, इसी संदर्भ में नंजुंड को श्यामदास की याद आई। पहले असह्य प्रतीत हुआ, लेकिन छोटे भाई की बात कानों पर पड़ते ही वह अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँच गया था।

पहले अच्चम्मा भी इसके लिए तैयार नहीं हुई थी। चालीस वर्ष की उम्र में भी उस में मानव-सहज दुराशा, स्वार्थ, छल-कपट आदि कई

तुच्छ गुण थे, लेकिन वह पतिव्रता थी। पतिभक्ति का अभाव न था। फिर भी विवाह के दो वर्ष पश्चात् से माँ बनने की तीव्र अभिलाषा में जल रही थी। पति की योजना ने उस के मन में तिरस्कार पैदा कर दिया। लेकिन भविष्य में किट्टप्पा के बच्चे अपनी जायदाद का उपभोग करेंगे, यह विचार उसके लिए भी असह्य बन गया था। माँ की आशंका पुनः बलवती हो उठी। उसके समवयस्क या कुछ छोटे श्यामदास साल में दो बार नंजुंड आते थे। उनका हरिकथा प्रवचन आस-पास के गाँवों में हुआ करता था, लेकिन मुकाम वे नंजुंड में श्रोत्रियजी के घर ही करते थे। इस बार आये तो उन्हें घर में छोड़, नंजुंड श्रोत्रिय खेत पर चला गया। लगभग एक महीने के बाद अच्चम्मा उलटी करने लगी। नंजुंड चिंतत रहने लगा कि श्यामदास यह बात किसी से कह दे तो क्या होगा? एक दिन श्यामदास को घर बुलाया और उसे चार चपत जड़ दिये। साथ में उसे चेतावनी दी—"तुम्हें सज्जन समझकर घर में स्थान व भोजन कराया था, न कि नमकहरामी करने के लिए। तुमने फिर कभी इस गाँव के आसपास मुँह दिखाया तो जिंदा नहीं छोड़ूँगा। मेरे घर लौटने से पहले तुम इस गाँव से चले जाओ।" इतना कहकर वह अपने खेत की ओर चल दिया। दिग्मूढ़-सा श्यामदास भीतर गया तो पाँच सौ रुपये की थैली उन्हें सौंपते हुए अच्चम्मा ने कहा—"उनके स्वभाव से आप परिचित नहीं हैं। अब कभी इस क्षेत्र में न आइए। अवश्य आपकी हत्या करा देंगे।"

श्यामदासजी को अधिक दुःख नहीं हुआ। वे पुनः उस क्षेत्र में दिखाई नहीं पड़े।

नौ महीने भरने के पश्चात् अच्चम्मा ने एक बालक को जन्म दिया—सुलक्षण, सुघड़, विशाल ललाट, चौड़ा चेहरा। नंजुंड श्रोत्रिय ने बालक को अपने पिता का ही नाम, श्रीनिवास श्रोत्रिय, देकर धूम-धाम से नामकरण किया। गाँव वाले जान गये थे, लेकिन उसके सामने कोई कुछ नहीं बोलता था। कारण, उस क्षेत्र के अधिकांश लोगों को एक-न-एक दिन अपने जेवरात गिरवी रखने के लिए नंजुंड के घर जाना पड़ जाता था।

श्रीनिवास बड़ी सूक्ष्म बुद्धि का था। आठ वर्ष का होते-होते ब्रह्मोपदेश

महोत्सव सम्पन्न करा नंजुंड श्रोत्रिय ने उसे अपना प्रवर कह सुनाया—"काश्यपगोत्रोत्पन्न: काश्यपावत्सार नैध्रुव प्रवरत्रयान्वित आश्वलायन सूत्र समन्वित: ऋक् शाखाध्यायी श्री श्रीनिवास श्रोत्रियोऽहं... ।"

लगभग आध घण्टे में लक्ष्मी ने सारी बातें कह सुनाईं । श्रोत्रियजी उदास हो गये । उन्होंने पूछा—"क्या यह सब सच है, लक्ष्मी ?"

"मैंने अपनी आँखों से थोड़े ही देखा है ! मैं तो उम्र में तुम से पाँच वर्ष छोटी हूँ । जब मैं छोटी थी, मेरे पिता किसी से यह बात कह रहे थे । मैंने केवल सुना है ।"

श्रोत्रियजी चुप रहे । उनका मन अपने पिता नजुंड श्रोत्रिय और अपनी माँ का स्मरण कर रहा था । नजुंड श्रोत्रिय कुबड़े थे । काला रंग, चपटी नाक, सिर तो धड़ पर रखा कद्दू था । माँ भी सुलक्षणा नहीं थीं । पति जितनी ही ऊँची, लेकिन मोटापा नहीं था । छोटा-सा मुख ! श्रोत्रियजी का ध्यान अपने सुघड़ शरीर की ओर गया । चौहत्तर वर्ष की आयु में भी ऊँचा भरा-पूरा शरीर । उभरे विशाल चेहरे पर मोटी-मोटी आँखें ! लंबी नाक चौड़ा ललाट । उन्हें अनायास अपने शरीर के प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी । इस शरीर से उन्होंने कभी विशेष प्यार नहीं किया था, लेकिन अपने स्वस्थ शरीर से वे संतुष्ट थे । उनका विचार था कि स्वास्थ्य तो मानव जीवन का एक अंग है । लेकिन यह स्वस्थ शरीर अब उन्हें सुखदायक नहीं लग रहा था ।

"उठो, सो जायें । कल दोपहर तक सब कार्यों से मुक्त होने तक उपवास है । काम भी बहुत है ।" कहती हुई लक्ष्मी उठी । श्रोत्रियजी नीचे उतरे । बीबी के सिरहाने पासवाले मंच पर लेट गये । उनके चित्त में तूफान उठ रहा था । अपने माता-पिता के प्रलोभनपूर्ण जीवन के बारे में वे भी जानते थे । वे आभूषणों को गिरवी रख, ब्याज का धंधा करते थे—इसमें भी श्रोत्रियजी परिचित थे । पिता के गुजर जाने के बाद श्रीनिवास श्रोत्रिय ने न केवल ब्याज खाना बंद कर दिया, अपितु पिता से प्राप्त धन का तीन-चौथाई भाग गरीबों

को दान-रूप में दे दिया। अपने माता-पिता के जीवन-विधान के संबंध में कोई निर्णय देने को उनका मन कभी सहमत नहीं हुआ। उनका पूर्ण विश्वास था कि अन्यों की सही-गलत बात पर निर्णय देने का हमें क्या अधिकार है? उसमें भी माता-पिता के पाप-पुण्य की समालोचना करने वे कभी नहीं गये। उनका विचार था कि ऐसी समालोचना करना अपने अहंभाव का प्रतीक होगा। लेकिन आज मानों किसी ने उनके जीवन के गहरे विचार की जड़ को फरसे से काटकर समूल नष्ट कर दिया हो। अपने वंश के प्रति उनमें अपार अभिमान था। उनका विश्वास था कि अपने वंश की पवित्रता की रक्षा करना, उसे आगे बढ़ाना, हर एक का मुख्य कर्त्तव्य है। विवाह आदि संस्कार, गृहस्थ जीवन आदि जीवन की अवस्थाएँ तो वंश के पवित्र उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए निर्मित स्थितियाँ हैं—यह मानकर उसी जीवन-पथ पर चल रहे थे। गोत्र-प्रवर्तक कश्यप ऋषि की परंपरा में जन्म लेकर, अनादि श्रोत्रिय का नाम धारण किये अपने वंश के प्रति जो विश्वास था, उसकी नींव उनकी आँखों के सामने ही ढह रही थी।

यदि उन्हें मालूम होता कि वे श्रोत्रिय वंश के न होकर दूसरे वंश के माता-पिता की संतान हैं, और इस वंश में दत्तक पुत्र के रूप में हैं तो उन्हें इतना अपार दुःख न होता! अगर नंजुंड श्रोत्रिय अत्यंत गरीब दम्पति को तीन सेर 'नासनी' देकर बच्चे को लेकर अपनी संतान की तरह पालते तो भी उनका विश्वास न घटता। वे जानते हैं कि 'दत्तक' शब्द की उत्पत्ति ही संतानहीनों को संतान-प्राप्ति के लिए हुई है, लेकिन केवल वंश-श्रद्धा से या अपनी मृत्युके पश्चात् पिंडदान करने हेतु पुत्र की आकांक्षा से, नंजुंड श्रोत्रिय ने ऐसा नहीं किया था। प्रलोभन, धोखे से जो संपत्ति हड़पी गयी थी, वह कहीं अपनी मृत्यु के पश्चात् छोटे भाई के हाथ न लग जाय, इस द्वेष से इस अपवित्र पथ पर कदम रखा था। उनके अपने द्वेषभाव को जीवित रखने के निमित्त, मुझ बालक का जन्म हुआ! मेरा वंश कौन-सा है? मेरे जन्म का पावित्र्य कहाँ है? श्रोत्रियजी अपने माता-पिता के प्रति तिरस्कार दिखाने के बदले अपने जन्म को ही धिक्कार रहे थे। उस रात उन्हें नींद नहीं आई।

बीनी के बगल में लेटी लक्ष्मी को भी नींद नहीं आई थी। वह समझ गयी थी कि इससे श्रीनप्पा के मन पर आघात लगा है। इतने वर्ष से उनके मन में एक प्रश्न था—'ऐसे माता पिता के कुल में जन्म ले, ऐसे घर पलने पर भी श्रीनप्पा को धर्मराज जैसी बुद्धि कहाँ से मिली ?' उसे इस प्रश्न का उत्तर ही नहीं मिल रहा था। ज्ञात विषय के बारे में भी कभी किसी से कहना उनका स्वभाव न था। यह उनके जीवन का अनुभव था कि अपने ही आचार-विचार से मनुष्य ऊँच-नीच होता है। श्रीनप्पा को ईश्वर-तुल्य समझकर वह चल रही थी। अगर आज वे अपनी ही कसम दिलाकर मुँह न खुलवाते, तो उन्हें भी यह बात नहीं बताती।

बिस्तर पर करवटें बदलते हुए श्रीनप्पा से उसने कहा—"इससे मन भारी मत करो। हम सब यह सोचकर चलते हैं कि हम अपने माता-पिता की संतान हैं। वास्तविकता को कौन जानता है ? मैं तो पहले से मानती आई हूँ कि यह सब झूठ है। मनुष्य के कर्म के अनुसार भगवान् पाप-पुण्य का फल देता है। जिस दिन से मैंने देखा है, उस दिन से तुम धर्मराज की तरह हो। तुम्हें स्वर्ग मिलना निश्चित है।"

श्रोत्रियजी कुछ नहीं बोले। लक्ष्मी की बातें कानों पर पड़ती रहीं। लेकिन मन द्वन्द्व में ऐसा उलझा रहा कि कुछ समझ में नहीं आ रहा था। उन्हें प्रतीत होने लगा कि जिस आधार पर वे जी रहे थे, वही उनका हाथ छोड़ रहा है और वे अनन्त पात में फँसते जा रहे हैं। "धरती के अथाह गर्भ से जन्म ले, बादलों तक फैले वृक्ष की डाली हूँ। अब किसी ने उसे काट डाला है। आर्तनाद करती वह अन्तरिक्ष में गिर रही है। वह विशाल वृक्ष तो उपेक्षा एवं क्रूर नीरवता में ऐसा खड़ा है मानों उस डाली से उसका कोई संबंध ही न हो। मैं एक दिग्मूढ़ अनाथ हूँ। अपवित्र उद्देश्य के लिए अपवित्र रीति से जन्मा गिरा हूँ। हे भगवान्, किस जन्म के पाप के कारण तुमने मुझे इस स्थिति में जन्म दिया।"

उन्हें अपने माता-पिता की याद आई। उन्होंने लाड़-प्यार से पाला पोसा था। नंजुंड श्रोत्रिय कंजूस अवश्य थे, लेकिन पुत्र के प्रति स्नेह दिखाने में कंजूसी कभी नहीं दिखाई। मरने से पहले पैसा, सोना-

चाँदी गाड़कर रखा स्थान भी बता दिया था। माँ तो जीवन-भर उनके प्रति प्यार उँडेलती रही थी। पुत्र के खान-पान, कपड़े आदि की व्यवस्था करने में ही वह परम संतोष पाती थी। माता-पिता के स्वर्गवास के कई वर्ष बाद तक भी श्रोत्रियजी उन्हें स्मरण करते रहे थे। हर साल श्राद्ध करते समय उनका पुत्र वात्सल्य स्मरण हो आता था। अब तो पुत्र रूपी अंकुर का मूल ही निर्नाम हो गया! कैसा विपर्यास है, कैसी विडम्बना है—सोचते-सोचते श्रोत्रियजी ने करवट बदली।

उन्हें महाभारत का स्मरण हुआ। उस जमाने में निःसंतान व्यक्ति, केवल वंश वृद्धि के उद्देश्य से, शास्त्रानुसार पत्नी का परपुरुष से संसर्ग कराने में भी संकोच नहीं करते थे। लेकिन उस पुरुष को यति-सी मनःस्थिति प्राप्त महात्मा होना पड़ता था। शारीरिक तुच्छ काम वासनाओं पर विजय प्राप्त करके वह व्यक्ति, केवल उस स्त्री को वीर्य दान करने की स्थिति में चाहिए। यह भी एक यज्ञ-सा है। उसे नियोग कहते थे। इस कलियुग में यह प्रथा नहीं है। वर्तमान युगधर्म ही भिन्न है। प्रथाएँ भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त नियोग में अपनी सम्पत्ति के मोह में, पुत्र-प्राप्ति की तुच्छ कामना नहीं होनी चाहिए। लेकिन मेरे माता-पिता ने क्या किया? श्रोत्रियजी ने एक बार अंधकार में गहरी निःश्वास छोड़ी।

उनका निःश्वास सुनकर लक्ष्मी पुनः सांत्वना देने लगी—"शीनप्पा, कई कठिनाइयों में तुम अटल रहे। अब इस घटना से विचलित होकर निःश्वास छोड़ोगे? तुमने पहले कभी ऐसे निःश्वास छोड़ा हो, मुझे याद नहीं! चुपचाप सो जाओ। दूसरों के किये कार्य की हमें चिन्ता नहीं करनी चाहिए। चीनी के भविष्य की चिन्ता करनी चाहिए। अब सो जाओ, कल बहुत काम है।"

उन्हें याद आया कि कल अपने पिता नंजुंड श्रोत्रियजी का श्राद्ध करना है—मुझ पुत्र को। उन्होंने सोचा, यह एक विडंबना है। जिसके रक्त से जन्म नहीं लिया, धर्मानुसार जिस वंश का न हुआ, जिसने केवल द्वेष-पूर्तिवश उनके जन्म के लिए अपनी पत्नी को साधन बनाया, उसे पिता मानकर अब तक हर साल श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पिंडदान करते रहे। अब सत्य प्रकट हो चुका है। विश्वास का प्रमाण नष्ट होने के

पश्चात्, मात्र दिखावे के लिए नाटक करने से क्या लाभ ? यह भी धर्म की विडंबना है। प्रीति-श्राद्ध की बातें श्रोत्रियजी जानते थे। कोई निःसंतान मरे, तो उनके आत्मीयजन उसका श्राद्ध कर सकते हैं। लेकिन यह वैसी बात नहीं है। उन्होंने लक्ष्मी को आवाज दी। उसे नींद नहीं आई थी। उसने पूछा—"अभी तक नींद नहीं आई ?" श्रोत्रियजी बोले—"सचाई जान लेने के पश्चात् कल श्राद्ध करने में कोई अर्थ नहीं। सुबह उठकर पूर्वनिश्चित के ब्राह्मणों के घर जाकर कह आता हूँ कि श्राद्ध नहीं किया जा रहा है, अतः न आयें।

"लेकिन इतने वर्षों से ....।" लक्ष्मी की बात बीच में ही काट, उन्होंने कहा—"सचाई न जानने के कारण एक परम्परा, विश्वासपूर्वक कई वर्षों तक चल सकती है। इतने से ही वह वन्दनीय नहीं बन जाती। अब मैं भिन्न मनुष्य हूँ केवल श्रीनिवास, श्रोत्रिय नहीं।"

लक्ष्मी बैठी थी। श्रोत्रियजी सोचते रहे। आध घंटे बाद लक्ष्मी बोली—"तुम्हीं कहते हो न कि किसी भी कार्य को जल्दबाजी में नहीं करना चाहिए। तुमने ही कहा था कि धर्म की रेखा बड़ी सूक्ष्म है, खूब सोचे बिना वह समझ में नहीं आती। जल्दबाजी मत करो। कल का कार्य नियमित रूप से पूर्ण होने दो। तुमसे बढ़कर कौन जानता है ? बाद में शांत चित्त से सोचेंगे।"

श्रोत्रियजी चुप रहे।

दोनों रात-भर सो न सके। नींद न आने पर श्रोत्रियजी अपने नित्य नियम के विपरीत सुबह छः बजे जागने पर भी खिन्न मन से लेटे हुए थे। लक्ष्मी और चीनी उठकर अपने-अपने काम में लग गये। आज चीनी कालेज नहीं गया। सुबह आठ बजने से पहले ही सुप्पय्या आ गया था। घर के पिछवाड़े कुएँ से पानी खींचकर स्नान किया। कल रात लड़कों ने जो तरकारी साफ कर रखी थी, उसे पानी से धोकर शुद्ध किया और रसोईघर में प्रविष्ट हुआ। चीनी घुटने तक धोती बाँधे पहले ही सुप्पय्या के काम में हाथ बँटाने लगा। सारी रसोई शुद्ध घी में तैयार की गयी। श्रोत्रियजी ने अभी तक स्नान नहीं किया। घर के पिछवाड़े बाड़े में वे गाय की गर्दन सहला रहे थे। गायों के भी प्राण होते हैं न ? उन्हें अपने वंश की जानकारी है ? उन्हें अपने माता-पिता का

श्राद्ध-कर्म करने की समझ ही नहीं है। पति-पत्नी धर्म को निर्धारित करने वाली सामाजिक रचना ही नहीं हैं, तो मृत माता-पिता से संबंधित कर्त्तव्य का निर्णय कैसे किया जा सकता है ? विचित्र विचार श्रोत्रियजी के मन में उठ रहे थे—अनिर्दिष्ट गति से मँडराते बादलों की तरह अटके हुए थे। बारह बजे सुब्रह्मण्य शास्त्री आये। पूर्वपंक्ति के ब्राह्मण भी शुद्ध कपड़े पहन, माथे पर विभूति लगा, ताम्र पंचपात्र, गंगाजली हाथ में लिए आ गये थे। अभी तक बिना स्नान किये श्रोत्रियजी को बैठे देख, पहली पंक्ति में भोजन के लिए आए अनंतराम मास्टर ने कहा—"यह क्या ? क्या बात है, तबीयत खराब है ? आँखें लाल हैं ?" प्रश्नों का कोई उत्तर न दे, श्रोत्रियजी मशीन की तरह स्नानगृह की ओर चल पड़े।

अपराह्न में कार्य प्रारम्भ हुआ। मंत्र और उनके अर्थ समझने में प्रवीण श्रोत्रियजी को आज पता नहीं लगा कि शास्त्री क्या कह रहे हैं। कुश तर्जनी में रखने के बदले बीचवाली अँगुली में लगा लिया। सारे व्यवहार भूल-से गये थे। बार-बार शास्त्रीजी उनका ध्यान आकर्षित करते और निर्देश देते। फिर यह सोचकर कि आज श्रोत्रियजी का स्वास्थ्य कुछ नरम है, शास्त्रीजी धीमी गति से मंत्रोच्चार करने लगे। ब्राह्मणों के चरण धुले जल को श्रोत्रियजी ने स्वीकार किया। अंत में ब्राह्मणों का भोजन प्रारम्भ हुआ। चीनी परोस रहा था। आरामकुर्सी पर बैठे शास्त्रीजी ने पुनः पूछा—"क्या बात है, तबीयत खराब है ?" श्रोत्रियजी ने उत्तर दिया—"कोई खास नहीं, यों ही कुछ !" यह समझ कि शायद वे बात करना नहीं चाहते, शास्त्रीजी चुप रह गये। ब्राह्मणों का भोज चल रहा था। चीनी परोसता जा रहा था। श्रोत्रियजी का मन विचलित था, अपरिचित दिशाओं में भटक रहा था। अन्त में शास्त्रीजी के 'ब्राह्मण भोजनानंतरं तिलोदक पिंड प्रदानानि करिष्ये' श्लोक की ध्वनि श्रोत्रियजी के कानों में पड़ी। ब्राह्मण-भोज समाप्त हुआ और उन्होंने हाथ-मुँह धो लिये।

अन्त में दक्षिणाग्र ही, कुश ग्रहण कर उसे धोया और वहाँ बाँधकर रखे पिंडों में से एक को उठा लेने को शास्त्रीजी ने कहा। श्रोत्रियजी द्वारा वैसा ही करने के बाद शास्त्रीजी ने मंत्र पढ़ा "एतते अस्मत्पितुः।

नंजुंड देव शर्मण: काश्यपगोत्रस्य वसुरूपस्य काश्यपगोत्राय वसुरूपाय ग्रयं पिंड स्वधानमम् नमम् । तेभ्यश्च गयाया थी रुद्र पादेपु दत्तं.....।" उसे कुश के ऊपर रख दीजिए ग्रौर दूसरा पिंड उठा लीजिए। 'पितामह... शास्त्रीजी के मुख से ऊँचे स्वर में मंत्र निःसृत हो रहा था।

ये मंत्र कानों मे पड़ते समय श्रोत्रियजी को मानों चक्कर-सा ग्राने लगा। ग्रांखों मे अंधेरा छाने लगा। सँभालने की भरसक कोशिश की, लेकिन व्यर्थ। मुख से शब्द न निकला। बेहोश हो वहीं जमीन पर लुढ़क गये। उनके हाथ में जो पितृ-पिंड था, नीचे गिरकर टूट गया। भोजन कर बैठे हुए ग्रनंतराम मास्टर भयभीत हो दौड़े ग्रौर श्रोत्रियजी के पास बैठकर उनके सिर को ग्रपनी गोद में रखा। एक दूसरा ब्राह्मण उनके सिर पर ठण्डा पानी छिड़कने लगा। शास्त्रीजी ने चीनी को रसोईघर से बुलाकर कहा—' चीनी, दादा बेहोश हो गये हैं, एक पंखा लाग्रो।" चीनी घबरा गया। दौड़कर पखा ले ग्राया। कपाल पर काफी पानी छिड़कने ग्रौर पंखा झलने पर दस मिनट बाद श्रोत्रियजी को होश ग्राया। उठने का प्रयत्न किया, लेकिन उठ नहीं पाये। उनके सिर से एक शुद्ध वस्त्र बांधा। शास्त्रीजी ने कुप्पय्या से कहा—"तुम ही ग्राग्रो। 'पवित्र' धारण कर शेष कार्य पूरा किया जा सकता है।" कुप्पय्या कमर में एक पंचवस्त्र कसकर बैठ गया। श्रोत्रियजी ग्राँखें मूँदे लेट गये। चीनी उन्हें पखा झलने बैठ गया। टूटे हुए पिंड के बदले एक दूसरा पिंड बंधवाकर शास्त्रीजी ने पुन: 'ग्रस्मत्पितु'......' से प्रारंभ कर 'पितृ-पितामह प्रपितामहेभ्यः। गंधान समर्पयामि। तिलाक्षत यथाक्षतान समर्पयामि। श्री तुलसी पत्राणि समर्पयामि। दर्भानि समर्पयामि......।" मंत्र के साथ समाप्त किया।

श्राद्ध-कर्म समाप्त होने के पश्चात् ब्राह्मणों को पंचवस्त्र, पंचपात्र, गगाजली ग्रौर चाँदी के रुपयों की दक्षिणा दी गयी। इतने में श्रोत्रियजी को पूर्ण होश ग्रा गया। ग्राँखें खोलकर बात करने की स्थिति में ग्रा गये। शास्त्रीजी सोच रहे थे कि पितृपिंड का इस तरह टूटना श्रोत्रियजी के घर में ग्राने वाले ग्रनिष्ट की पूर्व-सूचना है।

एक दिन श्रोत्रियजी बोले—"चीनी, तुम कालेज से दो दिन की छुट्टी ले लो, एडतोरे जाना है।"

"क्यों दादाजी ?"

"मार्ग में बताऊँगा !"

लक्ष्मी को घर पर छोड़, वे दोनों रेल से मैसूर पहुँचे। मैसूर से एडतोरे जाने वाली एक बस में बैठे। श्रोत्रियजी ने पौत्र से कहा—"सुना है कि किट्टप्पा श्रोत्रिय मेरे चाचा थे। मैंने उन्हें देखा नहीं है। उन्हें जमीन-जायदाद में कानूनानुसार जो हिस्सा मिलना चाहिए था, उसमें मेरे पिताजी ने धोखा किया था। मेरी इच्छा है कि अगर चाचाजी के पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र कोई मिल जाय, तो उन्हें अपनी जायदाद में से आधा हिस्सा दे दूं। वैसा करना धर्म है, कर्तव्य है। इसमें तुम्हारी स्वीकृति है न ?"

"मुझसे क्यों पूछ रहे हैं ? आप जो उचित समझें, वहीकीजिए।"

"फिर भी, अगर उन्हें जायदाद में से आधा हिस्सा देना हो तो कागज-पत्रों पर तुम्हारे हस्ताक्षर चाहिए। मेरा क्या ? कभी भी 'बुलावा' आ सकता है। उसके हकदार तुम हो। तुम्हे सहर्ष यह मान लेना चाहिए।"

"आपने ही कहा न ?" पौत्र ने विश्वासपूर्वक हृदय से कहा—"उन्हें देने में धर्म है, न्याय है। उसे मैं सहर्ष मान लेता हूँ। आपकी हर बात सदा धर्मपूर्ण, न्यायपूर्ण रही है।"

श्रोत्रियजी को खुशी हुई। दोपहर के दो बजे वे एडतोरे स्टेशन पहुँचे। एक तांगा कर, नवनिर्मित नगर में अपने एक परिचित के घर पहुँचे। पच्चीस वर्ष पहले चालीस की उम्र के किट्टप्पा श्रोत्रिय के सम्बन्ध में पूछताछ करने लगे, तो पता लगा कि उस गाँव में श्रोत्रिय घराने का कोई भी नहीं है। नंजनगुडू से आया कोई परिवार यहाँ नहीं है। मन्दिर के अनेक लोगोंमें से किसी के दादा का नाम किट्टप्पा नहीं था। अंत में उस गाँव में पचासी-नब्बे वर्ष के एक वृद्ध मिल गये। वे भी कर्मठ सनातनी ब्राह्मण थे। नंजनगुडू से आये अतिथियों का आदर कर उन्होंने कहा—"मैं जब लगभग बीस वर्ष का था, तब इस गाँव में किट्टप्पा नाम का एक व्यक्ति था। नंजनगुडू के ही थे। उनके तीन बेटे

थे। उस समय वे लगभग चालीस-पैंतालीस के रहे होंगे। क्रुद्ध स्वभाव था। पास के ही एक मन्दिर में पुजारी थे। एक बार उनमें और मन्दिर के अधिकारी में झगड़ा हो गया। अधिकारी को खूब पीटा। वास्तव में गलती अधिकारी की थी, लेकिन बलवान पक्ष था वह। किट्टप्पा को नंजनगूड छोड़कर जाना पड़ा। बच्चों के साथ न जाने कहाँ चले गये—कोई नहीं जानता।"

अपना प्रयत्न विफल जान, निराश श्रोत्रियजी बीवी के साथ नंजनगूड लौट आये। विषय जानकर लक्ष्मी ने कहा—"अब उनके वंश को ढूँढ़ा नहीं जा सकता। यह विचार ही त्याग दो।"

दिन बीत रहे थे। चीनी कालेज जा रहा था। आजकल उनके वेदपाठ के प्रति दादा का उत्साह घट गया था। कभी-कभी पढ़ाते समय उनका मन कहीं और भटक जाता। अतः पाठ वहीं रुक जाता था। श्रोत्रियजी सोचते—"यह घर, जमीन-जायदाद, पैसा—इनमें से मेरा कुछ भी नहीं है। किट्टप्पा श्रोत्रियका यदि कोई सम्बन्धी मिल जाय तो इस समस्त सम्पत्ति को उसे सौंपना मेरा धर्म है। लेकिन उन्हें कहाँ ढूँढ़ें? कई दिन उन्हें भोजन नहीं रुचा। वे सोचने जो अन्न परोसा गया है, धर्मतः अपने हिस्से की जमीन का नहीं है; या किसी का मन:पूर्वक दान दिया हुआ नहीं है। इसे कैसे खाऊँ? उस दिन वे भोजन छोड़, उठ जाते और हाथ धो लेते थे।

याचक, हरिकथावाचक, देश-सवारी ब्राह्मण, शादी-विवाह के लिए पैसा जमा करने वाले नंजनगूड आते-रहते थे। कोई भी आता तो श्रोत्रियजी के घर गये बिना नहीं लौटता था। श्रोत्रियजी उदार दिल से उनकी मदद किये बिना नहीं जाने देते थे। आजकल ऐसे लोगों के आते ही वे पूछते, "जहाँ-जहाँ आप हो आये हैं, वहाँ-कहीं श्रोत्रिय वंश के किसी सदस्य से मिले या उसके बारे में सुना है?" सभी 'नहीं' कहते। "अनायास कहीं मिल जाय तो मेरे नाम एक कार्ड लिख दीजिएगा।" और अपना पता देकर कहते—"केवल श्रोत्रिय होना ही पर्याप्त नहीं है। उनके वंश के दादा या परदादा का नाम किट्टप्पा श्रोत्रिय होना चाहिए। ये किट्टप्पा श्रोत्रिय मूलतः नंजनगूड के थे। इतनी जानकारी लेकर मुझे अवश्य पत्र दीजिए। इस वृद्ध की बड़ी सहायता होगी।"

समाचार-पत्र में विज्ञापन भी दिया कि 'नंजनगुडु से गये श्रोत्रिय-वंश का कोई व्यक्ति कहीं हो, तो वह अवश्य सूचना दे। उन्हें ~ मीन-जायदाद दी जाने वाली है।' लेकिन किसी का उत्तर नहीं मिला।

श्रोत्रियजी को आजकल कात्यायनी का स्मरण होने लगा। वह अपने यौवन की ऊष्मा में अपने वैधव्य के नियम का उल्लंघन कर, नये पति की खोज में निकल पड़ी थी। एक वंश के पुत्र को जन्म देकर दूसरे वंश के पुरुष की पत्नी बनी। उनके मन ने अपने नाममात्र के पिता नंजुंड श्रोत्रिय और अपनी माता के चाल-चलन की तुलना कात्यायनी के व्यवहार से की। कात्यायनी में कोई क्षुद्रता नहीं थी। धोखा, द्वेष-भावना को तृप्त करने के लिए अनुचित मार्ग अपनाने का कोई कल्मष नहीं था। आधुनिक विचार की हवा भी उसमें नहीं थी। उसमें एक ही दोष था—अपने यौवन की ऊष्मा को सहने की असमर्थता। इसे जान-कर वह दूसरे की पत्नी बनी। एक दृष्टि से उसके व्यवहार की प्रशंसा करनी चाहिए। अपने माता-पिता के व्यवहार की याद आते ही श्रोत्रियजी के सारे शरीर में मानों आग लग जाती थी। दो-तीन घंटे के लिए उनका मन क्रोध एवं तिरस्कार से भर जाता था। फिर वे ही मन को समझा, पछताने लगते थे। 'इतने दिनों से प्राप्त चित्त शांति को अब क्यों खोऊं?' तिरस्कार आदि राजस-तामस भावों को मन में पनपने का अवसर क्यों दूं? अगर देव संकल्प यही है कि मैं इस तरह जन्म लूं तो इसमें किसका दोष? माता-पिता के प्रति क्रुद्ध होने, उनके पाप-पुण्यों को तोलने का अधिकार मुझे कहां है? हे भगवान! पूर्ववत मुझे वही मन दो जिससे मैं अन्यों के पाप-पुण्यों को तोलने का प्रयत्न न करूं!' श्रोत्रियजी आंख मूंदे मन ही मन प्रार्थना कर रहे थे।

२५

निरंतर पाँच महीने तक लेखन कार्य में लीन रहकर डॉ० राव ने अपने ग्रंथ का पंचम खण्ड पूर्ण करके संतोष की साँस ली। जिल्द की अंतिम पंक्ति समाप्त की रात के दस बजे। रत्ने उनके पीछे एक कुर्सी पर बैठी उनकी हस्तप्रति पढ़ रही थी। लेखनी नीचे रखकर डॉ० राव ने रत्ने को पुकारा। वह पास गयी। उसका हाथ पकड़कर भावुकतावश कहा—"जीवन की महत्वाकांक्षा पूर्ण हुई।" रत्ने का हृदय भर आया। उसने पति के हाथों को दबाया और नजदीक सरककर उनका सिर अपने वक्षस्थल से लगाकर कहा—"अब आपका कार्य समाप्त हुआ। भगवान् ने आपको आशीष दिया है। अब से आपको डॉक्टर की सलाह के अनुसार ही चलना चाहिए। किसी और बात की तनिक भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए।"

उस दिन से डॉ० राव को जीवन में एक अवर्णनीय आनंद मिलने लगा था। बीस वर्ष के निरंतर श्रम, श्रद्धा, और तप के फल-स्वरूप एवं रत्ने की आत्मभक्ति के प्रतीक के रूप में उनका ग्रंथ पूर्ण हुआ है। डॉ० राव सोचने लगे—'हर व्यक्ति को चाहिए कि अपने ही एक विशिष्ट पथ द्वारा जीवन को सार्थक बनाए। अपने पथ पर मैं सार्थकता की सीढ़ी तक पहुँच गया हूँ। इस ग्रंथ रचना के सिलसिले में संगृहीत सामग्री से इसी विषय से संबंधित चार-छह छोटी पुस्तकें लिखी जा सकती हैं, आठ-दस लेख लिखे जा सकते हैं। लेकिन इस कार्य को करने की शक्ति मुझ में नहीं है। यह रत्ने को ही करने दो। भगवान् ने आयु दी तो उसके लेखों को मैं यत्र तत्र सुधार सकूँगा।' अब वे रोज टहलने जाते। कभी-कभी सुबह रत्ने

को भी साथ ले जाते । 'यह कार्य आने के पश्चात् कर लेना' कहकर रत्ने को विवश करते । रत्ने के सामने अनेक कार्य थे, जैसे पुस्तकालय में डॉ० राव के लेखों की संदर्भ-सूची बनाना, ग्रंथों के पृष्ठ देखना, लेखन-शैली को कहीं-कहीं सुधारना, विषय-प्रतिपादन के क्रम में कहीं हेरफेर हुआ हो तो उसे क्रमबद्ध करना, और फिर पूरा खण्ड दुबारा टाइप करके प्रकाशकों को भेजना। डॉ० राव की हार्दिक इच्छा थी कि अंतिम खण्ड अपनी पत्नी रत्ने को समर्पित कर दिया जाय। लेकिन रत्ने सहमत नहीं हुई। उसका कथन था कि कोई भी पिता अपनी संतान उसी की जन्मदात्री को अर्पित नहीं करता।

रत्ने अपने कार्य में खो जाती थी। डॉ० राव रोज एक घण्टे के लिए कालेज जाते। घर लौटकर सो जाते थे। कई बार समय काटने के लिए पड़ोसी प्रोफेसर के घर चले जाते। 'अंत में डॉ० राव भी मनुष्य बन ही गये' कहकर प्रोफेसर मजाक करते। डॉ० राव कभी-कभी कालेज के अपने विद्यार्थियोंको घर बुलाकर उन्हें चाय-पानी पिलाते और हँसी-मजाक करते। उनका मन अब वैसा ही हलका हो गया है, जैसे अपने वाष्प-भार को वर्षा के रूप में त्याग-कर मेघ ठंडी हवा के झोंके में लहराता है। एक दिन उन्हें नागलक्ष्मी की याद आई। उन्हें लगा, 'मेरे हृदरोग के बारे में वह नहीं जानती होगी। जानती तो अपने समस्त क्रोध को पीकर भी यहाँ दौड़ी आती। अपनी बीमारी को उससे छिपा रखना भी उसके प्रति अन्याय ही है।' यद्यपि उन्हें नागलक्ष्मी की उस दिन की कटु बातें याद थीं, फिर भी अपनी बीमारी से मुक्त हो, ग्रंथ-रचना पूर्ण होने के पश्चात् उसके प्रति एक भाव जाग्रत हुआ। उनका मन कहता—"न जाने मैं कितने दिनों का मेहमान हूँ! अब शेष जीवन में उसे भी साथ रखना चाहिए।" उसे बुलाने के बारे में रत्ने से कहा तो वह बोली—'पहले की तरह ही रूखी बात की तो—? डॉक्टर ने तो चेतावनी दी है कि किसी तरह के भावोद्रेक का अवसर न आने देना चाहिए।'

"मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस बार ऐसा नहीं होगा।"

"मैं भी चलूँ?"

"नहीं, मैं अकेला ही जाता हूँ। राज घर पर ही होगा।" उस दिन सुबह टहलने जाने के बदले पैरों को लक्ष्मीपुर की ओर बढ़ाया। राज घर पर ही था। वही पहले बाहर आकर भाई को भीतर साथ ले गया। कात्यायनी ने उन्हें एक लोटा गरम दूध दिया। वह अब सूखकर सफेद हो गयी थी! शरीर में रक्त का नाम नहीं था। डॉ० राव कारण जानते थे। अतः कुछ बोले नहीं। लेकिन उन्होंने राज से कहा—"ग्रंथरचना पूर्ण हो गयी है। नागु को ले जाने के लिए आया हूँ। वह अभी चले तो साथ ले आऊँगा।" राज भीतर गया। इस बीच कात्यायनी ने पृथ्वी को बाहर भेज दिया। उसने आकर पिता के चरण स्पर्श किये। उसके सिर को स्पर्श कर आशीर्वाद देने के बाद डॉ० राव ने पूछा—"अब किस कक्षा में हो?"

"इस वर्ष बी० एस-सी० की तैयारी कर रहा हूँ।"

"उस घर की ओर भी आया कर। शाम को आना। घूमने चलेंगे।"

"अच्छा!"

भीतर जाकर राज ने नागलक्ष्मी को सारी बात बतायी तो उसने स्पष्ट कह दिया—"मैं किसी के घर नहीं जाती।" राज ने धीरे से डॉ० राव की बीमारी के बारे में उसे बताया। डॉक्टर के मना करने के बावजूद ग्रंथ-रचना की बात बताकर कठोर बनकर बोला—"शायद तुम्हारे कारण ही उन्हें हृदय का पहला दौरा आया था। अब भी उनकी स्थिति बहुत ही नाज़ुक है। अब फिर तुम हठ करने लगोगी तो पता नहीं, उनके मन को कितना आघात लगेगा, कब क्या हो जाय! क्या तुम उस सबके लिए तैयार हो?"

दो मिनट में नागलक्ष्मी पिघल गई—"अशुभ क्यों सोच रहे हो? एक घण्टे में भोजन तैयार हो जाता है। उन्हें रुकने के लिए कहो। उनके साथ तुम सबको परोसूँगी। फिर मैं भी खा लूँगी। यहाँ कात्यायनी की यह हालत है, तुम उसे कैसे सँभालोगे?"

"हमारा तो किसी तरह चल जायेगा। खाना पकाने में मैं भी हाथ बँटाया करूँगा। पृथ्वी भी तो है, आवश्यकता पड़ने पर वहाँ से रागप्पा को बुला लेंगे। घर का ऊपरी काम कर देगा तो कात्यायनी दाल-भात

पका लेगी।"

बाहर आकर राज ने भाई को सारी बातें बतायीं।—"आप भोजन कर लीजिए।" दोनों भाई बातों में लग गये। साढ़े नौ बजे डॉ॰ राव ने वहीं स्नान किया। फिर भोजनके लिए बैठने ही वाले थे कि रत्ने आ पहुँची। राज ने स्वागत किया। वह बोली—"इनकी स्थिति काफी नाजुक है, इतनी देर नहीं लौटे, तो मैं घबरा गयी थी।"

"आइए, भोजन के पश्चात् तीनों साथ जाइएगा।"

रत्ने भीतर गयी। हाथ-पैर धोये। भोजन के लिए बैठने से पूर्व, भीतर जाकर नागलक्ष्मी को प्रणाम किया। अचानक नागलक्ष्मी सकपका गयी। समझ न सकी कि क्या करना चाहिए। वह चुपचाप खड़ी थी। लेकिन उसका मन आनंद से भर गया। सबको बैठाकर उसने भोजन परोसा। भोजन होने तक राव तांगा ले आया। खाते समय डॉ॰ राव ने कात्यायनी से कहा—अब अलग दो-दो घरों में रहने की आवश्यकता नहीं। सब वहीं आ जाओ। अब तुम सब लोगों के साथ जितना अधिक रहता हूँ, उतना ही अधिक आनंद महसूस करता हूँ।"

गाड़ी में यात्रा करते समय तीनों का मन आनंद में डूबा हुआ था। रत्ने किसी उन्नत भावना का अनुभव कर रही थी। डॉ॰ राव को प्रतीत हो रहा था कि जीवन पर काली छाया का एक क्रूर द्वंद्व सुलझ गया, किसी समन्वय को संगति प्राप्त हुई। नागलक्ष्मी का मन श्रीराम का स्मरण कर रहा था। वह मन-ही-मन कह रही थी—"तुम पर विश्वास करने वालों का तुम कभी हाथ नहीं छोड़ते। 'श्रीराम जयराम जय-जय राम। श्री रामं शरणं मम।'

नागलक्ष्मी जिस घड़ी उस घर में प्रविष्ट हुई, घर को नया जीवन मिला। रसोईघर में रागप्पा द्वारा बनाया भोजन देखा। मिर्चों का डिब्बा खोलकर देखा। उसी दोपहर को रागप्पा को भेजकर मसाला मँगवाया। खुद कूटा और महकता हुआ मसाला बनाया। शाम को उसे बाजार भेजकर नीबू, अदरक, फल-फूल, पान, तरकारी आदि मँगवाई। चूर्ण का डिब्बा एवं सुपारी भी। शाम को जब वहाँ पृथ्वी आया तो

उससे भगवान् श्रीराम का चित्र, रामनामलेखन की बही, स्याही की बोतल और कलम मँगवाई। उस दिन रात को उसी ने भोजन पकाया। डॉ० राव और रत्ने को परोसा। संकोचवश रागप्पा नागलक्ष्मी के भोजन के पश्चात् खाने बैठा। अपनी टूटी फूटी कन्नड़ में रत्ने नागलक्ष्मी से बात कर लेती थी। रत्ने ने नागलक्ष्मी को 'सिस्टर' कहकर संबोधित किया। डॉ० राव ने समझाया कि उस शब्द का अर्थ है 'दीदी'।

दूसरे दिन सुबह चार बजे उठकर नागलक्ष्मी ने चूल्हा जलाया। रत्ने और डॉ० राव सुबह पाँच बजे उठे, तो उन्हें दूध गरम करके दिया। डॉ० राव हाथ में छड़ी लिये टहलने निकल पड़े। रत्ने भीतर आकर बोली—"दीदी, कुकिंग में मैं हैल्प करूँ?" नागलक्ष्मी ने कहा—"नहीं, तुम लिखो-पढो। जिस कार्य को मैं अच्छी तरह कर सकती हूँ, मुझे करने दो। तुम जिसे अच्छी तरह कर सकती हो, तुम करो।' रत्ने धीरे से मुस्करा दी। उसे एक अनुपम सुख की अनुभूति हुई। उल्लासपूर्ण मन से अध्ययन-कक्ष में बैठकर हस्तप्रति पढने लगी। डॉ० राव टहलकर साढे आठ बजे लौटे, तो नागलक्ष्मी उन्हें स्नान कराने ले गयी। अपने हाथों से पानी डाला और शरीर मलकर स्नान कराया। उनके यह पूछने पर कि 'क्या मैं बच्चा हूँ?' कहा—'बच्चे नहीं तो और क्या हैं, अपने स्वास्थ्य की ओर ध्यान देना भी नहीं आता।' कहकर कृत्रिम क्रोध दिखाते समय उसका मन हर्ष से भर गया था। दस बजे भोजन परोसने से पूर्व रत्ने एवं डॉ० राव को बुलाकर बोली—"आइए, पहले रामचंद्रजी को नमस्कार कीजिए। बाद में भोजन।" उन दोनो ने श्रद्धापूर्वक भगवान् के सामने सिर नवाया। डॉ० राव की ओर इशारा करके रत्ने, नागलक्ष्मी से बोली—"ये हमारे घर के रामचन्द्र है, इज ही नाट?" यह सुनकर डॉ० राव ने कहा—"लेकिन इस राम की दो पत्नियाँ है।" रत्ने, नागलक्ष्मी दोनो खूब हँसी। उस दिन भोजन का स्वाद ही दूसरा था। ऐसा स्वादिष्ट भोजन कुछ वर्ष पहले नागलक्ष्मी ने ही बँगले में बनाया था। डॉ० राव को उसका स्मरण हो रहा था। बने हुए विभिन्न पदार्थ सबके सब इतने स्वादिष्ट थे कि

किसे खायें, किसे छोड़ें—यही समझ में नहीं आ रहा था। भोजन के स्वाद ने रत्ने को चकित कर दिया था। रोज की अपेक्षा आज उसने अधिक खाया। डॉ० राव ने भी कुछ अधिक ही खाया।

भोजन के पश्चात् रत्ने हस्तप्रतियां लेकर पुस्तकालय गयी। नागलक्ष्मी खाने बैठी तो डॉ० राव रसोईघर में आकर उसे परोसने लगे। 'नागु, आज तक जो हुआ, सो हुआ। आज से रोज मुझ से परोसवा लेना' कहकर इतना परोसते रहे कि नागलक्ष्मी बस-बस करती रही। "कात्यायनी कैसी है? वह मान जाय तो हम सब साथ रहें। इतना बड़ा बंगला है। इसका भाड़ा देते हैं, वहां वे अलग भरते हैं। कात्यायनी की तंदुरुस्ती भी ठीक नहीं है। तुम्हारे बिना राज का भी दिल नहीं लगता। पृथ्वी भी हम लोगों के साथ रहने लगेगा।"

नागलक्ष्मी के भोजन के पश्चात् रागप्पा खाने बैठा। उसने कहा—"माँ, कम-से-कम अब तो आप बाहर जाइए। आप काम करती हैं तो मुझे बैठने में शर्म आती है। आपके समान भोजन बनाने के लिए सरस्वती का अनुग्रह चाहिए।" थाली में तांबूल रखकर नागलक्ष्मी बाहर के कमरे में आई। डॉ० राव अपने पलंग पर बैठे थे। कमरे का द्वार बन्द कर भीतर आकर पलंग के पास कुर्सी पर बैठकर नागलक्ष्मी ने पूछा—"आपको तांबूल दूं?"

"नहीं, डॉक्टर ने मना किया है।"

नागलक्ष्मी ने भी पान नहीं खाया। चवालीस वर्ष की उम्र में सिर के अधिकांश बाल सफेद हो गये हैं। संवार कर बांधे गये सफेद बाल चमक रहे थे। गाँठ पर शेवंतिका पुष्प सुशोभित था। विशाल ललाट के बीच में थोड़ा सिंदूर दिखाई दे रहा था। उसके नीचे लघु चन्द्राकार बिंदु। सात्विक कांतिमय उसके चेहरे पर पहले का-सा मुग्ध सौंदर्य अब भी है। पहले जैसे उसके दोनों हाथों में चूड़ियां हैं। गाल, हाथ-पैरों में लेपन की हुई हल्दी भी स्पष्ट दिखाई दे रही थी। उसे दो मिनट अपलक देखते रहने के बाद डॉ० राव ने कहा—"नागु, इतने दिन तुमसे अलग रहा। तुम्हारे साथ रहता तो हृष्ट-पुष्ट रहता।" नागलक्ष्मी ने सिर झुका लिया। उसकी आँखों में आँसू भर आये। यह देख डॉ० राव ने उसका हाथ पकड़कर खींच लिया और पलंग पर अपने पास बैठाकर

बोले—"रोओ मत ! मैं तुम्हें अब कभी नहीं छोड़ूँगा।"

"आप थक गये हैं, लेट जाइए।" और अपनी गोद में सुला लिया। पैर पसारकर पत्नी की गोद में सिर रखकर विश्राम कर रहे डॉ० राव का मन अपूर्व हर्ष के प्रवाह में बह चला। उनका मुख अपने हाथों में लेकर पति से पूछा—"आप जब बीमार पड़े, मुझे क्यों नहीं बुलाया ? उस दिन जब मुझे बुलाने आये थे, तब मुझे गुस्सा आया हुआ था। लेकिन आपके बीमार पड़ने पर सेवा न करने जैसी पापिन हूँ क्या ?"

"ऐसा मत कहो, नागु ! तुम सचमुच भाग्यशालिनी हो। इतने दिनों तक तुम्हारे साथ ऐसे व्यवहार के कारण मैं ही पापी हूँ।"
"छिः ! छोड़िए भी, आप ऐसा न कहें।" उनके मुख पर हाथ रख दिया। हाथ हटाकर उन्होंने कहा—"मैं पाप-पुण्य की विवेचना नहीं करता। तुम भी जानती हो। किसी नीच प्रवृत्ति की चपेट में आकर मैंने रत्ने से विवाह नहीं किया। वह न होती तो शायद मेरे ग्रन्थ और दस वर्ष में भी पूर्ण न हो पाते। हम तीनों, पहले से ही इस तरह रह सकते थे। लेकिन नवीन मनोभाव की रत्ने ने यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। हमेशा उसके साथ रहे बिना मेरा ग्रन्थ पूर्ण न हो पाता। फिर भी अंततः हम एक हो गये। इससे बढ़कर और क्या हो सकता है !"

डॉ० राव का आनन्द निरन्तर बढ़ता जा रहा था। जीवन का द्वन्द्व समाप्त हो गया। और मन की शांति प्राप्त करके वे एक सुसगति के आनन्द-सागर में डूब गए। ऊँची आवाज में वे बोले—"मैंने जिस महादेश की भव्य संस्कृति का इतिहास लिखा है उसके उन्नत दर्शन, कला, धर्म—संसार को प्रदान करने वाली वह संस्कृति कितनी महान् है ! इसके महाप्रवाह को अपनी गंगा का जल प्रदान करने वाले महानुभावों के अतःसत्व को समझाने का कितना प्रयत्न किया है मैंने ! वह निरा प्रयत्न नहीं। उस लेखन कार्य ने मुझे तृप्ति दी है। महा साधना में छोटी-छोटी त्रुटियाँ भी हुई होंगी ! नागु, हम दोनों का अलग रहना, तुम्हारा इतने वर्ष दुःख सहना, आदि इस साधना के लिए शायद अनिवार्य था ! भगवान् की शायद यही मर्जी थी। अब जिस तरह कार्यक्रम के अंत में सब एक होकर मंगल गीत गाते हैं, वह क्षण भी आ गया कि मैं तेरी गोद में सिर रखकर सो जाऊँ ! नागु, जानती

हो मुझे कितना आनन्द मिल रहा है ? मेरी छाती पर मुख रख लो। मुझे अपनी बाँहों में भर लो। क्या तुम्हें खुशी नहीं हो रही है ?" कह कर उन्होंने पत्नी की कमर अपने दोनों हाथों से पकड़ ली। नागलक्ष्मी की आँखों में आनंदाश्रु भर आये। उसने उन्हें सीने से लगा लिया। "नागु, यह हर्ष, हर्ष को···"आगे बोलना कठिन लगा। "मैं सह नहीं सकता—" बड़े कष्ट से कह पाये। साँस रुक-सी गयी। शरीर पसीने से तर हो गया। छाती के बायें पक्ष में असह्य वेदना हुई। वे आगे बोल नहीं सके। धीरे से अपना हाथ छाती की ओर ले गये। नागलक्ष्मी भयभीत हो उठी। अपने सीने से लगाये हुए उनके मुख को हटाकर पुनः गोद में लिटाया। डॉ० राव के मुख पर क्षण-भर में यम-यातना दिखायी दी। कुछ न सूझा तो उसने रागप्पा को आवाज दी। रागप्पा के दौड़कर आने तक डॉ० राव के चेहरे पर की वेदना घटती-सी दिखाई पड़ने लगी। आँखें मुँदी हुई थीं। हाथ-पैरों का हिलना-डुलना बन्द हो चुका था। रागप्पा ने डॉ० राव का हाथ पकड़ा, नाक के पास हाथ ले जाकर देखा। वह समझ गया। "प्रोफेसर को बुलाता हूँ" कहकर बाहर दौड़ा। नागलक्ष्मी को शंका हुई। वह जोर-जोर से रोने लगी। एक क्षण पहले आनंदाश्रुओं से भरी हुई आँखों से दुःख का प्रवाह उमड़ने लगा।

प्रोफेसर घर में नहीं थे। उनकी पत्नी आई। उनके आने तक नागलक्ष्मी समझ चुकी थी। प्रोफेसर की पत्नी ने उसका हाथ पकड़ लिया। उसका रुदन और भी बढ़ चला। पाँच मिनट में रत्ने रागप्पा के साथ दौड़ती आई। कमरे का दृश्य देखकर वह तुरन्त कहना चाहती थी, "आपके साथ रहकर भावोद्रेक के कारण उन्हें 'हार्ट अटैक' हुआ है।" लेकिन बात जबान तक आकर रुक गयी। अपने अब तक के साथी डॉ० राव के शरीर पर वह लुढ़क गयी।

डॉ० राव की मृत्यु की सूचना मिलते ही कालेज के प्राध्यापक, विद्यार्थी आदि उनके बँगले पर आये। प्रिंसिपल ने छुट्टी की घोषणा कर दी। दूसरे दिन संपन्न शोक-सभा में उनके हर ग्रंथ की एक प्रति सबके देखने के लिए मेज पर रखी गयी। मेज के पास कुर्सी पर डॉ०

राव का भावचित्र था। उस पर बड़ी-सी पुष्पमाला पड़ी हुई थी। उस सभा में बोलते हुए उपकुलपति ने रुद्ध कंठ से कहा—"किसी भी विश्वविद्यालय की क्षमता, महत्त्व, प्रतिष्ठा ऐसे महान् विद्वानों एवं ऐसे महान् ग्रन्थों से ही बढ़ती है, न कि अधिकारी-वर्ग से।" अन्य तीन वयोवृद्ध प्रोफेसरों ने जब कहा, "डॉ० राव हम-जैसे प्रोफेसरों के गुरु माने जाते हैं। समस्त जीवन को ज्ञानार्जन के लिए निछावर कर देने वाले ऐसे व्यक्ति के चरणों का स्मरण करना चाहिए" तो उनमें से दो के नेत्रों से आँसू टपक पड़े थे।

राज उसी शाम बँगले में ताला लगाकर रत्ने और नागलक्ष्मी को घर ले आया। सनातन शास्त्र के अनुसार क्रिया-कर्म पृथ्वी को करना चाहिए था। लेकिन उसका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ था, अतः राज ने सब किया। सातवें दिन से कार्य प्रारम्भ हुआ।

नागलक्ष्मी के जीवन से सारी निराशा दूर हुई, वह एक दिन सुबह ग्यारह बजे गाड़ी में अपने पति के साथ बैठकर पतिगृह आई और दूसरे दिन ही उसी समय उसकी गोद में पति ने प्राण त्याग दिये! "शायद मेरे पूर्व-जन्म के कर्म ही ऐसे हैं। मेरे पूर्वार्जित पाप से ही उन्हें ऐसा हुआ।" वह रोती-सिसकती रही। इतने दिन पति जब जीवित थे, वह उनसे अलग रही। अब वे नहीं रहे। पति से अलग रहने की अपेक्षा वैधव्य अधिक क्रूर प्रतीत हुआ। राज, कात्यायनी और रत्ने के कहने पर भी उसकी रुलाई नहीं थमी। पिता के साथ कोई सम्बन्ध न होते हुए भी पृथ्वी रो रहा था। जेठ के प्रति कात्यायनी को आदर था। उनकी विद्वत्ता के प्रति उसकी श्रद्धा थी। वह भी दो दिन आँसू बहाती रही। रत्ने को वही धीरज दिला रही थी। राज के लिए भैया की यह मौत अनपेक्षित थी। बेटे के स्थान पर खड़े होकर वह उत्तरक्रियादि कर रहा था।

पति की मृत्यु के दस दिन तक नागलक्ष्मी सुमंगला थी। घर आने वाली स्त्रियाँ उसे फूल पहनातीं, माथे पर सिंदूर लगातीं, हाथ में चूड़ियाँ पहनाकर गाल पर हल्दी का लेपन करती थीं। जैसे-जैसे दसवाँ दिन पास आता, अपने भाग्य का सिंदूर खोने की चिंता से वह दिन-रात रोती रहती। पहले बाल सँवारते समय दिन में एक बार दर्पण देखती

थी, किन्तु अब हल्दी-कुंकुम लगे मुख को बार-बार दर्पण में देखा करती। साथ ही, आ पड़े दुःख को सहने में असमर्थ हो, जमीन पर लोटने लगती। नौवें दिन उसके और राज के बीच गरमागरम बहस हो गयी।

"राज, जब प्राण ही उड़ गये तो इस गन्दे शरीर से क्या लाभ? कल इन बालों, इन साड़ियों—सबको जाने दो। दूसरी साड़ी मंगवा दो।"

"पुराने जमाने की स्त्री की भाँति बातें मत करो। शास्त्र के अनुसार अवश्य चलो। बालों को वैसे ही रहने दो। भविष्य में तुम केवल सफेद साड़ियाँ पहना करो।"

"क्या मैं आफिस में काम करती हूँ जिसके लिए मैं सफेद साड़ियाँ पहनूँ? मुझे वे सब नहीं चाहिए।" कहकर नागलक्ष्मी ने हठ किया। इतने में कात्यायनी वहाँ आ गयी। उसे देखते ही नागलक्ष्मी ने रोकर कहा—"तू ही कह दे री इसे! मैं सिर मुंड़ा लेना चाहती हूँ।"

कात्यायनी का हृदय चीख उठा। इतने दिन साथ रहकर वह सिर मुँड़ाए, लाल साड़ी पहने नागलक्ष्मी के रूप की कल्पना भी न कर सकी। उसे अनायास अपने बीते हुए दिनों की याद आ गई। बीस वर्ष पहले जब उसका पहला पति मरा था तो दस दिन तक वह भी सुमंगला की वेशभूषा में थी। दसवें दिन सिर के फूल, गले का मंगलसूत्र, हाथ की काँच की चूड़ियाँ निकाल दी थीं। माथे का सिंदूर पोंछ दिया था। रंगीन साड़ी उतारकर सफेद साड़ी पहनते समय वह बेहोश-सी हो गयी थी। उसका सिर मुँड़वाने, लाल साड़ी पहनाने की सलाह उसकी सास भागीरतम्मा ने दी थी, लेकिन आधुनिक काल में इतनी कम उम्र में अपनी बहू का जी न दुखाने के विचार से श्रोत्रियजी ने यह सलाह अस्वीकार कर दी थी। उसे पुनः फूल, चूड़ियाँ पहनने, माथे पर सिंदूर लगाने का सौभाग्य मिला था। पुनः प्राप्त सौभाग्य से वह हर्षित भी हुई थी। लेकिन अब उसकी विचार-धारा बदल चुकी थी। दो मिनट अपने आप न जाने क्या सोचकर वह राज से बोली—"दी ठीक कह रही हैं। आप वैसा ही कीजिए।"

"लेकिन लाल साड़ी पहने हुए नागु को मैं देख न सकूँगा, मैं ... को समझा न सकूँगा!" राज ने गद्गद् कण्ठ से कहा।

"दुःख सह लेना चाहिए। इस विषय में आपकी अपेक्षा दीदी का अनुभव अधिक परिपक्व है। नयी स्थिति को सांकेतिक रूप में भी स्वीकार करने के लिए वे तैयार हैं। जो वास्तविकता है, उसे आप अस्वीकार नहीं कर सकते। उनके संकेत का आप विरोध क्यों करते हैं? इस विषय में पुरुष के विचार-तर्कों की अपेक्षा स्त्री की अंतःप्रेरणा ही अधिक विवेकशील है।"

राज चुप हो गया। दूसरे दिन नागलक्ष्मी घर से निकली। अपने सुहाग-चिह्नों को त्यागते समय न रोने का निश्चय कर, अधर भींच लिये। क्रिया-कर्म हुए। नियमानुसार घर के पीछे द्वार के नीचे बैठ गयी। सिर पर एक घड़ा ठंडा पानी डलवाकर घर में प्रवेश करते समय चक्कर खाकर गिर पड़ी। कात्यायनी की पन्द्रह मिनट की शुश्रूषा के पश्चात् उसे होश आया। सब क्रिया-कर्म होने के दूसरे दिन 'श्रीराम' के चित्र के सम्मुख बैठकर वह बोली "श्रीराम! तुझ पर मेरा विश्वास था! तूने ही ऐसा किया! फिर भी तेरी पूजा करती हूँ! अगले जन्म में भी उन्हीं को मेरा पति बनाना। भाग्य में सुमंगली मृत्यु लिखना न भूलना।"

उसी दिन से वह पहले की अपेक्षा अधिक रामनाम लिखने लगी।

इस अशांत वातावरण में घर की सारी जिम्मेदारी कात्यायनी पर आ पड़ी। इतना परिश्रम करने की क्षमता उसके शरीर में नहीं थी। एक-दो दिन बाद उसे बुखार आने लगा। उसकी शुश्रूषा के लिए नागलक्ष्मी के अतिरिक्त और कोई नहीं था।

सारे कार्य समाप्त होने के पूर्व ही वहाँ से रवाना होने पर राज और कात्यायनी को दुःख होता, इसलिए रत्ने तेरह दिन तक वहीं रही। डॉ० राव की पत्नी बनने के पश्चात् रत्ने भी रोज सिंदूर लगाती थी। वह सदा सादी सफेद साड़ी पहना करती थी। दसवें दिन घर में स्वेच्छा से ही अपने माथे का सिंदूर पोंछ दिया।

वैकुंठ समाराधना के दूसरे ही दिन वह राज से बोली—"अब मैं वहाँ जाती हूँ।"

राज को आश्चर्य हुआ। "उस बंगले में अकेली क्यों जा रही हैं? इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालय नियमानुसार उसे ले लेगा। वहाँ जो ग्रन्थ आदि हैं, उन्हें ले आयेंगे। कमरे में बैठकर शेष कार्य पूर्ण कीजिए। आप भी तो मेरी भाभी हैं!"

"आपका औदार्य महान् है, लेकिन शेष कार्य मैं वहीं रहकर पूर्ण करूँगी। वहीं रहकर मुझे मनःशांति मिल सकती है।" वह निकल ही पड़ी, किसी की बात नहीं मानी।

"आप संकोच न करें। खर्च के लिए...।" राज ने कहा।

"मेरे पास पैसे हैं। उन्हें प्रथम बार हृदय का दौरा पड़ा था, उस दिन से उन्होंने बैंक अकाउण्ट मेरे नाम कर दिया था। लगभग सात-आठ हजार रुपये हैं। अभी-अभी प्रकाशकों से कुछ रुपये आ गये हैं। इस बारे में चिन्ता न करें। रामण्णा साथ रहेगा। आप आना न भूलें!" कहकर वह निकल पड़ी। नागलक्ष्मी और कात्यायनी से विदा लेकर रामण्णा के साथ तांगे में बैठी तो उसकी आँखों में आँसू छलक पड़े।

उसी दिन पड़ोस के प्रोफेसर के साथ विश्वविद्यालय के उपकुलपति रत्ने को देखने आये। जिस कमरे में वे मरे थे, उसी में बैठकर स्वर्गीय विद्वान् के गुणों को स्मरण करने के पश्चात् बोले—"आप राजाराव के साथ रह सकती हैं न?"

"उन्होंने यही कहा था। लेकिन न जाने क्यों मेरा मन यहीं रहने को कहता है।"

"वैसा ही कीजिए। कहते हैं डॉ० राव की मृत्यु का समाचार यूरोप-अमरीका के समाचार-पत्रों में छपा है। बी०बी०सी० से समाचार प्रसारित हुआ है। मैंने भी सुना है। स्वर्गीय विद्वान् की विद्वत्ता की प्रशंसा करते हुए, उनके परिवार तक अपनी हार्दिक संवेदना पहुँचाने का निवेदन करते हुए विदेश के अनेक प्रोफेसरों ने हमारे आफिस को पत्र भेजे हैं। डॉ० राव जैसे विद्वानों के कार्य से हमारे विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठा बढ़नी ही थी। पंचम खण्ड का कार्य कहाँ तक हुआ है?"

"तीन-चार महीने में प्रकाशन के लिए भेज दूँगी।"

"अच्छा! आपके अतिरिक्त और कौन उसे पूर्ण कर सकता है? आप जितने दिन रहना चाहती हैं, इस बंगले में रह सकती हैं। भाड़ा

न लेने का आदेश दे देता हूँ। उनके ग्रंथ का संशोधन करके प्रकाशन कराने के निमित्त आपको दो-तीन हजार रुपये की सहायता-निधि दिलाने की व्यवस्था भी करवा देता हूँ। आप किसी बात की चिंता न करें।"

"अत्यंत आभारी हूँ। फिलहाल मुझे यह बंगला ही चाहिए। रुपयों की आवश्यकता नही है।"

दूसरे दिन रत्ने को प्रकाशकों का पत्र मिला। उसने पत्रोत्तर में लिखा कि "पंचम खण्ड पूर्ण करने पश्चात् ही डॉ० राव की मृत्यु हुई है और उसे तीन-चार महीने में प्रकाशनार्थ भेज दूँगी।" उसी दिन से उसका कार्य प्रारंभ हो गया। लगभग एक महीना वह पुस्तकालय में रही। अनेक संदर्भों में कई ग्रंथों से नोट उतारे। हस्तप्रति टाइप करने बैठी। थोड़ा भी आराम नहीं! कार्य करके थक जाती। लेकिन आराम करने बैठती तो अतीत का स्मरण हो आता और मन दुखी एवं संतप्त हो उठता। रामप्पा अपने कार्य तक ही सीमित रहता। कभी कुछ नहीं बोलता। वह सोचता, 'भविष्य में मेरे जीवन का क्या होगा?' लेकिन इस बारे में रत्ने से कभी नहीं कहा। अपना काम करता रहा। डॉ० राव के निधन से उसे भी बड़ा आघात पहुँचा था।

चार महीने पश्चात् एक दिन शाम को रत्ने का काम पूरा हो गया। अब से पंद्रह दिन पूर्व ही उसने टाइप समाप्त किया था। उसी दिन से टाइप की गयी प्रतियों को जाँचने लगी थी। लगभग बीस पृष्ठ पुन. टाइप करने पड़े। सबको क्रम से जोड़ा। प्रकाशकों ने रत्ने से निवेदन किया था कि खण्ड की भूमिका के रूप में छापने के लिए स्वर्गीय डॉ० राव के जीवन एवं विद्वत्ता का चित्र वह स्वयं लिखकर भेजे। उसके द्वारा लिखा गया वह जीवन चित्र, जिसमें उसके पति की विद्वत्ता का वर्णन था, कलाकार के रंगीन चित्र से अधिक स्पष्ट था, हृदयग्राही था। सबको मिलाकर, बाँधकर बक्से में रखा और मुहर लगाकर पता लिखा। दूसरे दिन डाकघर भेजने की तैयारी करने तक रात के दस बज गये थे। खण्ड के कार्य से मुक्त होकर वह आरामकुर्सी पर पीठ टेककर बैठ गयी। तब अनायास उसे रोना आ गया। गत चार महीने से कार्य करते हुए वह कभी नहीं रोयी थी। मानो इस विचार

से वह जीवन विता रही थी कि पति पास वैठे कार्य करा रहे है। टाइप करते समय उसे प्रतीत होता था मानों वे ही उसके कानों में विषय फूंक रहे हैं। भूमिका लिखते समय उसे अनुभव हुआ कि वे सामने वैठकर लिखा रहे हैं और वह शीघ्रलिपि में लिखती जा रही है। अव सव समाप्त हो गया। उसके लिए सारा संसार ही शून्य हो गया। उमड़ते दुःख को वह दवा न सकी। एक घण्टे से भी अधिक तक वह सिसकती रही। अंत में खिड़की के पास जाकर खड़ी हो गयी। वाहर अंधेरा छाया हुआ था।

धीरे से कमरे से वाहर निकली। घर के वाहर द्वार के पास गयी। रागप्पा आंगन में सोया था। उसे उठाया नहीं। वाहरी द्वार में ताला लगाकर वह रास्ते पर चल पड़ी। लोगों की संख्या वहुत कम थी, किन्तु उस क्षेत्र में दूर-दूर तक विद्युत-स्तंभ दिखाई दे रहे थे। उनके मंद प्रकाश में वह चलती चली गयी। अनजाने ही वह कुक्कर ग्राम के पास पहुँच गयी। वायीं ओर स्थित एक लतागृह की शिला पर वैठ गयी। उसे तुरंत याद आया—"कई साल पहले अपने शोध-प्रवंध को समाप्त कर स्वदेश लौटने के पहले दिन की सुवह वह डॉ॰ राव के साथ यहाँ आई थी। इस दुःख से कि उन्हें छोड़कर स्वदेश जाना पड़ रहा है, डॉ॰ राव की गोद में अपना सिर छिपाकर वहुत रोयी थी। उन्होंने उसे वाँहों में भर लिया था। क्षण-भर के लिए वह स्मरण मधुर लगा। उसी में डूवकर अपने आपको भूल गयी। पांच मिनट वाद अपनी वर्तमान स्थिति का चित्र आ गया तो रुलाई फूट पड़ी। वह वहाँ वैठ न सकी। कालेज की ओर चल दी। तालाव के वाद खेल का मैदान था। मैदान के वीच कुछ पेड़। रात के भोजन के पश्चात् सामान्यतः वे दोनों टहलते-टहलते इन पेड़ों के नीचे वैठकर अपने ग्रंथ से संवंधित विचार-विनिमय किया करते थे। वात समाप्त होने के वाद कुछ देर दोनों मौन हो जाते थे। जाते समय पर्याप्त प्रकाश न होता तो वह पति का हाथ पकड़कर सहारा देती थी। उसकी याद आते ही पेड़ों को न देख कालेज की ओर मुड़ गयी। कालेज अपने स्थान पर अटल खड़ा था। लगभग तीस वर्ष तक डॉ॰ राव ने प्राध्यापक के रूप में कार्य किया था। उनकी विद्वत्ता की छाप इस कालेज की हवा के झोकों में भी है।

वह और आगे बढ़ी। बायीं ओर पुस्तकालय भवन उस अँधेरे में भी अपने प्रकाश के अस्तित्व का आभास दे रहा था। रत्ने उस भवन के सामने खड़ी हो गयी। उस भवन के भीतर उन दोनों ने लगभग अठारह वर्ष से भी अधिक समय तक ग्रंथ लिखे। दोनों के कार्यक्रम, कुर्सी पर बैठकर लिखवाते समय की डॉ० राव की छवि आदि सब उसकी आँखों के सामने वास्तविक होकर खड़ी थीं। यह स्मरण वह सह सकी। वहाँ से आगे बढ़ते समय वह थक चुकी थी। सीधे घर आई। द्वार खोलकर अपने कमरे में गयी। लेटी तो नींद नहीं आई। डॉ० राव उसी कमरे में मरे थे। 'नागलक्ष्मी न आती और मैं अकेली रहती तो उन्हें भावोद्विग्नता से दूर रखती तो शायद वे दस वर्ष और जीते!' इस कल्पना-सागर में उसका मन तैरने लगा।

सारी रात उसे नींद नहीं आई।

सुबह उठी। स्नान करने के बाद काफी पी। आठ बजे तक कमरे में बैठी रही। पश्चात् पहली रात को तैयार किया पार्सल लेकर डाकखाने की ओर बढ़ी। अपने कम्पाउण्ड में खड़े पड़ोस के प्रोफेसर ने उसे देखकर पूछा—"यह क्या, पोस्ट आफिस जा रही हैं? मुझे दीजिए, मैं अपने चपरासी के हाथ भिजवा देता हूँ।"

"नहीं। मैं स्वयं कर आऊँगी।"—कहकर वह आगे बढ़ गयी।

डाकखाने में पार्सल देकर रसीद ली। लौटते समय उसका मन रो रहा था। अब कौन सा कार्य रह गया है? मुख्य कार्य तो पूर्ण हो गया। अब संगृहीत विषयों से संबंधित स्वतन्त्र लघु ग्रंथों एवं लेख लिखने चाहिए। यह धीरे-धीरे किया जा सकता है। अब उसके मन में ऐसा शून्य छा गया कि भयभीत कर देता। संसार में उसका कोई आधार नहीं है, वह बंधुरहित है, एकाकिनी है, 'अपना' कहलाने वाला कौन है उसका? पैर खींचती हुई घर आते समय रामस्वामी सर्कल के पास उसे पृथ्वी दिखायी पड़ा। उससे बात करने की इच्छा से उसे आवाज दी। उसे पास बुलाकर पूछा—"कहाँ जा रहा है? अभी तो सवा नौ ही बजे हैं!"

"कालेज जा रहा हूँ, स्पेशल क्लास है।"

"आज की स्पेशल क्लास को जाने दो। मेरे साथ आओ।" पास जाकर उसका हाथ पकड़ लिया। संकोचवश पृथ्वी ने सिर झुका लिया। "चलो, चलें!" कहकर उसे पकड़े ही रत्ने आगे बढ़ी। घर पहुँचते समय रागप्पा रसोई तैयार कर रहा था। "तूने अभी तक भोजन नहीं किया होगा! मेरे साथ खा।" भोजन तैयार होने तक बात करती हुई बैठी रही—"चाची कैसी हैं?"

"कुछ दिनों से निरन्तर बुखार आ रहा है। बहुत ही निर्बल हो गयी हैं। वे 'सिक-लीव' पर हैं।"

"और चाचा?"

"वे एक-दो घण्टे के लिए कालेज जाते हैं। बाकी समय चाची के साथ ही रहते हैं।"

"इसी कारण कई दिनों से इस ओर नहीं आये। वहाँ आने के लिए मुझे भी समय नहीं मिला।" रागप्पा ने आकर भोजन के लिए बुलाया। वह भीतर गयी और दोनों के लिए थाली परोसकर लायी। पृथ्वी को अपने पास ही बैठाकर भोजन कराया। भोजन के पश्चात् कमरे में ले जाकर उसे उसके स्वर्गीय पिता के पलंग पर बिठाया और स्वयं उसपर बैठकर पूछा—"इस दीवार के पास मेज के ऊपर तेरे पिता के जो ग्रंथ हैं, उन्हें तूने पढ़ा है?"

"नहीं?"

"क्यों?"

"मैं विज्ञान का विद्यार्थी हूँ। इस वर्ष बी० एस-सी० की तैयारी कर रहा हूँ।"

रत्ने विषाद से मन-ही-मन हँस पड़ी। विद्वत्जगत को भेंट करने के निमित्त अपने जीवन को अर्पित कर, पिता के निर्मित ग्रन्थों के प्रति पुत्र की अभिरुचि होती! उसके अध्ययन का विषय ही भिन्न है। इस अपने काम को जिस भावी पीढ़ी के लिए मानते हैं—हमारी वह पीढ़ी कौनसी है?—उसने अपने-आपसे प्रश्न किया। उसके मन ने उत्तर दिया कि ये ग्रन्थ है भारतीय इतिहास का अध्ययन करनेवालों के लिए; केवल गोद में पलने मात्र से अपने बच्चों के नहीं हो जाते। उसने सिर

उठाकर पृथ्वी का मुख देखा। वह नागलक्ष्मी के मुख से मिलता है। आँखों एवं नाक का सौंदर्य पिता सदृश है। पिता की अपेक्षा पुत्र पुष्ट है। शायद उसमें पिता-सी ज्ञान-पिपासा नहीं होगी! उसके बैठने का ढंग और बात करने की रीति पिता से मिलती थी। रत्ने उसके पास खिसककर बोली—"आओ, मेरी गोद में सिर रखकर लेट जाओ।" संकोचवश वह सिर झुकाये बैठा रहा। "संकोच मत करो। आओ, मैं भी तुम्हारी माँ हूँ।" कहकर बाहें पकड़कर उसके सिर को अपनी गोद में रख लिया। उसके मुख को अपने दोनों हाथों से पकड़कर रत्ने ने पूछा—"बेटे, तेरे पिता से दूर रहकर तेरी माँ ने बहुत दुःख झेला। इसके लिए क्या तू मुझे कोसता है?"

"नहीं!"

"मेरे कारण ही तेरे पिता ने ऐसा किया।"

"लेकिन सुनता हूँ कि आपके कारण ही उन्होंने इतना लिखा। चाचा-चाची ने मुझे सारी बातें बतायी हैं।"

रत्ने का हृदय भर आया। उसे छाती से लगा लिया। दस मिनट अवर्णनीय आनंद में वह वास्तविक जगत् को भूल गयी।

पृथ्वी वहाँ से निकला तो उसका हाथ पकड़कर कहा—"चाचा से कहना कि मैं घर आ रही हूँ। तू भी बार-बार मुझ से मिलने के लिए आया कर।" पृथ्वी का संकोच थोड़ा कम हुआ। "अच्छा, मैं आया करूँगा।"—कहकर वह चल पड़ा। आँखों से ओझल होने तक वह एकटक उसे देखती रही। भीतर आई। आँखों में कल की नींद बाकी थी। पलंग पर रखा बिस्तर बिछाया और पड़ गयी। दस मिनट में गहरी नींद आ गयी।

शाम को पाँच बजे उठी तो मन में फिर डरावनी बातें आने लगीं। उसे अतीत याद आ रहा था। मैं भी माँ बनती तो आज मेरे हृदय का वह सहारा होता। माँ बनने की आतुरता उसमें भी अंकुरित हुई थी। नदी पहाड़ी पर गयी थी तो वह अंकुर विशाल वृक्ष बन गया था। उस समय वह माँ बनती तो आज बच्चा आठ-नौ वर्ष का होता। उसके शून्य मन को एक भावुक आसरा मिल रहा था। जीवन भयानक प्रतीत नहीं हुआ। लेकिन उसने अपने मातृत्व की महत्वाकांक्षा को दबा दिया

एक बैग था। रत्ने पहचान न सकी। आगंतुक ने पास आकर जब सिंहली में पूछा—"मुझे पहचाना नहीं ?" तो तुरन्त पास जाकर रत्ने ने उसका हाथ पकड़ लिया। आगंतुक उसका भाई था। "तेरा पत्र मिला था। मन न माना। विमान में तुरन्त जगह भी मिल गयी। निकल पड़ा। बंगलूर से मद्रास तक के लिए कल के दो टिकट रिजर्व करा चुका हूँ। मद्रास में हमारा जो प्रतिनिधि है, वहाँ से सर्टिफिकेट ले लेंगे कि तू सिंहल की है। पासपोर्ट में कठिनाई नहीं पड़ेगी। आज रात हमें यहाँ से रवाना हो जाना चाहिए।"

रत्ने ने राज से अपने भाई का परिचय कराने के पश्चात्—'ये हैं मेरे देवर' कहकर राज का परिचय दिया। विमान से जाने के कारण रत्ने अपने साथ अधिक सामान नहीं ले जा सकी। रागप्पा अतिथि के लिए पुनः खाना पकाने लगा। भाई को घर पर ही छोड़कर अभी तक घर के सामने खड़ी उसी टैक्सी में राज के साथ वह बैंक गयी। राज ने उसकी सलाह नहीं मानी, लेकिन एक हजार रुपये लेकर शेष रुपये नागलक्ष्मी के नाम कर दिये। उसी टैक्सी में बैठकर दोनों राज के घर गये।

कात्यायनी की स्थिति रत्ने की कल्पना की अपेक्षा अधिक गंभीर थी। शरीर की कांति का कहीं पता ही न था, शरीर सूखे चमड़े के समान दिखाई दे रहा था। फिर भी वह बोल रही थी। एक घण्टे से भी अधिक समय तक रत्ने उससे बोलती रही। फिर भीतर गयी। नागलक्ष्मी के सामने खड़ी होकर बोली—"अब जीवन में हम दोनों दुःखी हैं। मेरी कोई गलती हुई हो, तो मुझे क्षमा कर दें।" नागलक्ष्मी समझ न सकी कि क्या कहा जाय। वह अपने आँसू पोंछने लगी।

एक हजार रुपये रत्ने ने रागप्पा के हाथ में रख दिये तो उसका हृदय कृतज्ञता से भर गया। पड़ोस के प्रोफेसर एवं उनके घरवालों से मिलकर रवाना होते समय तक राज टैक्सी से आ पहुंचा। पृथ्वी भी साथ था।

गाड़ी छूटने से पहले राज ने रत्ने से कहा—"बीच में कभी कम-से कम एक बार यहाँ आना न भूलें।" पृथ्वी को अपनी गोद में लेकर उसका ललाट चूमकर रत्ने ने कहा—"विज्ञान के विद्यार्थी होते हुए

भी कम-से-कम एक बार अपने पिता के ग्रंथों को अवश्य पढ़ना।"

गाड़ी छूटी तो रत्ने भी आँसू पोंछ रही थी। राज भी आँखें पोंछ रहा था। पृथ्वी मूक-सा देखता रहा। प्लेटफार्म से बाहर आने के पश्चात् राज का मन रत्ने के आने के बाद के बीस वर्षों की घटनाओं का अवलोकन कर रहा था।

२६

कृष्णा श्रोत्रिय के पत्र का कोई समाचार प्राप्त नहीं हुआ। श्रोत्रिय-जी ने उन्हें ढूँढने की कोशिश छोड़ दी। उन्हें एक विचार सूझा। किन्तु उसके विषय में निर्णय लेने में आठ दिन लग गये। पहले लक्ष्मी से इस बारे में बात की। "यह तुम्हारा महान् पागलपन है, श्रीनप्पा। दुनिया में तुम्हारी तरह कोई नहीं सोचता।"—उसने क्रोध करते हुए कहा। श्रोत्रियजी ने कहा—धर्म-सूत्र अत्यन्त सूक्ष्म है, लक्ष्मी। लोकाचार के अनुसरण से नहीं जाना जा सकता!" लक्ष्मी का क्रोध शान्त नहीं हुआ।

एक रविवार को दोपहर में ऊपर अध्ययन-कक्ष में वे पोतों को वेदपाठ करा रहे थे। उन्होंने कहा—"बेटे, तुमने कई बार पूछा कि मुझे कौन-सी चिन्ता सता रही है। आज मैंने उसका निवारण कर लिया है। यह धर्म की सूक्ष्मता से सम्बन्धित है। तुम्हारे मन:पूर्वक स्वीकार किये बिना मैं कुछ नहीं करूँगा।"

"आपकी कौन-सी बात का मैंने अस्वीकार किया है, दादाजी? विषय तो बताइए?"

श्रोत्रियजी पहले तो बताने में कुछ झिझके, लेकिन आखिर अपने

जन्मसंबंधी सारी बातें कह दीं। चीनी स्तब्ध था। श्रोत्रियजी बोले—"देखो, पहले मैंने सोचा था कि एडतोरे में या और कहीं किट्टप्पा श्रोत्रिय का वंशज मिल जाय, तो आधी जायदाद उसे दे देनी चाहिए। लगता है कि इस संपत्ति में से पीतल की एक थाली पर भी मेरा अधिकार नहीं। जिसके रक्त से मैं जन्मा नहीं, उनकी संपत्ति का उपभोग करने का मुझे क्या अधिकार है? मैं स्वयं पराये नीड़ पर अनधिकार जताने की चेष्टा कर रहा हूँ। तुम मेरे पौत्र हो, अतः तुम भी इस नीड़ के उतने ही अनधिकारी हो। हम श्रोत्रिय वंशीय नहीं हैं। ब्रह्मोपदेश के लिए गोत्र चाहिए। काश्यप गोत्र से हमारा ब्रह्मोपदेश हुआ था। उसे बड़ी श्रद्धा-भक्ति से स्वीकार कर हमने निभाया है। शास्त्रीय दृष्टि से हम काश्यप गोत्र की श्रीवृद्धि कर सकते हैं। किट्टप्पा श्रोत्रिय के वंशज न मिलने के कारण इस जमीन-जायदाद को किसी सत्पात्र को दान करना ही एक मात्र उपाय बचा है।"

चीनी दो मिनट सोचता रहा। सारी संपत्ति दान कर देने पर अपनी स्थिति क्या होगी? इसका अंदाज लगाया। लेकिन दादा यह चाहते हैं! धर्म की सूक्ष्मता के प्रति विश्वास जागा और उसने कहा, "आप ठीक कह रहे हैं। मैं वह जायदाद त्यागने के लिए तैयार हूँ, जो हमारी नहीं है। कहीं नौकरी लग जाय तो हम तीनों का गुजारा हो सकता है।"

चीनी के उत्तर से दादा को खुशी हुई। "यह बात वेदाभ्यासी व्यक्ति के लिए उपयुक्त ही है। वह संपत्ति उसी समय त्यज देनी चाहिए, जब पता लगे कि हम इसके उपभोग के अधिकारी नहीं हैं। अन्यथा हमारी परंपरा में कोई-न-कोई उसे अधर्म से खो बैठेगा। ऐसी संपत्ति खो देना अनिष्टकारी नहीं है, लेकिन खोते समय ऐसी सम्पत्ति के अधिकारी अधर्म-पथ की ओर बढ़ते हैं। पाप-संचय से बढ़कर कोई क्षति नहीं है। अब भी मैं यह मानता हूँ कि हमारे पाप-पुण्य हमारी भावी पीढ़ी में से किसी एक पीढ़ी के सिर दृष्टिगोचर होते हैं। खैर, यह बात भुला दो, दूसरी बात सुनो।"

उन्होंने अपने जीवन का अंतिम संकल्प बताया—"तुम्हारे पिताजी का विवाह हो जाने के बाद मैंने निवृत्त जीवन बिताना प्रारंभ कर दिया

था। लेकिन उसकी मौत से पुनः प्रवृत्त होना पड़ा। संन्यास लेने की इच्छा गत सात-आठ वर्षों से मन-ही-मन पनप रही है। अब मेरे जन्म संबंधी जानकारी के पश्चात् यह इच्छा बलवती हो उठी है। वंश की उज्ज्वल परम्परा के लिए मनुष्य को संघर्ष करना चाहिए—मेरा यह विचार मेरे लिए निरर्थक है। फिर भी इसके प्रति मुझे गर्व है। मैं पचहत्तर का हो गया हूँ। तुम अठारह के हो। मेरे निवृत्त होने में तुम्हें असहमत नहीं होना चाहिए!"

मोनी की आँखों में आँसू भर आये। "दादाजी, आपकी पहली राय मैंने तुरन्त स्वीकार कर ली। लेकिन अब आप तो मुझे ही छोड़कर जाने की बात कह रहे हैं! इस संपत्ति के प्रति आपको घृणा होना स्वाभाविक है, लेकिन मुझ से दूर क्यों?"

"तुम से मुझे कोई शिकायत नहीं, बेटे। इतने दिनों तक मैंने सांसारिक जीवन बिताया है। अन्तिम दिनों में उससे पूर्णतः निवृत्त होकर सदा परमब्रह्म के चिंतन में मग्न हो जाना चाहता हूँ। अपने पहले जीवन की स्थिति समझकर, अपना ध्येय, दृष्टि एवं जीवन-विधान को उसके अनुकूल न बनाना ही पाप है। संन्यास योग्य आयु हुए काफी दिन बीत गये। सामाजिक जीवन का कर्तव्य भी पूरा हो रहा है। केवल तुम्हारी ही स्वीकृति बाकी है। अगर अपने जीवन के बारे में न जानता, तो भी मैं संन्यास लेने वाला ही था।"

मोनी निरुत्तर था। उसकी बुद्धि तो दादा की बातें ग्रहण कर रही थी, लेकिन अन्तःकरण नहीं। चिंतातुर मन से वह बैठा था। श्रोत्रिय-जी ने अपनी बात आगे बढ़ायी—"तुम्हारे प्रति मेरा कर्तव्य अभी पूर्ण नहीं हुआ है। पहले सत्कुल प्रसूता कन्या के साथ तुम्हारा विवाह कर, तुम्हें गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट करा दूँ। इस साल तुम्हारी इंटरमीडिएट की परीक्षा है। अब दो वर्षों की पढ़ाई और जीवन-यापन के लिए लगभग पाँच हजार रुपये बैंक में रख लो। यह रकम श्रोत्रिय-वंश की है, लेकिन आज तक मैंने इसकी रखवाली की है, उसके लिए श्रम किया है। दो वर्ष और पढ़ने के पश्चात्, तुम्हारा पत्नी के साथ धर्म-पूर्ण गृहस्थ जीवन बिताना ही मुझे तुमसे मिलने वाला स्वर्ग है। हेज्जिगे के पास लक्ष्मी के नाम पर दो एकड़ जमीन है। वह उसी की

वह जी सके। जिस दिन अन्न मिले, खुश न हो और जिस दिन कुछ न मिले, निराश न हो।" "उसके पास केवल एक कमण्डल, शरीर पोंछने के लिए एक गमछा, पादुका, आसन और एक कंबल ही होना चाहिए।"

अगला पृष्ठ पढ़ते-पढ़ते चीनी दुःखी हो उठा। "संन्यासी को ऊँचे भूभाग में सोना चाहिए। बीमार पड़े तो चिंतित न हो। न मृत्यु का स्वागत करे और न ही जीवन से प्यार। जिस तरह सेवक अपनी दास्यावधि की समाप्ति की प्रतीक्षा करता है, उसी तरह संन्यासी अंतिम दिन का इन्तजार करे।"

महाभारत के अनुशासन पर्व के एक भाग पर श्रोत्रियजी ने निशान लगाया था। वहाँ कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस—चार प्रकार के संन्यास वर्णित थे। परमहंसों के लक्षण का विवरण देनेवाले श्लोकों पर श्रोत्रियजी ने निशान लगाया था—"परमहंस पेड़ के नीचे या निर्जन घर में अथवा श्मशान में रहते हैं। वे कपड़ा पहन सकते हैं और नग्न भी रह सकते हैं। धर्माधर्म, सत्यासत्य, शुद्धाशुद्ध द्वंद्वों से वे परे हैं। सोना, मिट्टी आदि को वे आत्मा मानते हैं। सभी वर्णों में भिक्षा स्वीकार करते हैं। शास्त्रोक्त नियम उन पर लागू नहीं होते।"

दादाजी जीवन के जिस पथ को अपनाकर चलना चाहते हैं, उन नियमों को पढ़कर चीनी को असह्य वेदना होती थी। उसने भी संन्यासाश्रम के बारे में काफी पढ़ा है। आश्रम के ध्येयोद्देश्यों एवं जीवन-विधान के बारे में वह पूर्ण अनभिज्ञ नहीं था। लेकिन इस कल्पना मात्र से ही उसका हृदय तड़प उठता कि जिसने उसे पाला-पोसा है, उस दादा को इस कठिन पथ पर चलना पड़ेगा। इसकी चिंता नहीं थी कि वे छोड़ जायेंगे तो अपना क्या होगा! दुःख था तो यह कि वे इस उम्र में ऐसा जीवन बिताना चाह रहे हैं!

एक दिन घर के पिछवाड़े मोगरे की लता के पास बैठकर चीनी लक्ष्मी को संन्यासी-जीवन का वर्णन सविस्तार बताकर बोला—"तुम ही इन्हें रोको, मना करो। मैं कहीं नौकरी पर लग जाऊँ तो हम तीनों सुख में रह सकते हैं।"

वर्णन सुनकर लक्ष्मी व्याकुल हो उठी। वह सोचने लगी, 'मुझे

अपने साथ ले जायें तो मैं उनकी सेवा करूँगी। लेकिन वे अकेले ही जा रहे हैं। वे देव तुल्य हैं। अपने जीवन में पाप-कर्म नहीं किया। अब तक अर्जित पुण्य क्या काफी नहीं है? फिर इसकी क्या जावश्यकता है?' वह चिंतित होने लगी—'वे सब-कुछ जानते है। उन्हे उपदेश देने की क्षमता हममें नहीं है, किन्तु मन नहीं मानता।'

चीनी कालेज जाता और शाम को घर लौटता था। श्रोत्रियजी अब भी स्वयं खाना पकाते थे। चीनी को काम नहीं करने देते। रोज रात्रि-भोजन के पश्चात चीनी को धर्मशास्त्रों के विचार बताते थे। अनेक ऋषियों, ब्रह्मर्षियों, एवं पुराणों से पात्रों के जीवन से सम्बन्धित उदाहरण प्रस्तुत करते थे। अनेक संस्कृत ग्रंथों को उठाकर कहते—"इन्हें भविष्य में अवश्य पढ़ना।" उनके सम्मुख बैठा चीनी उनकी विश्वासजन्य निःसृत ध्वनि सुनकर उनका अभिमत स्वीकार करता था। लेकिन घर से कालेज के लिए निकलने के बाद, उन लोगों को छोड़ने वाले दादा के बारे में सोचकर उसके अंतःकरण में असह्य वेदना होती थी।

श्रोत्रियजी अपनी जमीन-जायदाद दान करके संन्यास ग्रहण करने वाले हैं—यह समाचार सारे नंजनगुडू में फैल गया। उनके हितैषियों ने आकर पूछा—"क्या बात है जो ऐसा निश्चय किया है?" श्रोत्रियजी सरल-सा उत्तर देते—"उम्र हो गई है। संन्यास स्वीकार करना मेरा धर्म है, बस! पौत्र कह रहा है कि यह जायदाद उसे नहीं चाहिए, इसलिए दान कर रहा हूँ।" अनेक उनके सामने आकर ऐसी बातें करते, मानों वे ही दान स्वीकार करने के सत्पात्र हैं। श्रोत्रियजी के घर में एक-न-एक व्यक्ति रहता ही था। दादा के अंतिम निर्णय में पौत्र को कोई शंका नहीं रह गयी थी। उसने सोचा कि उनके भावी जीवन के सार्थक्य में अपने मोह द्वारा बाधा डालने का प्रयत्न करना अधर्म है। श्रोत्रियजी लक्ष्मी को भी धर्म की सूक्ष्मता समझा रहे थे।

चैत्र मास के किसी शुभ दिन श्रोत्रियजी ने अनंत मास्टर को बुलाने के लिए चीनी को भेजा। मास्टर चामराजनगर में रहते थे। अब करीब दस वर्ष से नंजनगुडू में ही रहने लगे हैं। तीन-चार वर्ष से

नंजनगुडु स्थित माध्यमिक शाला में नौकरी कर रहे हैं। सम्बाधिकारियों से मिलकर पास के किसी गाँव में तबादला करवा लेते थे। एक दो वर्ष नंजनगुडु में रहते। फिर अन्यत्र नौकरी कर पुनः नंजनगुडु में तबादला करवा लेते। अब पचास की उम्र है। निवृत्त होने में पाँच वर्ष बाकी हैं। नंजनगुडु में एक घर बँधवा लिया है। हुल्लहल्लि में तीन एकड़ जमीन खरीद ली है। मास्टर से श्रोत्रियजी का परिचय होने का एक विशेष कारण था। मास्टर को संस्कृत का कुछ हद तक ज्ञान था। वे सात्विक एवं धर्मनिष्ठ थे। धर्मशास्त्र एवं वेदांत के संबंध में जब कभी कोई शंका उठती तो उसके निवारण के लिए श्रोत्रियजी के पास आते थे। उनकी कर्मशीलता एवं सात्विक जीवन को देखकर श्रोत्रियजी अपने यहाँ के श्राद्ध आदि कार्यक्रमों में पूर्वपंक्ति के लिए उन्हें आमंत्रित करते थे।

रात्रि को आठ बजे मास्टर घर आये। श्रोत्रियजी ने उनका स्वागत किया। पौत्र से बोले—"चीनी, हम अभी टहलकर आते हैं।" दोनों निकल पड़े। दोनों धीरे-धीरे चल रहे थे। मंदिर के सामने से होते हुए नदी के स्नान घाट पर बैठ गये। श्रोत्रियजी का निर्णय, मास्टर को मालूम था। उन्होंने भी संन्यास न लेने का निवेदन किया था। धर्मशास्त्रानुसार वे श्रोत्रियजी से सहमत थे। लेकिन यह समझ में नहीं आ रहा था कि आखिर श्रोत्रियजी जायदाद क्यों दान करना चाहते हैं?

दो मिनट मौन बैठे रहने के बाद श्रोत्रियजी ने बात प्रारंभ की—"जायदाद दान करने का कारण चीनी और लक्ष्मी के अतिरिक्त और किसी को मालूम नहीं। आज आपको सुनाता हूँ। आपको बताने की आवश्यकता नहीं थी, लेकिन मुझे आपसे एक बड़ी सहायता चाहिए।"

"मुझ से सहायता? बहुत बड़ी बात हुई! आप ऐसा कहें यह मुझे रुचिकर नहीं लगता।" मास्टर हाथ जोड़ दिये।

"वास्तविकता सुनिए"—उन्होंने कहा। फिर अपने जन्म की बात, किट्टप्पा श्रोत्रिय की पीढ़ी को ढूँढने के लिए किया गया प्रयत्न, हाल ही का अपना निर्णय आदि सविस्तार सुनाया। शांत चित्त से सुनते रहने के बाद अंत में मास्टर ने कहा—"इस युग में धर्मसूत्र का इतनी

सूक्ष्मता से मनन कर, अनुगमन करने वालों का नाम मैंने नहीं सुना है। आके निर्णय को गलत कहने की शक्ति मुझ में नहीं है।"

"मेरी एक और आकाँक्षा है जो आपको बताना चाहता हूँ। पौत्र को गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट कराये विना मैं नहीं जाऊँगा। आप हर तरह से मेरे विश्वासपात्र हैं। आपकी छोटी वेटी बारह तेरह साल की है न? विशाल हृदय से विचार करके, मेरे पौत्र से विवाह कर दीजिए। उसने इस वर्ष इंटरमीडिएट की परीक्षा दी है। उसके भविष्य के विद्याभ्यास के लिए पाँच हजार रुपये छोड़ रहा हूँ। कभी कभी सोचता हूँ, श्रोत्रिय वंश की संपत्ति से पाँच हजार रुपये क्यों दूं? लेकिन उसके लिए इतना भी न छोड़ूं तो लगेगा कि श्रोत्रिय की जायदाद को मैंने तिरस्कार की दृष्टि से देखा है। इस तुच्छ भाव को मैं क्यों स्थान दूं? इसके अतिरिक्त धर्म के नाम पर चीनी को मझधार में छोड देना भी अधर्म ही है। वह बी०एस-सी० हुआ तो बस! इसमु मेरे मन को सांत्वना मिलेगी। यह आपकी जिम्मेदारी होगी कि दामाद को सत्पथ पर आगे बढ़ाकर बी०एस-सी० करा दें। मैंने आपसे कोई बात छिपाई नहीं है।"

मास्टर दस मिनट सोचते रहे। फिर पूछा—"आपका काश्यप गोत्र है न?"

"कह दिया न कि हम श्रोत्रिय वंश के तो हैं नहीं। काश्यप गोत्र से हमारा ब्रह्मोपदेश हुआ है।"

"उठिए देर हो रही है—घर चलें। मैं सहमत हूँ। दादा के संस्कार एवं गुण पौत्र में भी हैं। ऐसे दामाद का मिलना मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ। घर में एक बार पूछ लूं।" वे चलने के लिए उठे। श्रोत्रियजी को शांति मिली।

दूसरे दिन सुबह मास्टर श्रोत्रियजी के घर आये। अपनी वेटी एवं चीनी की जन्म-कुण्डलियाँ देखीं। दोनों प्रशस्त रूप में जम रही थीं। उन्होंने चीनी से पूछा—"वेटे, तुमने मेरी वेटी लता को देखा है।" उसे संदर्भ की जानकारी नहीं थी। उसने 'हूँ' कह दिया। "तुम्हारे दादा कहते हैं कि तुम उससे विवाह कर लो! हमें खुशी है अगर तुम्हें यह मंजूर हो?" श्रोत्रियजी वहीं थे। चीनी शरमा गया।

लता तेरह वर्ष की सुन्दर, सुलक्षणा लड़की है। हाईस्कूल में पढ़ रही है। आज के युग की दृष्टि से अभी छोटी है। लेकिन दोनों में वर-साम्य है। श्रोत्रियजी ने कहा कि विवाह हो जाने पर भी चीनी के बी०एस-सी० होने तक गौना न किया जाय। इस बीच लड़की की स्कूली शिक्षा भी समाप्त हो जायेगी। वैशाख शुद्ध के एक शुभ मुहूर्त में चीनी लता का विवाह श्रोत्रियजी की इच्छा के अनुसार श्रीकण्ठेश्वर देवालय में सादे ढंग से सम्पन्न हुआ। चीनी गृहस्थ बन गया।

श्रोत्रियजी ने एक बार अपने खेतों में काम करने वाले किसानों की स्थिति की पूरी-पूरी पूछताछ की। उनमें से पचहत्तर प्रतिशत लोग अत्यन्त गरीब थे। अधिक संख्या में वे लोग थे जिनकी जमीनें ऋण में चली गयी थीं और उनके बाल-बच्चों को खाने के लिए अब अन्न नहीं मिलता था। श्रोत्रियजी ने सोचा, इनसे बढ़कर दान के लिए और कौन सत्पात्र होंगे? उन्होंने जब किसानों से कहा कि वे खेत जोतने वाले किसानों को दान देकर सन्यास ले रहे हैं, तो किसान उनके चरणों पर पड़कर बोले—' महाराज, भगवान् तुल्य, आपकी कोई जमीन हमें नहीं चाहिए। आप मालिक बनकर रहिए। यथाशक्ति परिश्रम करके, आपको उपज देकर हम भी जियेंगे।" उन सब को यथायोग्य सान्त्वना दे, वे गाँव लौटे। चीनी को पास बैठाकर जमीनें किसानों के नाम लिख दी। शेष छह एकड़ जमीन मैसूर के अनाथालय को सौंप देने का निर्णय किया। यह भी निर्णय किया कि उनका घर यात्रियों के लिए धर्मशाला बने। यह सब एक वकील से लिखवाया। शुभ दिन कागज-पत्रों पर पौत्र एवं स्वयं ने हस्ताक्षर किये। सब-रजिस्ट्रार के कार्यालय में जाकर रजिस्ट्री कराकर घर लौटे, तो श्रोत्रिय-जी के मन का भार हलका हुआ। भार से मुक्ति पाकर उन्होंने संतोष की साँस ली।

अब अपने प्रस्थान का दिन निश्चित करना था। संन्यास ग्रहण करने के लिए गुरु चाहिए। यह निश्चित नहीं हो पाया था कि यह कार्यक्रम कहाँ हो। श्रोत्रियजी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि किसी शुभ दिन इस गाँव को छोड़कर हरिद्वार या बद्रीनाथ चले जाना चाहिए। योग्य गुरु की खोज कर विधिवत् इस गृहस्थाश्रम को त्याग देना चाहिए।

अनन्तराम मास्टर की पाँच संतानें थीं—तीन बेटियाँ और दो बेटे। बड़ी बेटियों की शादी कर दी गयी थी। बड़ा बेटा चीनी के बराबर था। वह भी रोज कालेज में पढ़ने के लिए मैसूर जाता था। द्वितीय पुत्र अगले वर्ष हाईस्कूल की परीक्षा देगा। मास्टर ने श्रोत्रियजी से कहा—"आप चिंता न करें। दामाद पुत्र के समान होता है। श्रीनिवास और मेरे ज्येष्ठ पुत्र को एक साथ कालेज जाने दीजिए। परीक्षा पासकर नौकरी पर लगने तक वह और लक्ष्मी हमारे ही घर रहेंगे। हम ख्याल रखेंगे कि दोनों को कष्ट न हो।"

श्रोत्रियजी ने सलाह मान ली। सोना-चाँदी बेच दिया। उससे प्राप्त रकम देवालय को दान कर दी। घर के बर्तन भी देवालय को दे दिये।

श्रोत्रियजी अपने संस्कृत ग्रंथ चीनी को सौंपकर बोले—"बेटे, ये तुम्हें अपने दादा से प्राप्त अमूल्य निधि है। आज तक, जितना मुझसे बन पड़ा, मैंने तुम्हें शिक्षा दी है। भविष्य में स्वाध्याय एवं दूसरों से सीखकर, ज्ञान-वृद्धि करना। कल इस घर को छोड़ देना चाहिए। आज रात ही इन समस्त ग्रंथों को अपने ससुर के घर पहुँचा दो।"

निश्चय हुआ कि जेष्ठ शुद्ध पंचमी के दिन श्रोत्रियजी नंजनगुडू त्याग देंगे। मन कठोर बना लेने पर भी चीनी एवं लक्ष्मी के लिए यह असह्य था। लक्ष्मी ने शीनप्पा के सामने न रोने का निश्चय कर लिया था। चीनी भी प्रयत्न कर रहा था कि दादा के अंतिम प्रयाण के पूर्व आँसू बहाकर उनके मन को खिन्न न बनाऊँ। लेकिन लक्ष्मी-चीनी परस्पर एक-दूसरे से मिलते तो आँसू बह पड़ते। श्रोत्रियजी शांत-चित्त से अपने प्रयाण के दिन की प्रतीक्षा कर रहे थे। नंजनगुडू के अनेक लोगों ने उनसे निवेदन किया था कि गाँव छोड़ने से पहले उसके घर आकर तांबूल स्वीकार कर आशीष दें। गाँव के किसान उन्हें अपने घर बुलाकर फल-फूल स्वीकार करने का आग्रह करते। ले जाने के लिए बैलगाड़ियाँ लाते। श्रोत्रियजी सबके आमंत्रण को मुस्कराकर स्वीकार करते।

जिस दिन वे गृह त्यागने वाले थे, वधू पक्ष के घर में मिष्टान्न का भोजन हुआ। पहने हुए कपड़ों के अतिरिक्त दो पंछे, एक छोटा-सा

पात्र, सबको एक गमछे में बाँधकर, बाँस का एक लकड़ी में लगाकर हरिद्वार तक राह-खर्च के लिए सौ रुपये लेकर वधू पक्ष के घर से रवाना हुए तो अनन्तराम मास्टर की पत्नी, बच्चे एवं चीनी की पत्नी—सबके सब जोर-जोर से रोने लगे। सबको आशीर्वाद देकर श्रोत्रियजी घर से निकल पड़े। उस दिन सुबह से ही जेष्ठ की बूँदें पड़ने लगी थीं। शाम को पाँच बजे रेलवे स्टेशन पहुँचे तो इस वर्षा में भी लोगों की बड़ी-सी भीड़ जमी थी। इस असंख्य जनसमूह ने श्रोत्रियजी को घेर लिया। हर एक व्यक्ति जमीन पर झुककर श्रोत्रियजी को प्रणाम करने लगा। रेलवे प्लेटफार्म पर आकर श्रोत्रियजी के गाड़ी में चढ़ने के पूर्व उनके चरणों को स्पर्श कर नमस्कार करते हुए मास्टर ने कहा—"आप मेरे गुरु थे। अंत में जिम्मेदारी भी सौंपी है। संबंध जोड़कर मेरी प्रतिष्ठा बढ़ाई है। आपने जो जिम्मेदारी सौंपी है, उसे हर तरह से निभाने का प्रयत्न करूँगा। आशीर्वाद दीजिए।"

चीनी, लक्ष्मी, ललिता तीनों ने जमीन पर सिर नवाकर प्रणाम किया। मन-ही-मन 'असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय। ओम् शांतिः शांतिः शांति, उच्चार कर श्रोत्रियजी गाड़ी में बैठ गये। गाड़ी चल पड़ी तो जनसमूह ने 'हर हर महादेव' का जयघोष किया। दादा जब गाड़ी से अदृश्य हुए तो चीनी की आँखों के सामने अँधेरा छा गया। वह पास खड़ी लक्ष्मी को पकड़कर वहीं जमीन पर बैठ गया। मास्टर ने घबड़ाकर उसे पकड़ लिया।

रेल दलवाई पुल पर पहुँचने तक जोर से वर्षा होने लगी थी। श्रोत्रियजी ने खिड़की से नदी की ओर देखा। दोनों किनारों पर खड़े पेड़ों के बीच नदी बह रही थी। बचपन से आज तक उन्होंने इस नदी में स्नान किया था। कई बार इसके तट पर बैठकर अपनी थकान दूर की थी। इसी नदी ने उनके पुत्र को अपने में आत्मसात कर लिया था। लेकिन इसी नदी के पानी से उत्पन्न अन्न वे आज तक खाते रहे हैं। श्रोत्रियजी को अपने जीवन के बीते दिन याद आ रहे थे। माँ और नंजुंड श्रोत्रिय का भी स्मरण हुआ। श्यामदास, जिन्हें कभी देखा



नहीं था, की भी कल्पना की। पत्नी भागीरतम्मा, लक्ष्मी, पुत्र नंजुंड, चीनी, वहू, कात्यायनी एक-एक कर सबके स्मृति-चित्र उनकी आँखों के सामने आते रहे। कात्यायनी का स्मरण आते ही उनका मन वहीं रुक गया। उसे देखे चौदह वर्ष हो गये। अब कहाँ होगी? डॉ० राव ने कहा था कि बंगलूर में रहती है। लौकिक जीवन त्यागने से पहले, उसे एक बार देखने की इच्छा हुई। मैसूर में उतरकर डॉ० राव से भी मिल लेंगे। उनसे कात्यायनी का पता लेकर बंगलूर होते हुए ही जाना है। इसी विचार में डूबे हुए थे कि गाड़ी चामराजपुर स्टेशन पहुँची। वे वहीं उतर पड़े। वर्षा की बूंदें धीरे-धीरे पड़ रही थीं। वे यह जानते थे कि डॉ० राव प्रोफेसरों के लिए निर्मित बंगले में रहते हैं। किसी एक व्यक्ति को अपने साथ लेकर उस इलाके में पहुँचे। एक बंगले के सामने खड़े होकर पूछा—"डॉ० सदाशिवराव का बंगला कौन-सा है?"

भीतर कुर्सी पर बैठे एक सज्जन ने आकर कहा—"वे अब नहीं रहे। उन्हें गुजरे आठ महीने हो गये हैं।"

यह सुनकर श्रोत्रियजी का मन व्यथित हो उठा। "उनका परिवार कहाँ है? क्या आप जानते हैं कि उनका छोटा भाई कहाँ रहता है।"

"उनकी पहली पत्नी उनके भाई के पास रहती है। द्वितीय पत्नी स्वदेश लौट गयी है। उनका भाई इसी नगर में है। घर लक्ष्मीपुर में है।"

श्रोत्रियजी लक्ष्मीपुर की ओर चल पड़े। वर्षा से उनका पंछा भीग गया था। उससे पानी टपक रहा था। बाँस में लगाई गाँठ खोलकर पंछा सिर पर डाल लिया। उन्हें स्मरण हुआ—'अब कुछ दिन और! फिर तो इस तरह अधिक कपड़े नहीं रख सकेंगे।' रास्ते के किनारे-किनारे चलते रहे। किसी से पूछकर राजाराव के घर के सामने खड़े हो गये। सांझ के साढ़े सात बजे थे। द्वार पर दस्तक दी तो लाल साड़ी पहने हुए लगभग पैंतालीस वर्ष की एक विधवा ने द्वार के पास आकर पूछा—"किसे पूछ रहे हैं?"

"कहिए कि नंजनगुडू से श्रीनिवास श्रोत्रिय आया है। कात्यायनी यहीं है न?"

आवाज सुनकर राज भीतर से दौड़ा। नमस्ते करके श्रोत्रियजी को प्रणाम कर पूछा—"अकेले आये हैं? आपका पौत्र नहीं आया? टैक्सी कहाँ है?"

श्रोत्रियजी कुछ नहीं समझे! "मैं कुछ नहीं जानता। यों ही आप लोगों को देखने के लिए आ गया हूँ।"

राज उन्हें भीतर एक कमरे में ले गया। पलंग पर मरणासन्न पर एक महिला लेटी थी। "यही है कात्यायनी" राज ने कहा। उन्हें अपनी आँखों पर विश्वास ही नहीं हुआ। पूछा—"क्या हुआ है?" राज बोला—"पहले आप स्नानगृह में चलिए। सारे कपड़े भीग गये हैं, बदल लीजिए। फिर बातें करेंगे।" स्नानगृह में जाकर, भीगे कपड़ों को निचोड़ा। आधा भीगा एक पंछा पहना। निचोड़े हुए गीले पंछे को ओढ़कर बाहर आये। राज ने सूखा पंछा देने के लिए कहा तो "नहीं, यही ठीक है"—कहकर वे कात्यायनी के पास गये।

पलंग पर सोयी कात्यायनी को अच्छी तरह कपड़े उढ़ा दिये थे। उसका सारा शरीर हड्डियों का ढाँचा-मात्र था। आँखें मुँदी थीं। चेहरा सूखकर मुरझा गया था। साँस धीरे-धीरे चल रही थी। श्रोत्रियजी ने पूछा—"क्या बीमारी है?"

"डाक्टरों के इलाज से ठीक होने वाली बीमारी नहीं है। पुनर्विवाह नहीं करना चाहिए था। लेकिन वैसा नहीं हुआ। उसके मस्तिष्क में धर्म-कर्म, कर्तव्याकर्तव्य का द्वन्द्व चलने लगा। लाख कोशिश करने पर भी हम उसे रोक नहीं सके। उसे सविस्तार बाद में कहूँगा। डॉक्टर ने बताया है कि आज की रात वह बचेगी नहीं। आपको और अपने बेटे को देखकर मरने की इच्छा इसने शाम को व्यक्त की थी। मैंने तुरन्त टैक्सी भेज दी। मैं नहीं जानता कि उसका बेटा आयेगा या नहीं। आप आ गये, यह हमारा सौभाग्य है।"

"मुझे लगता है, वह अवश्य आयेगा।"

"मैंने सुना है कि उसका स्वभाव कुछ कठोर है। जब वह सरकारी कालेज में पढ़ रहा था, तब उसे मालूम हुआ कि यह उसकी माँ है। एक बार उसे घर भी लायी थी। इससे संपर्क बढ़ने के भय से और शायद तिरस्कारवश उसने वह कालेज ही छोड़ दिया और दूसरे

कालेज में प्रवेश ले लिया था। शायद यह आप जानते होंगे ?"

श्रोत्रियजी को आश्चर्य हुआ। चीनी के कालेज छोड़ने का कारण यह हो सकता है इसकी कल्पना भी उन्हें नहीं थी। वे बोले—"नहीं, मैं नहीं जानता था। उसने कहा था कि सरकारी कालेज में पढ़ाई ठीक नहीं होती।"

"लेकिन इसके कालेज छोड़ने का कारण दूसरा ही है। इस बीच तीन बार इसका गर्भपात हो गया। इसका यह विचार प्रबल होता रहा कि अपने पाप के कारण ही ऐसा हुआ। अंत में बेटे से भी तिरस्कृत होने के पश्चात् पूर्णतः निराश हो गयी। शायद तभी से इसकी सुप्त प्रज्ञा ने मरने का संकल्प किया है। मुझे नहीं लगता कि वह आयेगा। आप आ गये, इतना ही पर्याप्त है।" कहते समय राज की आंखों से आंसू छलक पड़े। "मुझसे आपके प्रति बड़ा अन्याय हुआ है। आप से एवं आपके व्यक्तित्व से परिचित होता तो मैं इससे विवाह ही न करता। आप मुझे क्षमा करें।" उसने झुककर उनके पैर पकड़ लिये।

"यह सब विधि का विधान है। तुम लोगों की क्या गलती है ?" उन्होंने राज को उठाया। कात्यायनी के कानों के पास झुककर राज ने जोर से दो बार कहा—"देखो, तुम्हारे ससुर श्रोत्रियजी आये हैं।" उसके चेहरे से प्रतीत हुआ कि वह समझ गयी है। आंखें खोलने की उसने कोशिश की, लेकिन पूर्णतः नहीं खुलीं। राज ने श्रोत्रियजी से कुर्सी पर बैठकर अपने पैर उसकी ओर करने को कहकर कात्यायनी को एक करवट सुलाकर उसके हाथों से चरण-स्पर्श कराया। शायद कात्यायनी समझ गयी होगी। उसकी आंखों से दो बूंद आंसू ढुलक पड़े।

टैक्सी के रुकने की आवाज आई। कमरे के बाहर खड़ी नागलक्ष्मी दौड़ती हुई द्वार के पास गयी। टैक्सी से उतर, पृथ्वी चीनी के साथ भीतर आया। पृथ्वी का अनुसरण करता हुआ चीनी सीधा कमरे में प्रविष्ट हुआ। कुर्सी पर दादा को बैठे देख उसे आश्चर्य हुआ।

"आओ बेटे, कम-से-कम अब तुम्हें अपनी मां की सेवा करनी चाहिए।" श्रोत्रियजी ने कहा। चीनी पलंग के पास खड़ा हो गया। "पलंग के किनारे बैठ जाओ और अपनी मां का हाथ पकड़ लो।" उसने

वैसा ही किया। कात्यायनी की श्वास अब ऊपर को चल रही थी। राज ने कहा, यह शायद करवट बदलने की थकावट के कारण होगा। श्रोत्रियजी ने अपनी अँगुलियों से खोलकर देखा, बायें हाथ की नाड़ी की जाँच की और बोले—"यह थकावट के कारण नहीं है, इसका अन्तिम क्षण आ गया है। किसी डॉक्टर को क्यों नहीं बुलाते?"

"डाक्टर को बुलाने से कोई लाभ नहीं। उसकी जीने की इच्छा ही नहीं है। तीन दिन पहले इसी ने डाक्टर से कह दिया था कि अब न आवें।" राज ने कहा।

"हो तो गंगाजली से गंगा-जल ले आइए। नहीं तो शुद्ध जल भी चल सकता है।" श्रोत्रियजी बोले। नागलक्ष्मी जल्दी-जल्दी चाँदी की प्याली में थोड़ा शुद्ध जल और चाँदी की गंगाजली ले आई। श्रोत्रियजी ने कहा—"चीनी, इसे अपनी माँ को पिलाओ।" चीनी की आँखें डबडबा आईं। उसके हाथ काँप रहे थे। श्रोत्रियजी ने कात्यायनी का मुख खोला। पानी कात्यायनी के मुख में चला गया।

तत्पश्चात् दस मिनट जोर-जोर से ऊर्ध्व श्वास-सी चलती रही। अनन्तर वह अवरोह गति में बदल गया। क्रमशः शान्त होती गयी। शान्त हो गयी उसकी श्वास। उसके जीवन में उत्पन्न, उसे पीड़ा के भँवर में उलझा, तड़पाता द्वन्द्व अब उसकी मृत्यु के साथ समाप्त हो गया।

राज आँसू बहाता बैठ गया। दूसरी ओर नागलक्ष्मी एक कोने में बैठ रोने लगी। उन सबको श्रोत्रियजी ने सान्त्वना दी। इस समय आगे का कार्य नहीं किया जा सकता था। सबने मानो तय कर लिया था कि सुबह तक किसी को इस सम्बन्ध में न बताया जाय। श्रोत्रियजी ने शव के हाथ-पैरों को सीधा किया। उसके पास एक दीया और एक धूप रखा। फिर राज का हाथ पकड़कर कमरे के बाहर बरामदे में आये। नागलक्ष्मी कमरे में ही चिन्तामग्न बैठी थी। पृथ्वी रो रहा था। चीनी एक जगह बैठकर गहरे विचार में डूबा था। चेहरे पर दुःख था, लेकिन रो नहीं रहा था।

राज को सांत्वना देते हुए, उसके मन को दूसरी ओर मोड़ने के लिए श्रोत्रियजी बातें करने लगे। डॉ० राव की मृत्यु के बारे में पूछने लगे। उनके ग्रंथ और द्वितीय पत्नी के बारे में भी पूछा। राज ने भाई के बारे में सब-कुछ बताया। राज ने पूछा—"आप पहले कभी नहीं आये, कहाँ जा रहे हैं?" श्रोत्रियजी ने कहा—'संन्यास ग्रहण करने के लिए हरिद्वार या बद्रीनाथ जा रहा हूँ।" राज को विश्वास न हुआ। संन्यास-धर्म के संबंध में कुछ समय तक श्रोत्रियजी बताते रहे। रात के दो बज गये थे। रुलाई का आवेग खत्म हो गया था। सब उनकी बातें सुन रहे थे। बात बढ़ाने का और कोई उपाय न पाकर उन्होंने प्रश्न किया—"आपका गाँव कौन-सा है?"

"हमारा गाँव बेल्लूरु है। लेकिन बड़े हुए कुणिगल में। वहाँ हमारे मामा का घर था।"

श्रोत्रियजी के मन में अनायास एक प्रश्न उठा—"हाँ, आपकी तरफ श्रोत्रिय वंश का कोई व्यक्ति है?"

"क्यों?"

"हमारे रिश्तेदार हैं। मेरे पिता के छोटे भाई का नाम है किट्टप्पा। नंजनगुडू से चले गये थे। अस्सी-नब्बे वर्ष पहले की बात है। उसके बाद उनका कोई पता न चला।"

'किट्टप्पा श्रोत्रिय!" कुछ याद-सा करके राज बोला—"मैंने सुना था मेरे दादा का नाम किट्टप्पा था। कहते हैं वे नंजनगुडू के थे। लेकिन पता नहीं कि वे श्रोत्रिय वंश के थे या नहीं।" इतने में कमरे के भीतर बैठी नागलक्ष्मी ने कहा—"हाँ, उन्हें किट्टप्पा श्रोत्रिय के नाम से पुकारते थे—यह बात मेरे पिताजी कह रहे थे।"

श्रोत्रियजी को आश्चर्य हुआ। उन्होंने तुरन्त पूछा—"आपका गोत्र कौन-सा है?"

"काश्यप गोत्र!"

अब उनके मन में कोई सन्देह ही न रहा। आश्चर्यचकित हो, वे बैठ गये। तब नागलक्ष्मी बोली—"किट्टप्पा श्रोत्रिय के चार बच्चे थे। द्वितीय के अतिरिक्त सब मर गये। उनके साथ मेरी मामी की शादी हुई थी। ये दोनों उन्हीं के बेटे हैं।"

श्रोत्रियजी मूकवत् बैठे रहे। उनका मन अपने एवं इस संसार के संबंध में सोचने लगा, लेकिन इस दशा में वे कुछ भी समझ नहीं पा रहे थे। अनजाने ही उनके मुख से निकल पड़ा—"बड़ी जल्दबाजी की!"

"क्यों ? क्या बात है ?" राज का प्रश्न था।

"कुछ भी नहीं !"

"कहा न आपने कि बड़ी जल्दबाजी की ?"

"वैसे ही कहा था। खैर, कहता हूँ। हमारी जो जायदाद थी वह श्रोत्रिय वंश की थी। सुनता हूँ कि मेरे पिताजी ने उन्हें धोखा देकर घर से निकाल दिया। यह बात मुझे सात-आठ महीने पहले मालूम हुई थी। तत्पश्चात् उन वंश के लोगों का पता लगाने का पूरा प्रयत्न किया। लेकिन कोई नहीं मिला। इस विचार से कि अधर्म की जायदाद से उद्धार नहीं होना, अब कोई पन्द्रह दिन पहले मैंने और मेरे पौत्र ने मिलकर उस समस्त जायदाद को दान कर दिया। अगर पहले मालूम हो जाता तो आपके नाम लिख देता।"

श्रोत्रियजी के व्यक्तित्व के बारे में राज ने अपने भाई से सुना था। स्वप्न में कात्यायनी को बोलते हुए भी सुना था। लेकिन कभी इस बात की कल्पना नहीं की थी कि इनकी धर्मनिष्ठा इस स्तर तक पहुँची हुई है। अपने सम्मुख बैठे हुए व्यक्ति को उसने एक बार आँख खोलकर देखा। अनजाने में उसे एक तरह का भय हुआ। वह चुपचाप बैठ गया।

अब कौवे बोलने लगे थे। श्रोत्रियजी ने द्वार खोला और बाहर आकाश को देखकर अंदर आये—"चार बजे का समय है। वर्षा भी रुकी हुई है। अब आगे का कार्य कीजिए। मैं चलता हूँ।"

"हमें छोड़कर जा रहे हैं ? नये संबंध की बात बतायी आपने। आप तो मेरे पिता के समान हुए।" राज ने कहा।

"हाँ, संबंध कुछ वैसा ही है। लेकिन जो सन्यास के लिए निकल पड़ा है, उसका कोई संबंध नहीं होता। इस परिस्थिति में आप लोगों को छोड़ जाने में मुझे दुःख तो होता है लेकिन निश्चय किया है कि चार दिन में हरिद्वार पहुँच जाना चाहिए।" इतना कहकर अपना पट्टा

गमछे में बाँध, बाँस में लटकाया और बाहर निकल पड़े। प्रणाम करने के लिए राज उनके निकट पहुँचा। "अब प्रणाम नहीं करना चाहिए"—कहकर नागलक्ष्मी की ओर मुड़कर "अच्छा, जाता हूँ"—कहकर चल दिये। चीनी निद्रावस्था में था। वे फाटक पार कर गये। राज द्वार के पास खड़ा उन्हीं को देख रहा था।